॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला

दशम पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

श्रीमद्भागवतानुसार उत्तरार्ध अध्याय—६४ से ७०

श्री सुबोधिन्यानुसार अध्याय—६१ से ६७

उत्तरार्ध अध्याय—१५ से २१

सात्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण अध्याय—१ से ७

मायावादि करीन्द्रदर्प दलने नास्येन्दु राजोद्गत, श्रीमद्भागवताख्य दुर्लभ सुधावर्षेण वेदोक्तिभिः।
राधावल्लभसेवया तदुचितप्रेम्णोपदेशैरपि श्रीमद्वल्लभ नामधेय सदृशोभावी न भूतोऽस्त्यपि ॥
'श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण'

सहायक ग्रन्थ—

टिप्पणी— श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण
लेख— गो० श्री वल्लभजी महाराज
प्रकाश— गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज
योजना— प० भ० श्री लालूभट्टजी
कारिकार्थ— प० भ० श्री निर्भयरामजी भट्ट

अनुवादक—
गो. वा. प. भ. पं० श्री फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री विद्याभूषण
जोधपुर (राजस्थान)

प्रति- १००० [illegible]
[illegible] ८, वि.सं. २०३०
[illegible] अगस्त, १९७३

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल
मानधना भवन, चौपासनी मार्ग,
जोधपुर (राजस्थान)

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६४वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६१वां अध्याय

उत्तरार्ध का १५वां अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

"१ला अध्याय"

नृग राजा की कथा

कारिका—राजसप्रक्रिया पूर्णा तत्त्वैरिन्द्रियशोधिका ।
निरूपिता नातियत्ना सात्त्विकी त्वधुनोच्यते ॥१॥

अध्यायैरेकविंशत्या वसुदेवमखावधि ।
चतुर्धा रूप्यते षड्भिः षड्भिः षड्भिस्त्रिभिस्तथा ॥२॥

अर्थो धर्मस्तथा कामः मोक्षश्च त्रिविधोऽन्ततः ।
प्रकीर्णकाख्यानवती प्रक्रियेयमिहोच्यते ॥३॥

नात्र क्रमविवक्षा हि नृगः पूर्वं निरूप्यते ।
गोप्यः पश्चात्ततो मिथ्यावासुदेवः प्रकीर्तितः ॥४॥

धर्मकामार्थयुक्ता हि प्रमाणेनैव पोषिताः ।
द्विविदो लक्ष्मणा चैव नारदश्च त्रयः स्मृताः ॥५॥

एतेषामर्थसिद्धिर्हि षड्विधा प्रोच्यते स्फुटैः ।
ततः साधारणो धर्मो विशिष्टः पञ्चमिस्ततः ॥६॥
यथा कामकथा षड्भिस्त्रिभिर्मोक्षस्तथोच्यते ।
अर्थोऽनर्थः सर्वथैव धर्मार्थमपि योजितः ॥७॥
तस्यापि भगवानर्थः स निरुद्धः फले परम् ।
अर्थो ब्राह्मणसम्बन्धरहितश्चेत् परः स्मृतः ॥८॥
दृष्टान्ततो निरूप्यादौ भगवानाह तत् स्फुटम् ।
उत्तरार्धे पञ्चदशे नृगमोक्षो निरूप्यते ॥९॥
शिक्षा च सात्त्विके भावे राजसा यादवा यतः ।

कारिकार्थ—तामस प्रकरण की लीलाओं के श्रवण से तामस अहंकार के कार्यभूत देह की शुद्धि होती है, इसी प्रकार राजस प्रकरण लीलाओं के श्रवण से राजस अहंकार के कार्यभूत इन्द्रियों की शुद्धि होती है, इन्द्रियों को शुद्ध करने वाली राजस लीलाएँ अट्ठाईस अध्यायों में पूर्ण की गई है । इस राजस लीला से निरोध करने में तामसों के निरोध करने में जो विशेष प्रयत्न करना पड़ा, वह न हुआ; क्योंकि तामस दृढ़ आग्रही होते हैं, राजसों में वैसा आग्रह नहीं, इसलिए विशेष प्रयत्न करने की वहाँ आवश्यकता नहीं है । सात्त्विकी लीलाओं का वर्णन अब किया जाता है, जिन लीलाओं के श्रवण से सात्त्विक अहंकार के कार्यभूत मन की शुद्धि होती है ।

सात्त्विक प्रकरण के तीन अवान्तर-प्रमेय, साधन और फल-प्रकरण ६, ६ और ६ (१८) अध्यायों से निरूपण किए हैं और तीन अध्याय धर्मी के निरूपण के हैं, इसी तरह इक्कीस अध्यायों से वसुदेव यज्ञ पर्यन्त चार प्रकारों से वर्णन है । प्रमेय, साधन और फल-प्रकरण में क्रमशः धर्म, अर्थ और काम का निरूपण है, अन्त में धर्मी प्रकरण के तीन अध्यायों में तीन प्रकार के मोक्ष का वर्णन है ।

इस प्रकरण में प्रकीर्ण आख्यानोंवाली प्रक्रिया कही गई है, यहाँ पूर्वोक्त कारिका में अध्याय विभाजक क्रम, विवक्षित नहीं है, किन्तु धर्मयुक्त नृग का चरित्र प्रथम कहा गया है । बाद में कामयुक्त गोपियों का चरित्र है । इसके अनन्तर अर्थयुक्त मिथ्या वासुदेव का आख्यान है, पश्चात् मोक्षत्रय का वर्णन किया है ।

इसी प्रकार धर्म, काम और अर्थ; ये तीन प्रमाण से ही पोषित हैं, जैसे कि नृग की शास्त्र प्रमाण में अधिक श्रद्धा थी, अतः वह प्रमाण से पोषित है। गोपियाँ वेद रूप बलदेव से रमण करने के कारण से, प्रमाण से पोषित हैं। मिथ्या वासुदेव पौंड्रक भी वेदात्मक महादेव के वर से पुष्ट होने से प्रमाण पोषित है। तीन प्रकार के मोक्ष के अधिकारियों को बताते है—(१) द्विविद वानर का 'ये च प्रलम्ब' इस श्लोक में मोक्ष कहा है, लक्ष्मण का आवेश द्वारा भी हस्तिनापुर के खेंचने से भगवान् के महात्म्य का ज्ञान हुआ है, इसका यह ही मोक्ष है। बहुत नायिकायों से रमण करने में जो संशय हुआ था, उस संशय की निवृत्तिपूर्वक जो भगवद्धर्म का ज्ञान हुआ, वह ही मोक्ष है।

इनकी अर्थ सिद्धि छः प्रकार की कही है, यहाँ कारिका में कहा हुआ क्रम ही समझना चाहिए। छः अध्यायों से अर्थ, पश्चात् छः अध्यायों से धर्म, अनन्तर एक अध्याय से साधारण काम और पाँच अध्यायों से विशिष्ट काम कहा है। बाद में तीन अध्यायों से मोक्ष का वर्णन किया है।

अर्थ, धर्म के काम में लगाया जावें तो भी अनर्थकारी है, जैसे नृग के चरित्र से जाना जाता है। अनर्थपन को प्राप्त हुए का भी अर्थ भगवान् ही है, 'चक्षुषः चक्षुः' इस प्रमाणानुसार अर्थ का भी अर्थ रूप भगवान् हैं, परन्तु फल की कामना करने पर भगवान् निरुद्ध हो जाते हैं अर्थात् फल की कामना करने से भगवान् स्वयं प्रकट न होकर अनर्थ रूप पशु पुत्र आदि देते हैं, यदि अर्थ ब्राह्मण सम्बन्ध रहित हैं तो पर है। 'आदि में अर्थात् उत्तरार्द्ध के १५वें अध्याय में भगवान् ने यह विषय नृग का दृष्टान्त देकर समझाया है और आपने नृग की मुक्ति की है। यादव राजस थे, सात्विक धर्म में निपुण नहीं थे, इसलिए उनको शिक्षा दी गई है।

—: इति कारिका सम्पूर्ण :—

आभास— अतः परं स्कन्धसमाप्तिपर्यन्तं प्रकीर्णकाः कथाः निरोधोपयोगाय निरूप्यन्ते। तत्र प्रथमं नृगमोक्षो निरूप्यते। नृगो नाम कश्चिद्राजा अर्थवान् दानधर्मपरः ब्राह्मणार्थसंसर्गादनर्थां प्राप्तः, तस्यापि भगवान् उद्धारकः, अधमभावादुद्धृत्य स्वर्गं प्रापयिष्यति, ततः स सर्वतो निरुद्धः भगवन्माहात्म्यं दृष्ट्वा विस्मृतप्रपञ्चः भगवदेकपरो भविष्यति। तदत्र भगवाननिरुद्धरूपः तमुद्धृत्य धर्मं ग्राहयामास। कथाक्रमे तु देवान्तरभक्तः

यथानर्थं प्राप्तवान्, एवं धर्मपरोऽपि नृग इति वदन् अर्थविषये धर्मतत्त्वमुच्यते । तत्र प्रथमं नृगस्य कृकलासशरीरादपगमो निरूप्यते **एकदोपवनमिति** षड्भिः ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर स्कन्ध समाप्ति तक निरोध की आवश्यकता के लिये प्रकीर्ण कथाएँ निरूपण की गई हैं । उनमें प्रथम नृग के मोक्ष का निरूपण किया जाता है, नृग नाम वाला कोई राजा धनवान् होने से दान धर्म के परायण था, ब्राह्मणार्थ संसर्ग से अनर्थ को प्राप्त हुआ उसके भी भगवान् उद्धारक हुए, उसका अधम भाव से उद्धार कर स्वर्ग की प्राप्ति कराएंगे, इस कारण से वह सर्व से निरुद्ध हो कर, भगवन्माहात्म्य देख कर, प्रपञ्च को भूल कर, केवल भगवान् के परायण होगा । सात्विक प्रकरण में भगवान् अनिरुद्ध रूप हैं, उस स्वरूप से उसका उद्धार कर धर्म को ग्रहण कराया, कथा के क्रम में तो अन्य देवता भक्त जिस प्रकार अनर्थ को प्राप्त हुआ, वैसे धर्म परायण भी नृग यों कहता हुआ अर्थ के विषय में धर्म का तत्व कहा जाता हैं, इसमें प्रथम नृग की कृकलास योनि से छूटने का 'एकदोपवनं' श्लोक से छः श्लोकों में वर्णन श्री शुकदेवजी करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**एकदोपवनं राजन् जग्मुर्यदुकुमारकाः ।**
विहर्तुं साम्बप्रद्युम्नचारुभानुगदादयः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! किसी एक दिन साम्ब, प्रद्युम्न, चारु, भानु और गद आदि यादवों के कुमार खेलने के लिए उपवन में गए ॥१॥

सुबोधिनी—स्त्रियो हि भगवन्माहात्म्यं दृष्टवत्यः, बालकास्तु न जानन्तीति तेभ्य एवानर्थ उत्पत्स्यत इति ब्राह्मणातिक्रमो न कर्तव्य इति तान् बोधयितुं तद्द्वारैव नृगमोक्षो निरूप्यते । एकदा सर्व एव बालकाः क्रीडार्थं द्वारकाया उपवनं जग्मुः । दुर्गादुत्तीर्य पुराणद्वारका उपवनत्वेन स्थिता, 'क्रीडायां गुप्तस्थान'मिति रक्षकैर्निरुद्धमप्युपवनं यदुकुमारकाः रक्षकैरनिरोध्याः जग्मुः । तत्र भगवत्पुत्राणां विशेषतो नामान्याह साम्बप्रद्युम्नेति । विहर्तुमेव गताः । साम्बोऽग्रेऽनर्थहेतुरिति स एव मुख्य उपदेष्टव्य इति प्रथमं निर्देशः । प्रद्युम्नः सर्वमान्यो महासमर्थः । तथापि नृगोद्धारे न समर्थ इति वक्तुं निरूपितः । चारुस्तेषामेव दशमः । भानुर्नाग्निजित्याः प्रथमः । गदादयो भ्रातरः ॥१॥

व्याख्यार्थ—स्त्रियों ने भगवान् का माहात्म्य देखा है, बालक उस माहात्म्य को नहीं जानते हैं, उनके लिये ही अनर्थ[1] उत्पन्न होगा, इसलिये ब्राह्मणों का अनादर नहीं करना चाहिये उनको बोध कराने के वास्ते उनके द्वारा ही नृग के मोक्ष का निरूपण किया जाता है, किसी दिन सब ही बालक खेलने के लिये द्वारका के उपवन में गये, कोट से उत्तर कर पुरानी द्वारका में उपवनपन से स्थित

१—मूसलरूप अनर्थ,

हुए, वह स्थान क्रीडा के लिये गुप्त रखा गया था इसलिये वहां कोई न जा सके तदर्थ रक्षक पहरे पर खड़े थे किन्तु यादवों के कुमारों को रक्षकों ने रोका नहीं अथवा उनसे रुके नहीं, वहां पहुँच गये, उन कुमारों में से भगवान् के पुत्रों के विशेष प्रकार से नाम कहते हैं, ये सब खेलने के लिय ही गये प्रथम साम्ब का नाम इसलिये दिया है कि, यह ही अनर्थ का कारण है, अतः यह ही मुख्यतः उपदेश देने योग्य है, प्रद्युम्न का नाम द्वितीय श्रेणी में इस कारण से दिया है कि वह सर्वमान्य और सर्व समर्थ है, तो भी नृग के उद्धार करने में असमर्थ हुआ. चारु उनमें ही दशम है, भानु नाग्नजितीका पहला है, गद आदि भ्राता हैं ।।१।।

आभास—क्रीडां प्रस्तावनार्थमुक्त्वा प्रासङ्गिकमाह क्रीडित्वेति ।

आभासार्थ—प्रारम्भ के लिये क्रीड़ा कह कर अब 'क्रीडित्वा' श्लोक से प्रासङ्गिक कहते है ।

श्लोक—क्रीडित्वा सुचिरं तत्र विचिन्वन्तः पिपासिताः ।
जलं निरुदके कूपे ददृशुः सत्त्वमद्भुतम् ।।२।।

श्लोकार्थ—वहां अच्छी तरह खूब खेलकर प्यासे हुए, जिससे प्यास मिटाने के लिए जल ढूँढ़ने लगे, ढूँढ़ते-२ दूर से एक कूप देखा, वहां जाकर देखा तो जल नहीं था, किन्तु उसमें एक अद्भुत सत्त्व[1] पड़ा था ।।२।।

सुबोधिनी—समुद्रतीरस्थाने मिष्टं जलं दुर्लभमिति जलान्वेषणार्थं प्रवृत्ताः, कूपास्तत्र सम्भवन्तीति । ते हि बालका अनभिज्ञाः अभिज्ञाश्च प्रवेशं न लभन्त इति जलं विचिन्वन्तः कूपे अद्भुतं विचित्रं सत्त्वं ददृशुः । सर्वलोकविलक्षणत्वादद्भुतं तं वर्णयति । अनेन भगवदीयानां क्रीडास्थाने पूर्वकृतो धर्मः साधनतामापन्न इति निरूपितम् । सर्वस्यापि धर्मस्यैतावन्मात्रे उपक्षयात् ।।२।।

व्याख्यार्थ—समुद्र के किनारे पर मीठा जल दुर्लभ है इसलिये जल ढूंढ़ने लगे किनारे पर कूप होते हैं, उन बालकों में जानकार और वे समझ भी थे, कहां जल है यह प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिये ढूंढ़ने लगे । एक कूप देखा जिसमें जल तो था नहीं, किन्तु एक अजीब प्राणी पड़ा था, वह प्राणी लोक में जो प्राणी होते हैं उनसे विलक्षण था इसलिये उसको अद्भुत कहा है, इससे यह जताया, कि भगवदीयों के क्रीड़ा स्थान में, पूर्व कृत धर्म साधनता को प्राप्त हुवा है, सर्व अधर्म का केवल इतने में ही नाश होने से ।।२।।

श्लोक—कृकलासं गिरिनिभं वीक्ष्य विस्मितमानसाः ।
तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुस्ते कृपयान्विताः ।।३।।

१—जन्तु

श्लोकार्थ—उन यदु कुमारों ने कूप में पर्वत समान एक गिरगिट को देखा, जिससे वे अचंभे में पड़ गए और उनकी उस पर दया उत्पन्न हुई, अतः उसके निकालने का वे यत्न करने लगे ॥३॥

सुबोधिनी—कृकलासमिति जातिविशेषः। स भवति प्रायेण सूक्ष्मः। गिरिनिभत्वं तस्याश्चर्यकरम्। ततस्तान् दृष्ट्वा समारोढुमियेष, न तु शक्तः, अर्धस्थाने समागत्य पुनः पुनः पतति। ततस्तददृष्टवशात् हन्तव्येऽपि शरीरे दयोत्पन्नेति तेषामुद्धारार्थं प्रयत्नमाह तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुरिति। चोऽप्यर्थे। वस्तुतस्तु हन्तव्य एव। 'अपि कृकलास'मित्यत्र श्रुतौ तथा निरूपणात्। ततो हस्तात्पतितं तं बहव एव वाधस्तादुत्तीर्य कृपया पीडिताः ॥३॥

व्याख्यार्थ—गिरगिट बहुत करके सूक्ष्म होता है, वह यहां पर्वत सदृश होने से अचंभा उत्पन्न करने वाला हुआ, पश्चात् उसका बाहर निकालने के लिये ऊपर खीचने लगे किन्तु निकाल न सके, आधे में आकर फिर गिर पड़ता था, प्रारब्धवश मृत शरीर में दया उत्पन्न हो गई, इसलिये उसको बाहर निकालने का भी यत्न करने लगे 'च' शब्द का यह 'भी' अर्थ है; वास्तविक तो वह मारने योग्य ही है क्योंकि 'अपि कृकलास' इस श्रुति में यह आज्ञा है, पश्चात् कितनेक दया युक्त हो उसको निकालने के लिये नीचे से ऊपर कर ॥३॥

श्लोक—चर्मजैस्तान्तवैः पाशैर्बद्ध्वा पतितमर्भकाः।
नाशक्नुवन्समुद्धर्तुं कृष्णायाचख्युरुत्सुकाः ॥४॥

श्लोकार्थ—उन बालकों ने उस गिरे हुए को ऊपर कर, चर्म पर उसको लिटाकर और चारों ओर चर्म के तन्तुओं से बनी पाशों से बाँध के निकालने के लिए प्रयत्न किया, किन्तु निकाल न सके, तब उत्सुक हो श्रीकृष्ण को कहने लगे ॥४॥

सुबोधिनी—चर्मभिः चर्मोपरि तं पातयित्वा परितस्तान्तवपाशान् बद्ध्वा सर्वतः स्थिताः तदुद्धारे यत्नं कृतवन्तः। तथापि समुद्धर्तुं नाशक्नुवन्, अलौकिकत्वात्। **अलौकिके भगवानेव साधनमिति** मत्वा कृष्णायाचख्युः। यद्यपि विशेषसाधनैरुद्धर्तव्यो भवति, तथापि उत्सुकाः सन्तः कृष्णायैवाचख्युः। **औत्सुक्यं चित्तोल्लासो विवेकासहिष्णुः ॥४॥**

व्याख्यार्थ—चर्म पर उसको गिरा कर चारों तरफ चर्म के तन्तुओं से बनी हुई पाशों से उसको बान्ध कर चारों तरफ स्थित हो के उसको निकालने का प्रयत्न करने लगे, तो भी निकाल न सके, क्योंकि अलौकिक कार्य था, अलौकिक कर्म करने में भगवान् ही साधन हैं, यों समझ कर श्रीकृष्ण को प्रार्थना करने लगे, यद्यपि विशेष साधनों से निकल सकता था तो भी शीघ्र निकले ऐसी उत्सुकता के कारण श्रीकृष्ण को ही कहने लगे—उत्सुकता का तात्पर्य है, चित्त का उल्लास वह वस्तु है जिसमें विवेक सहा नहीं जाता है अर्थात् बिना विचार किए वह कार्य उसी समय कर लिया जाता है ॥४॥

आभास—तदा भगवान् योनित एव तदुद्धारं कृतवानित्याह तत्र गत्वेति ।

आभासार्थ- तब भगवान् ने उसका उस योनि से ही उद्धार किया, यह 'तत्र गत्वा' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**तत्र गत्वारविन्दाक्षो भगवान्विश्वभावनः ।
वीक्ष्योज्जहार वामेन तं करेण स लीलया ।।५।।**

श्लोकार्थ—कमल नयन, विश्व के उद्धारक भगवान् ने वहाँ जाकर, उसको देख, लीला से वाम हस्त से उसका उद्धार किया ।।५।।

सुबोधिनी—दृष्ट्यैव सर्वतापहारकः भगवान् सर्वसमर्थः विश्वमेवानुभावयतीति उद्धारकरूपमवलम्ब्यागत इति तदुद्धारोऽपि तस्य युक्त एव । उद्धारमाह वीक्ष्योज्जहारेति । ज्ञात्वास्य कर्मभोगक्षयो जात इति । वामेन करेणेति । लीलां सामर्थ्यातिशयं च ज्ञापयितुम् । वामो हस्तः दैत्यहितकारी, दक्षिणो देवानामिति देवपक्षपातिना तदुद्धाराभावः सूचितः । लीलयेति । स्वस्य कारणाभावादपि यथा अन्या लीला कदाचिद्धर्ममपि बाधते ।।५।।

व्याख्यार्थ—दृष्टि से ही सर्व के ताप हरने वाले, सर्व समर्थ भगवान् उद्धारक स्वरूप का अवलम्बन कर वहां पधारे, उसका उद्धार करना भी आपको उचित ही था, अब उद्धार का प्रकार कहते है, इसके कर्म भोग का क्षय हो गया है यह जान कर, लीला पद से सामर्थ्य की अधिकता जताई है, वाम हस्त दैत्यों का हितकारी है, दक्षिण हस्त देवों का कल्याण करने वाला है, इसलिये दक्षिण कर से इसका उद्धार नहीं किया है, वह लीला से अर्थात् अपनी अतिशय सामर्थ्य से किया है, अपने से उद्धार करने का कोई कारण नहीं था तो भी जैसे दूसरी लीलाएं कभी धर्म का भी बाध करती हैं, वैसे इस लीला ने भी किया है ।

आभास—ततो यज्जातं तदाह स उत्तमश्लोकेति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ वह 'स उत्तम' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**स उत्तमश्लोककराभिमृष्टो विहाय सद्यः कृकलासरूपम् ।
संतप्तचामीकरचारुवर्णः स्वर्ग्यद्भुतालंकरणाम्बरस्रक् ।।६।।**

श्लोकार्थ—उत्तम श्लोक भगवान् के हस्त के स्पर्श होते ही उसका शीघ्र ही गिरगिट का रूप निवृत्त हो गया और तपे हुए वर्ण के समान सुन्दर वर्ण वाला, अद्भुत अलङ्कार, वस्त्र तथा माला धारण किया हुआ देव स्वरूप हो गया ।।६।।

सुबोधिनी—करेणाभिमृष्टः भगवत्स्पर्शेन कारणदोषे निवृत्ते उपष्टम्भकाभावात् (तत्) शरीरे पतिते स्वर्गोपभोगयोग्यं शरीरं प्राप्तवानिति तद्वर्णयति संतप्त ेति । आवर्त्यमानसुवर्णवर्णः । स्वर्गि स्वर्गसम्बन्धि स्वर्गोऽस्यास्तीति । स्वर्गिणामपि वा अद्भुतानि अलङ्करणान्यम्बराणि स्रजश्च यस्मिन् । तादृशो जात इत्यर्थात् बभूवेति । अस्तिभवत्योः सर्वत्र प्रयोगात् ॥६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के हस्त स्पर्श से गिरगिट योनि के जो कारण दोष थे वे निवृत्त हो गये और उस देह को रोक रखने वाला दूसरा कोई नहीं था, इसलिये वह शरीर निवृत्त हो गया और भगवान् के स्पर्श रूप कारण से स्वर्ग का उपभोग करने योग्य शरीर प्राप्त किया, जिसका वर्णन 'सन्तप्त' श्लोकार्द्ध से करते है, चमकते हुए सोने के समान वर्ण वाला स्वर्ग में रहने वालों को भी अद्भुत देखने में आवे वैसे अद्भुत अलङ्कार, वस्त्र और मालाओं से सुसज्जित शरीरधारी हो गया, अस्ति और भवति का सर्वत्र प्रयोग करने से । ६॥

आभास—ततो निर्धार्य स्वरूपं ज्ञापयित्वा प्रेषणीय इति स्वतः कथने विश्वासो न जायेतेति तद्द्वारैव वक्तुं तद्वृत्तान्तं पप्रच्छ ।

आभासार्थ—वह कौन है ? यह निर्धार कर और उसके स्वरूप का सबको ज्ञान कराके पश्चात् भेजना चाहिये, अपने कहने पर कदाचित् विश्वास न हो, इसलिये उसके द्वारा ही कहलाते हैं ।

श्लोक—पप्रच्छ विद्वानपि तन्निदानं जनेषु विख्यापयितुं मुकुन्दः ।
कस्त्वं महाभाग वरेण्यरूपो देवोत्तम त्वां गणयामि नूनम् ॥७॥

श्लोकार्थ—मुक्तिदाता भगवान् उसका कारण जानते हुए भी मनुष्यों में प्रसिद्ध करने के लिए पूछने लगे—हे महाभाग ! ऐसे सुन्दर रूपवाले आप कौन हैं ? मैं निश्चय से आपको देवों में उत्तम देव गिनता हूँ ॥७॥

सुबोधिनी—ज्ञात्वा प्रश्नो न कर्तव्य इति सर्वेषां सामान्यनिरोधं कर्तुं अयुक्तमपि करोतीति विद्वानपीत्युक्तवान् । विधिरत्र प्रमेये न नियामक इति न भगवतो विहितं निषिद्धं वा किञ्चिदस्ति । वचनस्यापि प्रयोजनमाह जनेषु विख्यापयितुमिति । तस्य दानं लोके विख्यापनीयम्, अन्यथा 'धर्मः क्षरति कीर्तना'दिति तस्य धर्मक्षयो भवेत् । भगवता पृष्टेन तु वक्तव्यमेव । नन्वेतदपि किमर्थमिति चेत्, तत्राह मुकुन्द इति । अग्रे मोक्षो देयः, स च कीर्तिमत एव भवतीति कीर्तिख्यापनार्थं निरोधार्थं वा । अतिकृतिमानन्यत्र न प्रवर्तत इति निरोधानन्तरमेव मुक्तिलीलेति । प्रश्नमाह कस्त्वं महाभागेति । भाग्यं धर्मस्योत्तमं तेजः तदुपकरोति सर्वत्र, महद्भाग्यं यस्येति । महाभागेति सम्बोधनमकस्मादेवंभावे तव सुकृतमस्तीति ज्ञापितम् । वरेण्यरूप इति । सहजमेतन्न रूपम्, अत एवं ज्ञायते किञ्चिदुत्कृष्टं कर्मास्तीति, अन्यथा अपृष्टं स्वधर्मं कथं वदेत्, कथिते स्वर्गो न भविष्यतीति तच्छङ्कां निवारयितुमाह देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनमिति । देवेषु स्वर्गः प्रतिष्ठितः, तत्राप्युत्तमेषु, तत्राप्यहं गणयामि, नहि मद्गणितं कश्चिदन्यथा कुर्यात् ॥७॥

व्याख्यार्थ—'विद्वान्' जानकार पद भी कहा, जिसका आशय प्रकट करते हैं जिस विषय का ज्ञान हो उस विषय का प्रश्न नहीं करना चाहिये फिर भी भगवान् ने जानते हुए भी जो प्रश्न किया उसका कारण यह है कि भगवान् को इस लीला से सर्व का सामान्य निरोध करना था, अतः उचित न होने पर भी प्रश्न किया है और प्रमेय मार्ग में विधि नियामक नहीं होती है. इसलिये भगवान् जो करते हैं उसमें कोई विधि आदि निषेध नहीं कर सकता है इस प्रकार पूछने का प्रयोजन कहते हैं कि मनुष्यों में प्रसिद्ध करने के लिये यह प्रश्न है, उसने इतना विशेष दान किया है जिसकी लोक में प्रसिद्धि होनी चाहिये, भगवान् नहीं पूछते तो वह नहीं कहता क्योंकि 'धर्मः क्षरति कीर्त्तनात्' प्रसिद्ध करने से अर्थात् मैंने इतना धर्म किया है, यों कहने से किया हुआ धर्म नष्ट हो जाता है, किन्तु भगवान् ने पूछा है इसलिये उनकी आज्ञा पालनार्थ कहना ही चाहिये, यों भी क्यों कहना चाहिये ? इस पर कहते हैं कि आप ही तो मुक्ति देने वाले हैं, आगे मोक्ष देने योग्य हैं और वह कीर्तिमान् को ही होता है, इसलिये यश प्रकट करने के लिये अथवा निरोध के लिये पूछा है, अति कीर्त्तिवाला अन्यत्र प्रवृत्त नहीं होता है इसलिये निरोध के अनन्तर ही मुक्ति लीला होगी, यों अब प्रश्न कहते हैं, 'कस्त्वं महाभाग:' धर्म का उत्तम तेज भाग्य है वह सर्वत्र उपकार करता है, जिस आपका बड़ा भाग्य है, महाभाग यह सम्बोधन इस प्रकार के भाव में अचानक तेरा सुकृत हुवा है यह जताने के लिये दिया है, आपका यह रूप वरण करने योग्य है अर्थात् सुन्दरतम है, ऐसा रूप सहज नहीं होता है इससे जाना जाता है कि आपने कोई विशेष उत्तम कर्म किया है ? बिना पूछे अपना किया हुआ धर्म कर्म कैसे कहे ? कहने पर धर्म के फलरूप स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिये भगवान् ने कहा है कि 'देवोत्तमं त्वं गणयामि' तुझे निश्चय से देवों में उत्तम गिनता हूँ, देवों के लिये स्वर्ग ही है, उनमें भी तुझे मैं उत्तम देवों में गिनता हूँ मेरे गिनने को कोई अन्यथा नहीं कर सकता है ।।७।।

आभास—दोषोऽपि वक्तव्य इत्याह दशामिमां वेति ।

आभासार्थ—'दशामिमां वा' इस श्लोक से पूछते हैं कि इस दशा (गिरगट योनि) को प्राप्त कराने वाला दोष भी बताना ।

श्लोक—दशामिमां वा कतमेन कर्मणा संप्रापितो ह्यतदर्हः सुभद्र ।
आत्मानमाख्याहि विवित्सतां नो यन्मन्यसे चेत् क्षममत्र वक्तुम् ।।८।।

श्लोकार्थ—हे सुभद्र ! तुम इस दशा के योग्य नहीं हो, फिर भी इस दशा को प्राप्त हुए, तो वैसा कौनसा कर्म तुमने किया ? यदि बता सकते हो, तो बताईये ।८।

सुबोधिनी—उत्तमस्य अपकृष्टं कर्म न सम्भवति । येन कृकलासरूपं भवेत् । अत उत्कृष्टमेव कर्म प्रकारविशेषापन्नं सत्कर्मैव किञ्चिद्विषयीति तं प्रकारं श्रोतुं प्रश्नः कतमेनेति । सम्यक् प्रापणं बहुकालस्थानं तत्र सूचयति । ननु जायन्ते निकृष्टेष्वप्युत्कृष्टसुखजनकानि कर्माणि, उत्कृष्टेष्वपि निकृष्टभावजनकानि । तस्मात् प्रश्नो व्यर्थ इत्याशङ्क्याह अतदर्ह इति । देवगत्योत्कृष्टत्वमिति चेत्, तत्राह सुभद्रेति । सुभद्रस्य भद्रं स्वाभाविकम्, अभद्रमेव वशेषिकमिति । किञ्च ।

आत्मानं पूर्वसिद्धमाख्याहि। विवित्सतामिति। त्वन्मुखतो वेदितुमिच्छास्माकम्. नतु स्वतः। लौकिकन्यायेन माहात्म्यज्ञानाभावे सङ्कोचःन्न वदिष्यतीत्याह यन्मन्यसे नः क्षममत्र वक्तुमिति। नोऽस्माकं श्रोतुं क्षमं मन्यसे। क्षमत्वेऽपि अत्र वक्तुं चेन्मन्यसे, पश्चानामग्रे तदा वक्तव्यमिति भावः ॥८॥

व्याख्यार्थ—उत्तम पुरुष से ऐसा नीच कर्म नहीं होता है, जिससे गिरगिट योनि की प्राप्ति हो, अतः उत्तम कर्म ही विशेष प्रकार को प्राप्त होकर वंसे फल का दाता बना होगा, इसलिये उस प्रकार को सुनने के लिये प्रश्न किया है कि 'कतमेन' कौन से कर्म, कारण हुए हैं? जो, बहुत समय तक इस योनि में आप रहे हैं, निश्चय से यों भी कदाचित् हो जाता है कि निकृष्टों से भी उत्कृष्ट सुख देने वाले कर्म हो जाते हैं और उत्कृष्टों से निकृष्ट भावों को उत्पन्न करने वाले कर्म बन जाते हैं यदि यों हो गया हो तो प्रश्न ही व्यर्थ है। इस शङ्का के उत्तर में कहा है कि 'अतदर्ह.' उत्तम से अपकृष्ट कर्म हो नहीं सकता है, यदि कहो कि दैव गति से उत्कृष्टत्व है तो इस शङ्का को मिटाने के लिए 'सुभद्रः' सम्बोधन दिया है, जो सुभद्र है उसके कर्म स्वभाविक भद्र ही होते हैं विशेष अवस्था में अभद्र हो जाता है, पूर्व सिद्ध अपना कर्म बताईये, हमको वह आपके मुख से सुनने की इच्छा है. न कि स्वतः जान लेने की इच्छा है, हम उस कर्म को सुनने के योग्य है यों मानते हो तो और सबके आगे सुना सकते हो तो कहिये, इस प्रकार भगवान् ने कहा जिसका आशय यह है कि यदि भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान न होगा तो लौकिक न्याय[1] से सङ्कोच कर कहेगा नहीं और जो माहात्म्य ज्ञान होने पर भगवान् के समीप दास को सङ्कोच नहीं होता है इसलिये कहना ही चाहिये अतः कहेगा ही ॥८॥

आभास—ज्ञात्वा भगवत्स्वरूपं पुण्यवशेन लोकभाषापि बुद्धेति भगवदाज्ञां कर्तुं स्ववृत्तान्तमुक्तवानित्याह इतीति।

आभासार्थ—पुण्यों के कारण भगवत्स्वरूप जाना और भगवान् ने जो लोक भाषा में प्रश्न किया वह भी समझ लिया, इसलिये भगवदाज्ञा पालने के लिये 'इति स्म' श्लोक से अपना जो वृत्तान्त कहा उसका वर्णन श्री शुकदेवजी करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इति स्म राजा संपृष्टः कृष्णेनानन्तमूर्तिना।
माधवं प्रणिपत्याह किरीटेनार्कवर्चसा ॥९॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि अनन्तमूर्ति श्रीकृष्ण ने इस प्रकार जब

१—आयुर्वित्तं गृह छिद्रं मन्त्र मैथुन भेषजम्, तपो दानापमानंच नव गोप्यानि यत्नतः। लौकिक न्याय यह है कि ये नव १-आयु, २-धन, ३-गृह का छिद्र, ४-मन्त्र, ५-मैथुन, ६-औषध, ७-तपस्या, ८-दान और ९-अपमान ये नव किसी को भी बताने नहीं-यत्न पूर्वक छिपाने योग्य है।

प्रश्न किया, तब सूर्य सम चमकने वाले मुकुट से माधव (अनिरुद्ध मूर्ति) को प्रणाम कर उत्तर देने लगा ॥६॥

सुबोधिनी - स्मेति प्रसिद्धे । प्रश्नः क्लिष्टं कर्म भवतीति स्वदोषनिवृत्त्यर्थं प्रसिद्धिः प्रमाणत्वेनोक्ता । परीक्षितोऽपि शङ्कां व्यावर्तयितुं राजेति । कृष्णेन सदानन्देन सम्भाषणेनापि सुखं भवतीति । भक्तिहितेन वा । अनन्तमूर्तिनेति । अनन्ता मूर्तयो यस्येति । तस्य न सर्वात्मना स्वरूपं प्रकाशितम् । तस्य तावन्मात्रेणैवाभिव्यक्तः । अथवा । पूर्वप्रकरणयोरन्या मूर्तिः, अस्मिन्प्रकरणे चान्या मूर्तिरिति ज्ञापयितुमनन्तमूर्तित्वम् । ततो भगवन्तं दृष्ट्वा,श्रीनिकेतत्वात् भगवानेवेति विज्ञाय, माधवं प्रणिपत्य, अर्कवर्चसा किरीटेनोपलक्षितः भगवतोऽपि चरणारविन्दं प्रबोधयन्, भक्तांश्चोद्दीपयन् महानप्येवं जायत इति ब्राह्मणातिक्रमाभावाय ॥६॥

व्याख्यार्थ—'स्म' प्रसिद्धि अर्थ में दिया है, प्रश्न क्लिष्ट कर्म होता है इसलिये अपने दोष निवृत्ति के लिये प्रसिद्धि, प्रमाणपन से कही है. परीक्षा किये हुए की भी' शङ्का मिटाने के लिये 'राजा' कहा है, श्रीकृष्ण सदानन्द स्वरूप है, जिनके सम्भाषण से भी सुख प्राप्त होता है, अथवा 'कृष्णेन' नाम से यह भी बताया है कि भक्तों के हितकारी है, 'अनन्तमूर्त्तिना' विशेषण से बताया है कि आपकी अनन्त मूर्तियां है, उनका सर्वात्मभाव से स्वरूप प्रकाशित नहीं हुआ है, उसके आगे उतने ही प्रकट हुवे हैं, अथवा अनन्त मूर्त्ति कहने का यह आशय है कि पहले तामस और राजस प्रकरणों में दूसरी मूर्ति थी, अब इस प्रकारण में दूसरी मूर्ति है, पश्चात् भगवान् को देख कर, श्री के निवास स्थान होने से भगवान् ही है, यों जानकर सूर्य सम तेज वाले मुकुट से माधव को प्रणाम किया, ऐसे मुकुट से अपनी भी पहचान दी. तथा भगवान् के चरणारविन्द को भी जताया एवं भक्तों को प्रकाशित करने लगे, ब्राह्मणों के अतिक्रम के अभाव से महान् पुरुष भी इस प्रकार होते हैं ॥६॥

आभास—स्ववृत्तान्तमाह नृगो नामेति षोडशभिः ।

आभासार्थ—'नृगो नाम' इस श्लोक से लेकर १६ श्लोको में अपना वृत्तान्त कहता है ।

श्लोक—नृग उवाच-नृगो नाम नरेन्द्रोऽहमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो ।
दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! इक्ष्वाकु का पुत्र नृग नाम राजा मैं हूँ, दान करने वालों के नाम सुनते समय मेरे नाम ने भी आपके कान का स्पर्श किया होगा? ॥१०॥

सुबोधिनी—नृगः पूर्वमपि प्रसिद्ध इक्ष्वाकोस्तनयः । शतमध्ये विकुक्षिनिमिदण्डकानन्तरमयमेव प्रसिद्धः । प्रभो इति सम्बोधनं प्रभुस्थाने मिथ्याभाषणाभावं ज्ञापयति । ननु का प्रसिद्धिः, येन त्वं ज्ञायस इत्याशङ्क्याह दानिष्वाख्यायमानेष्विति । दानिनो दानकर्तारः, नतु दातारः उदाराः । दानी विध्यपेक्षः, दाता तु निरपेक्ष इति । यदि ते कर्णमस्पृशम्, तदाहं प्रसिद्धः । राजेति, नृग इति, दानीति च त्रीन् कीर्तिद्वारा गच्छतीति ॥१०॥

व्याख्यार्थ—इक्ष्वाकु का पुत्र नृग पहले भी प्रसिद्ध है. सौ के मध्य में, विकुक्षि, निमि और दण्डक के बाद यह ही प्रसिद्ध है, 'प्रभो' संबोधन इसलिये दिया है कि प्रभु के स्थान पर वा सामने मिथ्या भाषण नहीं किया जा सकता है, कौनसी प्रसिद्धि है ? जिससे तू जाना जा सका है, यदि यह शङ्का हो तो उसके मिटाने के लिये कहता है कि दान करने वालों के नामों में मेरे नाम ने यदि आपके कर्ण को स्पर्श किया हो तो मैं प्रसिद्ध हूँ.'दानी' दान करने वाला भी होता है और 'दाता' उदार होता है, दोनों में भेद यह है कि 'दान' करने वाला शास्त्र की विधि की अपेक्षा रखता है अर्थात् शास्त्र की विधि के अनुसार देता है, और 'दाता' विधि की परवाह नहीं करता है, राजा नृग दानी हैं, जिस दान से कीर्त्ति द्वारा मनुष्य आदि में प्रसिद्धि वाला हुआ है ॥१०॥

आभास—श्रवणानन्तरं ज्ञानं प्रसिद्धिहेतुत्वेन साधारणं निरूप्य, असाधारणप्रकारेण ज्ञानमाह किं नु तेऽविदितं नाथेति ।

आभासार्थ—प्रश्न श्रवण के अनन्तर विचारा कि उत्तर देने से प्रसिद्धि होगी, इसलिये साधारण ज्ञान का वर्णन कर, अब 'किं नु तेऽविदितं' श्लोक में असाधारण प्रकार से ज्ञान कहते हैं ।

श्लोक—किं नु तेऽविदितं नाथ सर्वभूतात्मसाक्षिणः ।
कालेनाव्याहतदृशो वक्ष्येऽथापि तवाज्ञया ॥११॥

श्लोकार्थ—हे नाथ ! सर्वभूतों के अन्तःकरण के साक्षी आपसे क्या गुप्त है ? अर्थात् आप सर्व जानते ही हो, कारण कि काल आपकी दृष्टि का प्रतिबन्ध नहीं कर सकता है, तो भी आपकी आज्ञा से उत्तर दूँगा ॥११॥

सुबोधिनी—हे नाथ, अनेनोद्धारः त्वावश्यक एवेत्युक्तम् । नु इति वितर्के । किं वा ते अविदितम्, किन्तु सर्वमेव विदितमिति । तत्र हेतुः, सर्वभूतानां अन्तःकरणसाक्षिणः । ननु कालव्यवधाने जीवोऽपि स्वानुभूतं विस्मरति, तथा भगवतोऽपीति कथं तत् ज्ञानमिति चेत्,तत्राह कालेनाव्याहतदृश इति । तस्मात् ज्ञानार्थं प्रतिज्ञापनप्रयोजनाभावात् न वक्तव्यम्, तथापि तवाज्ञया वक्ष्ये, अन्यथा आज्ञोल्लङ्घनं स्यादिति ॥११॥

व्याख्यार्थ – हे नाथ ! इस संबोधन से यह आशय प्रकट किया है कि, आप स्वामी हैं, इसलिये आपको मेरा उद्धार अवश्य करना है, 'नु' पद विशेष तर्क में है, क्या आपको विदित नहीं है ? अर्थात् आप सब जानते हैं,मैं सब कैसे जानता हूँ? जिसके उत्तर में कहता है कि आप सर्व जीवों के अन्तःकरण के साक्षी हैं काल बीच में प्रतिबन्धक होने से जीव भी अपने अनुभव को भूल जाता है वैसे भगवान् को भी, इसलिये उनको वह ज्ञान कैसे रहेगा, यदि यों कहते हो तो कहता है कि, आपकी दृष्टि को काल ने प्रतिबन्ध नहीं किया है, इसमें आपको सर्व ज्ञान है जिस कारण से आपको बताने का कोई प्रयोजन नहीं है, तो भी आपकी आज्ञा है इसलिये कहता हूँ, न कहने से आज्ञा का उल्लङ्घन होगा ।११।

आभास—आदौ स्वस्य दानित्वमाह यावत्य: सिकता भूमेरिति ।

आभासार्थ—आदि[1] में 'यावत्य: सिकता:' श्लोक से अपना दानीपन कहता है।

श्लोक—यावत्य: सिकता भूमेर्यावत्यो दिवि तारका: ।
यावत्यो वर्षधाराश्च तावतीरददं स्म गा: ॥१२॥

श्लोकार्थ—जितने पृथ्वी के रज: कण हैं तथा जितने आकाश में तारे हैं और जितनी वर्षा की धाराएँ हैं, मैंने उतनी गौ दान में दी हैं ॥१२॥

सुबोधिनी—रेणवस्तामसा:, तारका: सात्त्विका:, वर्षधारा राजसा: दृष्टान्तीकृता:, असङ्ख्यातास्तिस्रोऽपि । त्रिविधा अपि गाव: असङ्ख्याता दत्ता इति । अहमददम् । स्मेति प्रमाणम् । तुल्यसङ्ख्यात्वे विवक्षिते तामेव सङ्ख्यां वदेत्, परार्धातिरिक्ता सङ्ख्यापि नास्ति । तस्मादसङ्ख्यातदाने त्रिविधदाने च दृष्टान्ता: । त्रिविधदाने प्रयोजनं चोक्तम् । भूमिसिकता उपादानभूता:, तारका: प्रकाशका:, वर्षधारा: पोषिका इति । असङ्ख्यातपदे प्रयुज्यमाने अल्पप्रतीति: स्यात्, तत एवमुक्तम् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—रज: कण तामस हैं, तारे सात्विक्क हैं, वर्षा की धाराएँ राजस हैं, इन दृष्टान्तों से यह जताया है कि जैसे ये, तीन असङ्ख्य हैं, वैसे ही मैंने जो गो दी हैं वे भी तीन प्रकार की और अगणित थी, यदि सङ्ख्या की समानता होवे तो उस सङ्ख्या को कहे परार्ध से अतिरिक्त कोई सङ्ख्या भी नहीं है, इस कारण से अगणित तथा तीन प्रकार के गौओं के दान करने में ये तीन दृष्टान्त दिये हैं और निबन्ध में त्रिविध दान का प्रयोजन भी कहा[2] है पृथ्वी के रज: कण उपादान भूत हैं, तारे प्रकाशक हैं, वर्षा की धाराएँ पोषिका हैं, असङ्ख्यात पद श्लोक में नहीं जोड़ा है, जिसका कारण यह है कि उस पद के जोड़ने से अल्प की प्रतीति हो जाती, इसलिये असङ्ख्यात आदि पद न देकर यों ही कह दिया है ॥१२॥

आभास—गवां गुणानाह पयस्विनीरिति ।

आभासार्थ—'पयस्विनी' श्लोक से गौओं के गुण कहते हैं।

श्लोक—पयस्विनीस्तरुणी: शीलरूपगुणोपपन्ना: कपिला हेमशृङ्गी: ।
न्यायार्जिता रूप्यखुरा: सवत्सा दुकूलमालाभरणा ददावहम् ॥१३॥

१—दोषों के कहने से प्रथम

२—सत्वादिगुण वाला दान दोष वाला है और निर्गुण दान दोष रहित कहा है

श्लोकार्थ—अधिक दूध वाली; प्रथम ही प्रसूत हुई, शान्त स्वभाव वाली, सुन्दर, गुणों वाली, कपिलाएँ, सुवर्ण के शृङ्गों वाली, न्याय से इकट्ठी की हुई, चाँदी के खुरों सहित, बछड़ों वाली, वस्त्र युक्त, माला युक्त और आभूषण युक्त, इस प्रकार १३ गुणों वाली गौ दान में दी हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—दुग्धाधिक्ययुक्ताः। तरुण्यः प्रथमप्रसूताः। शीलममारणादिशान्तस्वभावः। रूपं सौन्दर्यम्। एतैर्गुणैरुपपन्नाः। अथवा। गुणाः सत्पुत्राः। दुग्धे घृताधिक्यमारोग्यजनकत्वं च गुणाः। प्रायेण बह्वचः कपिलाः। दाने कपिला विशिष्टेति। हेमशृङ्गीः सुवर्णशृङ्गयुक्ताः। न्यायार्जिताः, नत्वतिक्रमेण प्राप्ताः। रूप्यखुराः सवत्सा इति विधिप्राशस्त्यार्थमुक्तम्। तेन विहिता एव दत्ताः, नत्वविहिताः, नाप्यविहितप्रकारेण। दुकूलानां माला यासु। दुकूले मालाः आभरणानि च वा। एवं त्रयोदशगुणाः कथिताः ॥१३॥

आभासार्थ - वे गौ दी, जिनमें अधिक दूध था, जिन्होंने पहले ही बच्चा जना था, किस को भी मारना नहीं इस प्रकार शान्त स्वभाव वाली जो गौ थी, जो रूप से सुन्दर थीं, इन गुणों से युक्त, अथवा 'गुण' का तात्पर्य 'सत्पुत्र' है, दूध भी वह था जिससे घृत विशेष निकलता था, यह आरोग्य उत्पन्न करने वाला गुण है, बहुत करके कपिला धेनु विशेष थी, क्योंकि दान में कपिला गौओं की विशेषता है, वे सब सोने के शृङ्ग और चांदी के खुर तथा वत्स सहित थीं, एवं न्याय से इकट्ठी की हुई थीं, न कि अन्याय से लाई गई थी, दुपट्टों, माला तथा आभरणों से सुसज्जित करके दी थीं, इस प्रकार तेरह गुण कह सुनाये ॥१३॥

आभास—पात्राभावे सर्वं व्यर्थमिति पात्रधर्मानाह स्वलङ्कृतेभ्य इति।

आभासार्थ—यदि जिनको दान दिया जावे वे सुपात्र नहीं हो तो दान व्यर्थ ही है, इसलिये 'स्वलङ्कृतेभ्यो' श्लोक में सुपात्रों के धर्म कहते हैं।

श्लोक—स्वलङ्कृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः सीदत्कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः।
तपःश्रुतब्रह्मवदान्यसद्भ्यः प्रादां युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्यः ॥१४॥

श्लोकार्थ—जिन ब्राह्मणों को दान दिया, वे विधि के अनुसार अपने गुणों से सुशोभित थे, अच्छे गुण तथा शीलवाले थे, दीन एवं कुटुम्बी थे निष्कपट, आचरणवाले, तपस्वी थे, यथा विधि वेद और वेदार्थ जानने वाले, निर्लोभी और परोपकारी तरुण ऐसे ब्राह्मणों में जो श्रेष्ठ थे, उनको दान दिया ॥१४॥

सुबोधिनी—विधिप्रकारोलङ्करणादि, गुणा विद्याः, शीलमाचारः सुस्वभावश्च। सीदत्कुटुम्बेभ्य इति। गृहीतस्य शीघ्रं सद्विनियोगः। ऋतं व्रतं येषामिति ब्राह्मणस्य सहजो धर्मो निरूपितः। तप

इन्द्रियनिग्रहः, श्रुतं यथाविधि, ब्रह्म वेदो वेदार्थश्च, वदान्यत्वमलुब्धता, सत्त्वं परोपकारत्वं च। तपः श्रुतं ब्रह्म च येषां ते तपःश्रुतब्रह्माणः, ते च ते वदान्याश्च सन्तश्च। युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्य इति द्वादशगुणा ब्राह्मणानामुक्ताः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—जो सद्गुण, विद्या, शील, आचार और सुन्दर स्वभाव से अलङ्कृत थे, कुटुम्बी और दीन थे जिससे दान किये हुए पदार्थ का शीघ्र ही विनियोग हो जावे, सत्य ही जिनका व्रत है, यह ब्राह्मणों का सहज धर्म कहा है, तपस्या अर्थात् इन्द्रियों का निग्रह विधि अनुसार शास्त्र श्रवण, वेद तथा वेद का अर्थ सुन कर जान लेना, निर्लोभी और परोपकारत्व, आदि गुण युक्त ऐसे तरुण ब्राह्मण श्रेष्ठों को दान दिया, इसी प्रकार ब्राह्मणों के १२ गुण कहे ॥१४॥

आभास—दानान्तराण्यप्याह गोभूहिरण्येति।

आभासार्थ—'गोभूहिरण्य' इस श्लोक से दूसरे पदार्थों का दान भी किया वह वर्णन करते हैं।

श्लोक—गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः कन्याः सदासीस्तिलरूप्यशय्याः।
वासांसि रत्नानि परिच्छदान्रथानिष्टं च यज्ञैश्चरितं च पूर्तैः ॥१५॥

श्लोकार्थ—गौ, पृथ्वी, सुवर्ण, घर घोड़ा, हाथी, दासी सहित कन्या, तिल चाँदी, शय्या, वस्त्र, रत्न और सर्व प्रकार का सामान, रथ; ये दान भी मैंने किए तथा यज्ञ तथा कूप आराम आदि के भी पदार्थ बनवाए ॥१५॥

सुबोधिनी—एकदा असङ्ख्यातगोदानं बहुभ्यः। ततः पृथगपि गावो दत्ताः। भूमिर्वृत्तिकरी। हिरण्यदानं स्वतन्त्रम्। आयतनदानं गृहदानम्। अश्वदानं हस्तिदानं च। कन्यादानं ब्राह्मणाय, पोषितानां कन्यानाम्। **औरस्याः क्षत्रियानां विवाहितायां जातायाः राजकन्यायाः स्वयंवर एव।** सदासीरिति पारिबर्हसहिताः। दासीदानं वा कन्यादानेन सहोच्यते। तिलाः तिलपर्वताः। रूप्यं रूप्यपर्वतः। शय्या सुखशय्यादानम्। वासांसि नानाविधानि। तथैव नव रत्नानि। परिच्छदान् कञ्चुकवितानादीन्। रथाश्च गजरथाश्वरथादिभेदाः। एवं पञ्चदशदानानि सर्वदा क्रियन्ते। ततः यज्ञैरिष्टमग्निष्टोमादयश्च कृताः। पूर्तैश्च चरितं कूपारामादयश्च धर्मार्थं कृताः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—किसी समय असङ्ख्यो धेनु बहुत ब्राह्मणों को दी, उस के पश्चात् पृथक् भी गायें दीं, जिससे आजीविका चले ऐसी पृथ्वी भी दी अर्थात् खेती के योग्य भूमि दी, सुवर्ण दान स्वतन्त्र किया, घर बना कर दान किये, घोड़े और हस्तियों का भी दान दिया, पाली हुई कन्याओं का दान दासियों के साथ तथा दहेज के साथ किया, विवाहित क्षत्राणी स्त्री से उत्पन्न और कन्याओं का तो स्वयंवर ही होता है, तिल के तथा चांदी के पर्वतसम ढेर दिये, सुख पूर्वक नींद लेने के लिये शय्यादान किया, अनेक प्रकार के वस्त्र वैसे ही नव रत्न, अंगरखे चंदोबा आदि भी दान किये इस प्रकार १५ दान हमेशा किये जाते हैं इनके अतिरिक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञ किये, कूप, आराम आदि के भी पदार्थ बनवाये ॥१४॥

आभास—एवं धर्मपरायणे मयि कर्मवशादधर्मः कश्चनोत्पन्न इत्याह कस्यचिद्द्विजमुख्यस्येति ।

आभासार्थ—इस प्रकार धर्म परायण मुझसे कर्म के वश से कुछ अधर्म हो गया, जिसका वर्णन 'कस्यचिद्द्विजमुख्यस्य:' श्लोक में श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—कस्यचिद्द्विजमुख्यस्य भ्रष्टा गौर्मम गोधने ।
संपृक्ताऽविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये ॥१६॥

श्लोकार्थ—किसी उत्तम ब्राह्मण की गौ भूलकर मेरे गौओं के यूथ में मिल गई, इस बात को न जानकर वह गौ किसी अन्य ब्राह्मण को दान कर दी ॥१६॥

सुबोधिनी—अयं राजा दानाभिनिविष्टचित्तः स्वसेवकेभ्यः यथाकथञ्चिद्यान् गृह्णाति, न तु जिज्ञासते । एवं बहुधा प्रमादे कदाचिद्भगवान् तत्पापं प्रकटितवान् । कश्चिद्ब्राह्मणः राजप्रतिग्रहरहितः स्वधर्मनिष्ठ आसीत् । तस्य गौः स्वस्थानादपगता राजगोषु प्रविष्टा । ततस्तामनवद्यलक्षणां तदधिकारिणो ज्ञात्वा दानार्थं नीतवन्तः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—इस राजा का चित्त तो दान करने में ही आसक्त था, अपने सेवकों को दानार्थ गौ लाने के लिये कह रखा था वे जो गौ लाते थे वह बिना परीक्षा किये अच्छी देख कर दान कर देता था, इस प्रकार कई बार दान कर दिया, अचानक अब भगवान् ने उसके पाप को किया कोई ऐसा स्व धर्म निष्ट ब्राह्मण था जो राजा का दान नहीं लेता था, उसकी गौ अपने स्थान को भूल कर राजा के गोधन् मे मिल गई, पश्चात् अधिकारी उस गौ को सुन्दर लक्षण वाली जानके दान के लिये राजा के पास ले आये थे ॥१६॥

श्लोक—तां नीयमानां तत्स्वामी दृष्ट्वोवाच ममेति तम् ।
ममेति प्रतिसंगृह्य नृगो मे दत्तवानिति ॥१७॥

श्लोकार्थ—उस गौ को ले जाते देखकर, गौ के स्वामी ने कहा कि यह गौ तो मेरी है, तब दान लेने वाले ब्राह्मण ने कहा कि यह गौ अभी मैं राजा नृग से दान में ले आया हूँ, अतः मेरी है ॥१७॥

सुबोधिनी—ततः प्रतिग्रहीतरि तां प्रतिगृह्य गच्छति सति तत्स्वामी मिलितो मध्ये ममेयं गौः कथं नीयत इति चाह । ततः प्रतिग्राही 'नृगो मे दत्तवा'निति ममेत्याह । प्रतिसंगृह्य । प्रतिग्रहं कृत्वा, प्रतिग्रहकथामप्युक्त्वा, नृगो दत्तवानिति ममेत्याह ॥१७॥

व्याख्यार्थ—नृग से गौ का दान लेकर जाने वाले ब्राह्मण को मार्ग में गौ का स्वामी ब्राह्मण मिल गया, उसने गौ को पहचान कर कहा, यह गौ तो मेरी है. आप कैसे ले जा रहे हो, तब दान लेने वाले ने उत्तर में कहा कि यह 'गौ' अब ही मुझे नृग ने दान कर दी है, इसलिये यह गौ मेरी है, इस प्रकार दान आदि की सारी कथा सुना कर कह दिया कि आपकी नहीं है, मेरी है ॥१७॥

श्लोक—विप्रौ विवदमानौ मामूचतुः स्वार्थसाधकौ ।
भवान्दातापहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद्भ्रमः ॥१८॥

श्लोकार्थ—अपना प्रयोजन सिद्ध करने वाल दोनों ब्राह्मण इस प्रकार विवाद करते हुए मेरे पास आ गए, एक ने कहा–यह गौ मेरी है, दूसरे ने कहा–अब दान कर आपने मुझे दी है, अतः मेरी है । गौ के स्वामी ने कहा–आपने मेरी गौ का अपहरण किया है, यह सुनकर मुझे भ्रम हुआ कि कदाचित् इसकी गौ मेरे यूथ में आ गई हो। इस प्रकार मैं विपद में फँस गया ॥१८॥

सुबोधिनी—एवमुभौ विप्रौ विवदमानौ स्वार्थसाधकौ । प्रतिग्रहे सिद्धे ब्राह्मणस्य गौर्भवति, राज्ञश्च ब्राह्मणगवापहारदोषो भवति । दानप्रतिग्रहयोरभावे ब्राह्मणस्यैव गौः, नापहारदोषः, लोकदृष्ट्या धर्मे सिद्धे प्रतिग्रहस्य सिद्धत्वाद्दानस्य च प्रतिग्रहीतुरेव गौः, अपहारदोषप्रायश्चित्तं परं कर्तव्यम् । अलौकिकश्चेद्धर्मः देवाद्यधिष्ठितः, तदा अधर्मसिद्धं द्रव्यं धर्मविषयो न भवतीति न दानं सिध्यति । सुतरां प्रतिग्रहः । अतो विवादः । राजा चेदत्र दानमङ्गीकरिष्यति, तदा प्रतिग्रहः सेत्स्यति, अपहारश्च । अपहारदोषस्याधिकयात् नाङ्गीकुर्याद्वेत्, तदा स्वामी गां नेष्यतीति स्वार्थसाधकौ विप्रौ अन्योन्यं विवदमानौ मां राजानमूचतुः । एकस्य वचनं 'भवान् दाते'ति । तस्मिन्नङ्गीकृते द्वितीय आह अपहर्तेति । हेतुपूर्वकं वृत्तान्तवचन अर्थात् ज्ञायते । पश्चादपहारवचनं श्रुत्वा मे भ्रमः अभवत् यदेको न प्रार्थितः । एकस्मिन् दोषे अङ्गीकृते तत्प्रायश्चित्तं स्वेच्छया कृतं स्यात् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार विवाद करने वाले दोनों ब्राह्मण अपना २ अर्थ सिद्ध करना चाहते थे, यदि सिद्ध है कि यह गौ, दान की गई है तो वह गौ, दान लेने वाले की होती है तो राजा पर गौ के अपहरण का दोष होता है, दान और प्रतिग्रह के अभाव में, अर्थात् राजा ने दान न की है और न ब्राह्मण ने दान में ली है तो गौ, मालिक की होती है, और राजा से अपहरण दोष मिट जायगा, लोक दृष्टि से धर्म सिद्ध हो जाने पर दान लेने और देने दोनों के सिद्ध हो जाने से दान लेने वाले को ही गौ होती है, किन्तु राजा पर अपहरण का दोष होने से उसका राजा को प्रायश्चित करना चाहिये, यदि धर्म अलौकिक, तथा देव आदि से अधिष्ठित है, अर्थात् अलौकिक आध्यात्मिक विचार से देखा जाय तो अधर्म से जो द्रव्य अपने पास आ गया है वह धर्म का विषय नहीं हो सकता है, सारांश यह है, यदि वास्तव में यह गौ दूसरे की है, राजा के यूथ में शामिल हो गई है, दूसरे का पदार्थ होने से दान नहीं किया जा सकता है अर्थात् वह दान नहीं है, अतः विवाद है, यदि राजा स्वीकार करता है कि यह मैंने दान की है तो, प्रतिग्रह और अपहरण दोनों सिद्ध होंगे, यदि राजा अपहरण दोष दान से

विशेष है यों समझ राजा इसको दान न माने तो गौ का स्वामी गो ले जायेगा, इस प्रकार विवाद करते हुवे दोनों ब्राह्मण मुझ को कहने लगे, एक ने कहा आप 'दाता' हो दातापन के अङ्गीकार करने पर दूसरे ने कहा कि तुम अपहरण करने वाले हो, दोनों वृत्तान्त हेतु पूर्वक समझे जाते हैं, अपहरण के वचन सुनकर मुझे भ्रम हुआ, एक ने प्रार्थना नहीं की है एक दोष में तो उसका अङ्गीकृत प्रायश्चित अपनी इच्छा से किया होता ।।१८।।

श्लोक—अनुनीतावुभौ विप्रौ धर्मकृच्छ्रं गतेन मे ।
गवां लक्षं प्रकृष्टानां दास्याम्येषा प्रदीयताम् ।।१९।।

श्लोकार्थ—यों होने पर मैं धर्म संकट में फँस गया, अतः दोनों को मैंने प्रार्थना की कि जो गौ को दे देगा, उसको मैं बहुत उत्तम लाख धेनु दूँगा ।।१९।।

सुबोधिनी—भ्रमादेकमकृत्वा स्वतस्तत्त्वापरिज्ञानात् अन्यस्यापृष्टत्वात् द्वयमपि सन्देहे स्थापयित्वा उभावनुनीतौ । गौः त्यक्तव्येत्यस्मिन्नर्थे यथा द्वितीयोऽप्यपहारः सिध्यति । ननूभयोरनुनये को हेतुः, तत्राह **धर्मकृच्छ्रं गतेन मे** इति । तस्य हृदये धर्मे निश्चयाभावात् कृच्छ्रं सङ्कटमेव प्राप्तवान् । अनुनयमाह । गवां लक्षं एतन्निष्कृतित्वेन दास्यामि । एषा प्रदीयतामिति ।।१९।।

व्याख्यार्थ—मैं तो स्वतः इस बात के तत्व को नहीं जानता था, भ्रम से एक का कहा न मान सका और दूसरे से न पूछने पर दोनों के वचनों ने सन्देह में डाल दिया, अतः दोनों को प्रार्थना की है, गौ छोड़ देनी चाहिये यों कहने पर छोड़ने वाले को हानि होती है, दोनों को प्रार्थना करने का क्या कारण था ? इस पर कहता है कि मैं धर्म सकट में फँस गया था उसके हृदय में अब क्या धर्म है ? ऐसा निश्चय न हो सकने से सङ्कट को ही प्राप्त किया, प्रार्थना करता है, इस एक गौ के छोड़ देने के बदले में लाख गौ दूँगा यह गौ दे दो ।।१९।।

आभास—ननु निष्कृतिग्रहणे दोषः स्यात्, कथं ग्राह्य इति चेत्, तत्राह **भवन्तावनुगृह्णीतामिति** ।

आभासार्थ—यदि कहो बदला लेने में दोष होगा, अतः वह कैसे लिया जाय ? 'भवन्तावनुगृह्णीता' इस श्लोक में इस शङ्का के परिहार का उपाय कहता है ।

श्लोक—भवन्तावनुगृह्णीतां किङ्करस्याविजानतः ।
समुद्धरत मां कृच्छ्रात्पतन्तं निरयेऽशुचौ ।।२०।।

श्लोकार्थ—भ्रम में पड़े हुए इस अज्ञ किङ्कर पर कृपा कीजिए, सङ्कट से अपवित्र नरक में गिरते हुए मुझे उद्धारिये ।।२०।।

सुबोधिनी—मदुपर्यनुग्रहेण निषिद्धमपि कर्तव्यमिति भावः। अनुग्रहे हेतुमाह किङ्करस्येति। तथापि सापराधो दण्ड्य एवेति चेत्, तत्राह अविजानत इति। विशेषेणायमर्थो न ज्ञात इति। अज्ञाते त्वल्पमेव प्रायश्चित्तमित्यनुग्रहेणापि सिध्यति। तस्य भाव्यर्थः स्वत एव स्फुरितः तन्निराकरणार्थं प्रार्थयति समुद्धरतेति। कृच्छ्रात् सङ्कटात् निर्णयज्ञानाभावात् अशुचौ निरये पतन्तमिति। हीनभावः निरयो भवति,ततश्च गोत्वमश्वत्व वा चेद्भवेत्, तदा निरयत्वेऽपि नाशुचित्वम्। श्वयोनौ शूकरयोनौ वा पाते तथात्वमिति। तामिस्रादौ तु न पातः, नरकभोग एव परम्। योनिसम्बन्धे तु अभिमान उत्पद्यत इति पातः। अशुचाविति। लोकप्रसिद्धमलादिप्रदर्शनेन दया वा उत्पाद्यते॥२०॥

व्याख्यार्थ—मेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिये, जो निषिद्ध है वह भी आपको करना चाहिये, कहने का यह तात्पर्य है, यदि कहो कि अनुग्रह करने का क्या कारण है ? अनुग्रह क्यों करें ? इस पर कहता है कि मैं आपका किङ्कर हूँ, किङ्कर भी यदि अपराधी हो उसको दण्ड देना चाहिये इसके उत्तर में कहता है कि यह कार्य मैंने जान कर नहीं किया है अज्ञान से हो गया है, बेसमझी से अपराध हो भी जावे तो उसका प्रायश्चित अल्प ही होता है, वह प्रायश्चित अनुग्रह से ही सिद्ध हो जाता है, उसका भावी अर्थ स्वतः ही स्फुरित हो गया है जिसके निराकरण के लिये प्रार्थना करता है कि 'समुद्धरत' उद्धार करो अब मैं इसका क्या निर्णय करूं ? यह न जानने से धर्म संकट में फंसा हूँ जिससे अपवित्र हीन भाव को प्राप्त होता हूँ जिससे निकालो, इससे यदि गोत्व, अश्वत्व प्राप्त हो तो वहाँ हीन भाव होते हुए भी अशुचिपन नहीं है, कुत्ते की वा शूकर की योनि में जाने से अशुचिपन है, तामिस्र आदि मे पात नहीं है नरक भोग ही है, योनि के सम्बन्ध होने पर उसका अभिमान होता है, यह ही पात है, अपवित्र में, लोक में प्रसिद्ध मल आदि के प्रदर्शन से दया उत्पन्न कराता है ॥२०॥

श्लोक—नाहं प्रतीच्छे वै राजन्नित्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत् ।
नान्यद्गवामप्ययुतमिच्छामीत्यपरो ययौ ॥२१॥

श्लोकार्थ—जिसकी गौ थी, वह ब्राह्मण कहने लगा कि इस गौ के बदले में कितना भी धन मैं नहीं लूँगा, यों कहकर वह चला गया; अनन्तर दूसरा जिसको गौ दान में मिली थी, वह भी कहने लगा कि मैं भी अयुतधन लेना नहीं चाहता हूँ, मुझे तो यह गौ ही चाहिए, यों कहकर वह भी गया ॥२१॥

सुबोधिनी - तत्र मुख्यः स्वामी, गोविक्रयस्य निषिद्धत्वात्. अन्यलक्षायुतादिसङ्ख्यापरिमितं गोसमूहं अहं न प्रतीच्छ इत्युक्त्वा, राजप्रार्थनां त्यागांशे अङ्गीकृत्य, स्वाम्यपाक्रमत्, प्रतिग्रहस्य राज्ञा स्थापितत्वात् पूर्वप्रतिग्रहस्यैव सिद्धत्वात्। विक्रयपक्षे प्रतिग्रहपक्षे वा दोषश्रवणात्। 'एका गौर्न प्रतिग्राह्या द्वितीया न कदाचन। सा चेद्विक्रयमापन्ना रौरवं नरकं व्रजे'दिति वाक्याद्गवामयुतमपि एतन्निष्कृतित्वेन नाहं प्रतीच्छ इति द्वितीयोऽपि ययौ। राजन्निति सम्बोधनात् अनिष्कृतित्वेऽपि प्रतिग्रहोऽपि निषिद्ध इति सूचितम्। राजा सर्वेषामनुरोध्यः, अतिक्रमोऽपि सोढव्य इति सूचितम्। लक्षं गावः राज्ञा दातुं शक्याः, न तु ब्राह्मणेन, अयुतमेव परमा काष्ठा ब्राह्मण-

स्य । कोऽर्हति सहस्रं पशून् प्राप्तुमिति सहस्रस्यैव महत्त्वात् । दशपुत्रविभागे सहस्रशो दानेऽपि अयुतस्यैव पर्याप्तत्वात् । प्राप्तमयुतं निषेधति गवामप्ययुतमिति । यद्यपि तावता पूर्णः कामो भवेत्, तथाप्यव्यवस्थितत्वात् एकस्यामपि गवि यत्रायं सन्देहः, तत्र किमन्यद्वक्तव्यमिति भावः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—दोनों में जो गौ का स्वामी था, उसने कहा कि आप इस गौ के बदले में लक्षयुत आदि मूल्य दोगे तो भी वह मैं नहीं लूंगा, यों कह कर, राजा की प्रार्थना को ठुकरा कर चला गया, दूसरा जिसने गौ दान में ली थी वह भी कहने लगा कि दूसरी दस सहस्र गो भी इसके बदले में न लूंगा, और यह गौ लौटा कर भी न दूंगा, क्योंकि यह गो राजा ने दान कर मुझे दी है पहले मिले हुए दान ही सिद्ध हैं. यदि वह बेची जाय वा उसका बदला लेकर लौटा दी जावे तो दोनों में दोष है, अतः ली हुई लौटा कर, दूसरी गौ उसके बदले में न लेनी चाहिये, ली हुई गौ किसी प्रकार भी विक्रय की जावे तो वह बेचने वाला रौरव नाम वाले नरक में पड़ता है, इन वचनों के अनुसार इस गौ के बदले में दश हजार गो भी लेना नहीं चाहता हूँ, यों कह दूसरा भी गया 'राजन्' संबोधन से यह सूचन किया है, मूल्य न होने की हालत में अशक्त को दान भी नहीं लेना चाहिये, लाख गौ राजा दे सकता है, न कि ब्राह्मण, ब्राह्मण के लिये दश सहस्र देना ही सीमा है, कौन है जो सहस्र पशु प्राप्त कर सकता है ? इसलिये हजार का ही महत्त्व है, दश पुत्रों के विभाग में और हजार के दान में भी दश हजार की ही पर्याप्तता है, दश हजार लेने का भी निषेध करता है, यद्यपि उनसे सर्व काम की सिद्धि हो जाती है तो भी निषेध करता है, कारण कि तो भी अव्यवस्थिति हो जाती है, जब एक ही गौ में जहां यह सन्देह वहाँ दूसरा क्या करना चाहिये ? यह भाव है ॥२१॥

आभास—एवं ब्राह्मणद्वयक्षोभे दण्डार्थं यमः प्रवृत्तः, गोऽपहारे आयुः क्षीणमिति तदैव यमदूतैः समागतमित्याह एतस्मिन्नतरे इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार दो ब्राह्मणों के अप्रसन्न होने पर राजा को दण्ड देने के लिये यम तैय्यार हुआ गौ के चुराने से आयु क्षय होती है. इससे उसी समय यम दूत आये यह 'एतस्मिनन्तरे' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—एतस्मिन्नन्तरे याम्यैर्दूतैर्नीतो यमक्षयम् ।
यमेन पृष्टस्तत्राहं देवदेव जगत्पते ॥२२॥
पूर्वं त्वमशुभं भुङ्क्षे उताहो नृपते शुभम् ।

श्लोकार्थ—हे देवदेव ! जगत्पते ! इतने में यमदूत मुझे यमपुरी ले चले, वहाँ मुझ से यम ने पूछा कि हे राजन् ! तू पहले पाप का फल भोगना चाहता है वा पुण्य का फल ? ॥२२½॥

सुबोधिनी – यावदयं प्रतिविधानं कुर्यात्. तन्मध्य एव याम्यैर्यमक्षयं नीतः। अनेन बलान्नयनं निरूपितम्। बलाद्गोहृ तेति। तेनापि ब्राह्मणाः सम्बोधिता इति स्वेच्छयैव तैस्त्यक्त इत्यस्यापि स्वेच्छयैव नरकभोगो निरूप्यते। अत एव इच्छार्थं यमेन पृष्टः। अस्मिन्नर्थे सत्यतां निरूपयितु देवदेवेति सम्बोधनम्। जगत्पत इति च। धर्मकर्तुः कथं यमदण्ड इति शङ्कां वा दूरीकर्तुम्। प्रमेयबले वेदापेक्षया भगवदाज्ञा कर्तव्येति निरूपयन् देवस्यापि त्वं देव इति त्वदाज्ञा यमेन कर्तव्या। जगत्पतित्वात् मयापि। अतस्त्वदिच्छयैवं जातमिति नात्र किञ्चित्प्रतिकर्तव्यमस्तीति सूचितम्। हे नृपते, पूर्वं त्वमशुभ भुङ्क्षे। लण्मध्यमपुरुषैकवचनम्, प्रश्नार्थे लट्। अशुभस्याल्पत्वात् नान्तरीयकमिवाशुभं गमिष्यतीति प्रथममशुभभोगप्रश्नः। अथवा। दुःखान्तता निषिद्धेति। अथवा। को वा दुःखानुभव मन्येत। अतः प्रथममेव हे नृपते अशुभ भुङ्क्षे ॥२२½॥

व्याख्यार्थ — जब तक राजा इसका उपाय करे, इस के मध्य में ही यमदूत उसको यम लोक ले गये, यों कहने का भावार्थ है कि गौ को ब्राह्मण, बल से ले गये हैं, उन्होंने अपनी इच्छा से हो राजा का देना छोड़ दिया, इस (राजा) का भी अपनी इच्छा से ही नरक का भोग निरूपण किया जाता है, इस कारण से ही यम ने इससे पूछा है, इस विषय में सत्यता का निरूपण करने के लिये देव देव और 'जगत्पते' संबोधन दिया है अथवा धर्म करने वाले को यम दण्ड कैसे हुआ ? इस शङ्का को मिटाने के लिये दिये हैं–प्रमेय बल से वेद की अपेक्षा भगवदाज्ञा कर्त्तव्य है, यों निरूपण करते हुए कहते हैं कि आप देवों के देव हैं अतः यम को आपकी आज्ञा का पालन करना चाहिये और आप जगत् के पति है इसलिये मुझे भी आपकी आज्ञा का पालन करना ही है, अतः आपकी इच्छा से ही यों हुआ है इस विषय में कुछ भी अन्य कर्त्तव्य नहीं है, यों सूचित किया, हे नृपते: प्रथम तू अशुभ भोगेगा ? अशुभ अल्प होने से अन्तरीय की तरह अशुभ जाएगा, अतः पहले अशुभ भोगने का प्रश्न किया है, अथवा दुःखान्तत्व का निषेध किया है, अथवा कौन दुःख का अनुभव करना मानेगा ? इत्यादि कारणों से प्रथम अशुभ भोगने का प्रश्न किया है ॥२२½॥

आभास—तदा स्वस्यालोचनामाह नान्तं दानस्य धर्मस्येति।

आभासार्थ—तब अपने विचार को 'नान्तं दानस्य' श्लोक में कहता है।

श्लोक—**नान्तं दानस्य धर्मस्य पश्ये लोकस्य भास्वरः ॥२३॥**
पूर्वं देवाशुभं भुञ्ज इति प्राह पतेति सः।
तावदद्राक्षमात्मानं कृकलासं पतन्प्रभो ॥२४॥

श्लोकार्थ—तेरे दान तथा धर्म का यश अनन्त है, तब मैंने कहा–हे देव ! पहले मैं पाप का फल भोगूंगा। उसी समय यम ने कहा कि तू नीच योनि में पृथ्वी पर गिर, हे प्रभो ! इतने में मैंने अपने को गिरगिट योनि में देखा ॥२३-२४॥

सुबोधिनी—दानस्यान्यस्यापि धर्मस्य अन्तो न विद्यते। गोदानप्रस्तावे कश्चिद्वञ्चको धूर्त आसन्नमरणां गां वञ्चयित्वा ब्राह्मणाय दत्वा मुक्ति गत इति श्रूयते। स हि नगरमध्यवासे मृतायाः गोर्निर्हरणासमर्थः व्याजेन कञ्चिद्ब्राह्मणमाकार्य, तस्मै दानं दत्तवान्। ततो मुहूर्तत्रयानन्तरं गौर्मृता। ततो ब्राह्मणः प्रतिग्रहीता स्ववस्त्रं चाण्डालेभ्यो दत्वा तां गां बहिः निःसारितवान्। एवं ब्राह्मणं वञ्चयित्वा पश्चान्मृतः, यमेन पृष्टः चित्रगुप्तेन, तस्य वृत्तान्ते कथिते पूर्वं शुभफलभोगं करिष्यामीत्युक्त्वा, तत्रापि कौटिल्यं कृतवान्, तादृशगोदानस्य हि फलं यावद्गौर्जीवति, तावत्परलोके कामधेनुस्तद्वशे तिष्ठतीति। तथा यमेनोक्तः मुहूर्तत्रयं कामधेनुस्त्वदधीना स्थास्यतीति। कामधेनुं प्रत्याह व्याघ्रो भूत्वा यमं भक्षये'ति। ततो व्याघ्रेणोपसृतः यमः भीतो विष्णुं शरणं ययौ। यत्रास्ते भगवान् ब्रह्मादिभिर्वृतः। तत्र पश्चादयमपि गतः, कामधेन्वा नीतो, विष्णुसाक्षात्कारे मुक्त इति। यत्र तादृशगोदानस्याप्यनन्तफलत्वम्, तदा विधानपूर्वकं दत्तायाः किं वक्तव्यमिति। अन्यस्याप्येवं धर्मस्यानन्तफलत्वम् फलं हि द्विविधम् इह लोके यशः, परलोके स्वर्ग इति। तदुभयमाह यशो लोकश्च भास्वर इति। अनन्तं यशः, अनन्तो लोक इति। तामसधर्मेऽपि तथेति तत्पातालोपभोग्यमिति तद्व्यावृत्त्यर्थं भास्वर इति। दानस्य फलरूपं यशः अनन्तम्, लोकश्चानन्त इति। लोकस्य भास्वत इति पाठे अनन्तं यशः शुभ चेति पूर्वोक्तं सङ्ग्राह्यम्। भुङ्क्ष इति भुञ्ज इति वा क्रिया। भास्वतो लोकस्योत्तमदेहस्य वा। पूर्वं सम्बन्धि अशुभं भुञ्ज इति। देवेति सम्बोधनं परिज्ञानार्थम्। उक्तवानित्यर्थादिति। एवं सति पतेति स यमः प्राह। यतः स ब्राह्मणातिक्रमं दृष्ट्वा क्रोधवान्। पतेति तस्माल्लोकात् भूलोके। नीचयोनिभूतो नरकः भूमावेव, नान्यत्रे'ति। ततो यज्जातं तदाह तावदद्राक्षमिति। पतन्नात्मानं कृकलासमद्राक्षम्, कर्मणा देहसम्बन्धेन। ग्रहणपरित्यागयोः परिज्ञानं योगज्ञानभक्तिष्वेव। तद्धार्द्दं तावत्स्मृतम्। बहिर्मुखत्वादस्य कर्मदोषो जात एव। प्रभो इति। त्वमेव समर्थस्तादृशकर्मभ्यो मोचयितुमिति सूचितम्। जीवस्य ग्रहणपरित्यागज्ञानमेव नास्ति, कुतो मोचनपरिज्ञानम्। एतादृशेर्थे भगवानेव शरणमिति ॥२३-२४॥

व्याख्यार्थ—आपके किये हुए दान तथा अन्य धर्म के फल का अन्त ही नहीं है, कोई एक धूर्त ठग था, उसकी गौ शीघ्र मरने वाली थी, उस धूर्त के पास नगर से मरी हुई गौ को निकालने जितना द्रव्य नहीं था, अतः उसने किसी ब्राह्मण को बुला कर कपट से गौ दान की, पश्चात् क्या हुआ ? कि वह गौ तीन मुहूर्त के बाद मर गई, तब ब्राह्मण ने अपना वस्त्र चांडाल को देकर गौ को शहर से बाहर निकलवाया, इस प्रकार ब्राह्मण को धोखा देने के अनन्तर वह धूर्त भी मर गया, चित्रगुप्त ने सारा वृत्तान्त यम को सुनाया, तब यमने उससे पूछा कि पहले कौनसा फल भोगेगा ? तब धूर्त ने कहा कि प्रथम शुभ फल भोगूँगा, वहां भी कुटिलता करने लगा, दान के अनन्तर दान की हुई गौ जितना समय जीवित रहती है, उतना काल कामधेनु, दान करने वाले के वश में रहती है, यम ने कहा तुमने जिस गौ का दान किया था वह तीन मुहूर्त जीवित रही थी अतः कामधेनु तीन मुहूर्त तेरे वश रहेगी, यह फल तू पहले भोग, यह सुनते ही धूर्त ने कामधेनु को कहा कि तू व्याघ्र बनकर यम का भक्षण कर, यह सुन व्याघ्र के निकट आते ही डर कर भागता हुआ यम विष्णु के शरण गया, वहां विष्णु भगवान् के चारों तरफ ब्रह्मादि देव बैठे थे, इतने में इस धूर्त को भी कामधेनु वहां ले गई, विष्णु भगवान् के साक्षात् दर्शन करने से धूर्त मुक्त हो गया, जहां वैसी गौ के दान का भी फल अनन्त है तो विधि पूर्वक दान की हुई गौ का फल क्या कहना चाहिये, इसी प्रकार अन्य धर्म

का भी अनन्त फल है। फल दो प्रकार का है। इस लोक में यश और परलोक में स्वर्ग, वह बताता है कि 'यशो लोकश्च भास्वरः' दान का फल रूप यश अनन्त है तथा लोक भी अनन्त है, यदि 'लोकस्य भास्वतः' पाठ माना जाय तो इसका अर्थ अनन्त यश और शुभ पूर्वोक्त फल का ग्रहण करना चाहिये, वह फल भोगूँगा, भुङ्क्ष्वे वा भुञ्जे' क्रिया है, 'भास्वतः' का अर्थ लोक का अथवा उत्तम देह का समझना चाहिये. प्रथम अशुभ सम्बन्धी फल भोगूँगा : हे देव ! यह सम्बोधन कह कर बताया है, कि आपको सर्व ज्ञान है ही, यदि यों है तो इस लोक से भूलोक में गिर, नीच योनि का नरक तो पृथ्वी पर ही है, दूसरे लोक में नहीं है, यों कहने के बाद जो कुछ हुआ, वह कहता है कि, गिरते ही अपने को 'गिरगिट' रूप में देखा, कारण कि कर्म के फल स्वरूप ही देह से सम्बन्ध होता है, यह देह क्यों ग्रहण की और इस देह से क्यों और कब छुटकारा होगा, जिसका ज्ञान, योग, ज्ञान और भक्ति होने पर ही होता है अन्यथा नहीं होता है, 'आत्मा' पद देने का आशय यह है कि देह और जीव का द्वैत नहीं दोनों आत्मा के ही रूप हैं. बहिर्मुख होने से इसको कर्म दोष हुआ हो, प्रभो ! यह सम्बोधन देकर यह सूचित किया कि वैसे कर्मो से छुड़ाने के लिये आप ही समर्थ हैं, जीव को ग्रहण और परित्याग का ज्ञान ही नहीं है, तो फिर कर्म से छुटकारा कैसे कर सकेगा ? अतः वैसे विषय मे भगवान् ही शरण हैं ॥२४॥

आभास—नन्वेतादृशस्यं तव कथं पूर्ववृत्तान्तपरिज्ञानमिति चेत्, तत्राह ब्रह्मण्यस्येति ।

आभासार्थ—वैसे तुमको पूर्व वृत्तान्त का ज्ञान कैसे रहा ? यदि यों कहे तो इसका उत्तर 'ब्रह्मण्यस्य' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव ।
स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्संदर्शनार्थिनः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे केशव ! मैं ब्राह्मणों का भक्त, उदार और आपका दास हूँ तथा आपके दर्शन की इच्छा मन में लगी हुई है, इससे ही अब तक मेरी स्मृति का नाश नहीं हुआ है ॥२५॥

सुबोधिनी—अज्ञानं हि स्मृतिनाशकम्, तत्र ज्ञानसमानाधिकरणम् । ब्राह्मणाः स्वभावतो ज्ञाननिष्ठाः,'ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्य'मिति वाक्यात् । अतो ब्रह्मण्यस्य ब्राह्मणभक्तस्य ब्रह्मधर्मा हितं कुर्वन्तीति न स्मृतिभ्रंशः । 'राजन्योऽपि सर्वदेवमय' इति ब्रह्मक्षत्रयोस्तुल्यत्वात् 'क्षतान्त्रायत' इति धर्माच्च 'तत्र दानमीश्वरभावश्चे'ति वाक्यात् 'वदान्ये क्षत्रं प्रतिष्ठित'मिति 'अन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षत' इति वाक्यात् ज्ञानं क्षत्रियमपि पालयति । भगवान् सर्वेश्वर इति ज्ञानादयस्तदधीनाः भगवद्भक्ते स्वोपकारं कुर्वन्तीति प्रकारत्रयेणापि स्मृतिर्न विध्वस्ता । अस्त्येको ज्ञाननाशप्रकारः चतुर्थे निरूपितः, 'इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मन' इत्यादिना । स इतः

पूर्णं न जात इत्याह अद्यापि न विध्वस्तेति । केशवेतिपदं उत्पत्तिप्रलयकर्त्रोरपि मोक्षं प्रयच्छतोति भक्तज्ञानदाने कः प्रयासः स्यादिति सूचितम् । किञ्च । स्मृतिनाशकाः यावन्तो मायादयः, ते सर्वे मत्तो बिभ्यतीत्याह भवत्संदर्शनार्थिन इति । यो भगवद्धर्मान् प्रतीक्षते, तस्य नान्ये धर्मा. बाधका भवन्ति ॥२५॥

व्याख्यार्थ—अज्ञान ही स्मृति को नाश करने वाला है, वह ज्ञान के साथ रह नहीं सकता है, ब्राह्मण स्वभाव से ज्ञान निष्ठ हैं, इसलिये ब्राह्मणों के लक्षण 'ज्ञानं विज्ञान मास्तिक्यं' कहा है, इस कारण से वही ब्राह्मणों के धर्म ब्राह्मण भक्तों का हित करते हैं जिससे मेरी स्मृति नष्ट नहीं हुई है, क्योंकि मैं ब्राह्मणों का भक्त हूँ, राजा भी सर्व देव मय है इसलिये 'ब्रह्मक्षत्रयो स्तुल्यत्वात्' ब्राह्मण और क्षत्रिय की बराबरी कही है, क्योंकि क्षत्रिय का धर्म है 'दुःख से बचाना' जिसके लिये 'तत्र दान मीश्वरभावश्च' कहा है, उदारता में दानी होने में क्षात्र धर्म ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर एक दूसरे की अपने-२ धर्म से रक्षा करते हैं, ज्ञान क्षत्रिय का भी पालन करता है, भगवान् तो सर्वेश्वर हैं, इसलिये ज्ञान आदि सर्व उनके आधीन हैं, अतः भगवद्भक्त पर अपना उपकार करते ही हैं, यों तोनों प्रकार से भी स्मृति नष्ट नहीं हुई है, 'इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तंध्यायतां मन' विषयों से आकृष्ट इन्द्रियों से व्याप्त मन संसारी वस्तुओं का ध्यान करता रहता है तब ज्ञान का नाश हो जाता है, यह एक ही ज्ञान के नाश का उपाय है, वह इससे पूर्व नहीं हुआ है, इसलिये स्मृति अब भी नष्ट नहीं हुई है । हे केशव ? संबोधन से यह बताया है कि उत्पत्ति करने वाले ब्रह्मा का और प्रलय करने वाले महादेव का भी आप मोक्ष करते है, तो भक्त को ज्ञान देने में कौनसा आपको परिश्रम है, स्मृति को नाश करने वाले जो माया आदि है, वे सर्व मुझ से डरते हैं क्योंकि मैं नित्य आपके दर्शन का चाहवाला हूँ, जो भगवान् के धर्मों को मन में धारण करता है, उसके अन्य धर्म सत्पथ में बाधक नहीं हो सकते हैं ॥२५॥

आभास—एवं स्ववृत्तान्तमुक्त्वा भगवद्दर्शनं दुर्लभं सर्वप्राणिनां कथं ममाकस्माज्ञातमिति स्वभाग्यमभिनन्दयन्नाह स त्वं कथमिति ।

आभासार्थ - इस प्रकार अपना वृत्तान्त सुना कर, जो भगवत् दर्शन सर्व प्राणियों को दुर्लभ है वह मुझे अचानक कैसे हो गया, इसलिये 'स त्वं कथं' श्लोक में अपने भाग्य की बड़ाई करता है ।

श्लोक—स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा
योगेश्वरैः श्रुतिदृशामलहृद्विभाव्यः ।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः स्या-
न्मेनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! उपनिद्रूप नेत्रों से निर्मल हृदयवाले योगेश्वरों के हृदय में जो चिन्तन किए जा सकते हैं तथा इन्द्रियाँ जिसको पहुँच नहीं सकती हैं, ऐसे आप परमात्मा हैं । जिसके मैंने आज अचानक प्रत्यक्ष दर्शन किए हैं, उसका क्या कारण

है ? मैं तो महान् व्यसनों से अन्ध बुद्धि हूँ, किन्तु जिसका अन्तिम जन्म होता है, उसको ही आप दर्शन देते हैं, इसलिए मेरा यह अन्तिम जन्म है, जिससे मेरे जैसे अन्ध बुद्धि वाले को दर्शन देकर कृतार्थ किया है ।।२६।।

सुबोधिनी—तादृशस्त्वं ममाक्षपथः कथं वा जात इत्याश्चर्यम् । परात्मेति । आत्मनोऽपि परोऽन्तरः कथं देहादपि बहिर्दृश्येतेत्येकानुपपत्तिः । किञ्च । योगेश्वरैरपि योगानुसारेण, तत्रापि श्रुतिदृशा वेदबोधितज्ञानेनैव,न तु वैदिकप्रकारेण, तत्रापि अमला दृष्टिर्यस्य तादृशेन विभाव्यः । साधनप्रमाणाधिकाराः उत्तमा निरूपिताः । तैरप्येवं प्रत्यक्षो न भवति, किन्तु विशेषेण भाव्यः तर्क्य एव । स मम साक्षात्कथं जात इत्याश्चर्यम्। अनेन प्रमाणविचारेण दर्शनायोग्यता निरूपिता, प्रमेयविचारेणापि दर्शनायोग्यतामाह अधोक्षजेति । अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मादिति । किञ्च । स्वस्यानधिकारोऽपि । उरुव्यसनान्धबुद्धेः । अनेकव्यसनैः अन्धा बुद्धिर्यस्येति । नन्वकारणककार्योत्पत्तिर्न सम्भवतीति, अवश्य कारणं भगवद्दर्शने वक्तव्यमिति चेत्, तत्राह स्यान्मेनुदृश्य इति । मे अनुदृश्यः स्यात्, यस्य मम भवापवर्गः । प्रायेण मम मोक्षः सम्भाव्यते केनचित्कारणेन, तद्भगवद्दर्शनव्यतिरेकेण मोक्षो न भवतीति मोक्षसाधनानि फलोन्मुखानि सन्ति भगवद्दर्शनं कारयामासुः । तत्रापि मोक्ष इहैव, अस्मिन्नेव जन्मनि । अन्तिमजन्मन्येव भगवत्साक्षात्कारात् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—वैसे आपने मुझे प्रत्यक्ष दर्शन कैसे दिये ? यह आश्चर्य है, दर्शन देने में रुकावटें बताते है, १-आप आत्मा से भी पर हैं वह आप देह से भी बाहर दर्शन कैसे दे सकते है यह दर्शन में एक अनुपपत्ति है, २-योगानुसार योगेश्वर ही दर्शन कर सकते है, मैं वह भी नहीं, ३-योगेश्वर भी वेद से बोधित ज्ञान से ही दर्शन कर सकते हैं, न कि वैदिक तरीके से, उसमें भी जिनकी दृष्टि निर्मल हो गई है वैसे भी आपको तर्क से ही भावना कर देख सकते है, न कि साक्षात् ऐसा दर्शन करते है जैसा मैं कर रहा हूँ, साधन प्रमाण के उत्तम अधिकारों का निरूपण किया, वैसा आप मुझे साक्षात् दर्शन दे रहे है, यह आश्चर्य है, यों कह कर प्रमाण विचार से दर्शन की अपनी अयोग्यता सिद्ध की है, अब प्रमेय विचार से भी अपनी दर्शन में अयोग्यता दिखाता है, आपका ज्ञान इन इन्द्रियों से नहीं होता है, विशेष में अपना अनधिकार सिद्ध करता हुआ कहता है कि अनेक व्यसनों से जिसकी बुद्धि अन्ध हो गई है वैसा मै हूँ, प्रमाण तथा प्रमेय से अपनी अयोग्यता दिखलाई तब शङ्का होती है कि बिना कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः भगवान् के दर्शन तो हुवे हैं, जिसमें अवश्य कोई कारण तो होगा ही, वह कारण कहता है, जिसका जन्म अन्तिम है अर्थात् जिसकी मुक्ति होने वाली है फिर जिसको जन्म लेना नहीं हैं उसको दर्शन होता है, जिससे यह मेरा अन्तिम जन्म होने से मेरी मुक्ति होने वाली है इस कारण से मुझे आपके साक्षात् दर्शन हुवे हैं, किसी कारण से मेरी मुक्ति होने वाली दीखती है,वह भगवद्दर्शन के विना मोक्ष नही होता है,मोक्ष के साधन फल के उन्मुख हैं जिन्होंने भगवद्दर्शन कराये हैं, इसमें भी इस जन्म में ही मुक्ति होने वाली है, क्योंकि अन्तिम जन्म में ही भगवान् का साक्षात् दर्शन होता है ।।२६।।

आभास—एवं दुर्लभदर्शनमुपपाद्य स्वर्गगमनार्थं भगवन्तं प्रार्थयितुं नवधा भगवन्तं सम्बोधयति देवदेवेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवद्दर्शन की दुर्लभता सिद्ध कर स्वर्ग को जाने के लिये भगवान् की प्रार्थना करने के लिये भगवान् को नव प्रकार के विशेषण देते हैं—'देव देव' इति

श्लोक—देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषोत्तम ।
नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे देवदेव ! हे जगन्नाथ ! हे गोविन्द ! हे पुरुषोत्तम ! हे नारायण ! हे हृषीकेश ! हे पुण्यश्लोक ! हे अच्युत ! हे अव्यय ! ॥२७॥

सुबोधिनी—लोके गमने देवानामपि यो देवः तदाज्ञयैव गमनं भवति। स चेत्स्वस्मिन् क्रीडति, तदा देवत्वं भवतीति। जगन्नाथत्वादवश्यमाज्ञा प्रार्थनीया। गोविन्देति। सतामिन्द्रः। एवं राजसतामससात्त्विकभावेन प्रभुत्वेन सम्बोधितो भगवान्। आज्ञां प्रार्थयितुं प्रेरकत्वेन त्रिविधं पुरुषमाह। पुरुषोत्तमः पूर्णः पुरुषः। नारायणः पुरुषो द्वितीयः। हृषीकेशोऽन्तर्यामी तृतीयः पुरुषः। 'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदु'रिति वाक्यात्। अनेन भगवत्प्रेरणया भोगार्थं गच्छामीति स्वापराधाभावो निरूपितः। तत्र गतस्य भगवत्स्मरणाद्यभावान्न निस्तार इत्याशङ्क्य भगवद्गुणाः सर्वत्र सन्तीति निरूपयन् विशेषणत्रयमाह पुण्यश्लोकाच्युताव्ययेति। पुण्या श्लोका कीर्तिर्यस्येति। विषयसम्बन्धकृतदोषपरिहारः कीर्तिस्वाभाव्यादेव भवतीति सूचितम्। श्लोका विषयेष्वपि भवतीति न विषयैर्विरुध्यते। तेन सेवनसम्भवः। भगवतः सर्वतोऽच्युतत्वात् नित्या कीर्तिर्भवति, पूर्णा च। ततः सम्पादनसाधनानपेक्षता। न विद्यते व्ययो यस्मादिति। तेनान्यस्यापि नाशाभाव उक्तः। श्रोतुरप्यच्युतत्वं सम्पादयतीति षष्ठीबहुव्रीहिपक्षेऽपि न दोषः।२७।

व्याख्यार्थ—लोक में भी बड़ों की आज्ञा लेकर जाना होता है, आप तो देवों के भी देव हैं अतः आप की आज्ञा से ही वहां जाना हो सकता है, वह देव तब कहा जाता है जब अपने में ही क्रीड़ा करता है, आप तो देवों के भी देव हैं अतः आप को आज्ञा आवश्यक है, फिर उसमें भी आप जगत् के स्वामी हैं, इसलिये आज्ञा प्राप्त करनेके लिये, अवश्य प्रार्थना करनी चाहिये, आप भक्तों के इन्द्र होने से 'गोविन्द' हैं, इस प्रकार राजस तामस सात्विक भाव से प्रभुपन से भगवान् को सम्बोधित किया है, आज्ञा की प्रार्थना के लिये, जो प्रेरक हैं उन तीन प्रकार के पुरुषों का नाम कहता है, १-पुरुषोत्तम जो पूर्ण पुरुष हैं, २-नारायण द्वितीय पुरुष ३-इन्द्रियों का स्वामी अन्तर्यामी तृतीय पुरुष, जिनका प्रमाण कहते हैं 'विष्णोस्तु[1] त्रीणि रूपाणिपुरुषाख्यानि अथो विदु' इस वाक्य से इससे यह कहा कि भगवान् की प्रेरणा से भोग भोगने के लिये जाता हूं यों कहने से अपने अपराध का अभाव निरूपण किया, वहां जाने वाला भगवत्स्मरण नहीं करेगा तो निस्तार[2] नहीं होगा, इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि 'भगवद्गुणाः सर्वत्र सन्ति' भगवद्गुणों का गान सर्वत्र हो सकता है, तदर्थ तीन विशेषण दिये हैं-१-पुण्यश्लोकाच्युताव्यय' जिसकी कीर्त्ति पुण्य रूप है, कीर्त्ति से अर्थात् गुण गान

१—विष्णु के तीन रूप पुरुष नाम से ज्ञानी जानते
२ - छुटकारा

से विषयों के सम्बन्ध से जो दोष उत्पन्न होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं. विषयों में भी प्रशंसा होती है इसलिये विषयों से उसका विरोध नहीं है, किन्तु उनकी प्रशंसा से भगवत्सेवा में मन लगा जाता है, भगवान् सर्व प्रकार से अच्युत होने से उनकी कीर्ति नित्य है और पूर्ण है इस कारण से साधनों के सम्पादन की अपेक्षा नहीं है जिससे कुछ भी व्यय नहीं होता है. इससे दूसरे का भी नाश नहीं होता है, गुण गान सुनने वालों का भी च्युति नहीं होती है-षष्ठी बहुव्रीहि समास करने में भी दोष नहीं है ॥२७॥

आभास—एवं स्वर्गगमने सर्वामुपपत्तिमुक्त्वा प्रार्थयति अनुजानीहीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार स्वर्ग जाने में सर्व प्रकार की हेतु पूर्वक युक्तियाँ कह कर अब 'अनुजानीहि' श्लोक से प्रार्थना करता है।

श्लोक—अनुजानीहि मां कृष्ण यान्तं देवगतिं विभो ।
यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हे विभु ! देवगति को जाने वाले मुझे आज्ञा दीजिए, जहाँ कहीं भी मैं हूँ, वहां मेरा चित्त आपके चरण कमलों में रहे ॥२८॥

सुबोधिनी—मामिति । आवश्यकं पुण्यफलभोगयुक्तम् । कृष्णेति । सर्वथा सर्वप्रकारेण मोचनसमर्थः । न हि तस्य विषयसम्बन्धे मोचनसामर्थ्याभावः । अन्यथा विशेषावतरणं न कुर्यात् । यान्तं देवगतिमिति गमनमावश्यकमुक्तम् । अनभिप्रेतत्वादभ्यनुज्ञाभावमाशङ्क्याह विभो इति । तथापि विषयसम्बन्धे नाशमावश्यकमाशङ्क्य प्रार्थयति यत्र क्वापि सतश्चेत इति । त्रिविधानि स्थानानि सुखदुःखोभयरहितानि । दुःखे असामर्थ्यम्, सुखे अन्यासक्तिः, उभयाभावे मोहादिरिति सर्वत्रैव स्मरणाभावस्तुल्यः । तथापि कृपयैव स्मरणमिति स्थानविशेषस्याप्रयोजकत्वात् यत्र क्वापि सतो मे चेतः त्वत्पदे एव आस्पदं स्थानं यस्य । तथा सति सर्वत्र गच्छतदपि चेतः त्वत्पदयोरेव स्थिरीभविष्यतीति न कापि चिन्ता ॥२८॥

व्याख्यार्थ—पुण्यों का फल भोगना आवश्यक हैं, कृष्ण संबोधन से यह प्रकट किया कि आप सर्वथा अर्थात् सर्व प्रकार से मुक्त कराने में समर्थ हैं, कृष्ण स्वरूप को, विषयों से सम्बन्ध होने पर भी मुक्त कराने का सामर्थ्य है, यदि यों न होता तो विशेष प्रकार से प्रकट न होते, 'यान्तं देवगति' पद से बताया कि जाना आवश्यक है, आप सर्व समर्थ हैं अतः अनभिप्रेत होने पर आज्ञा न दे सकेंगे यों नहीं है, अर्थात् सर्व समर्थ होने से आज्ञा दे सकते हैं, तो भी विषय सम्बन्ध होने से नाश अवश्य होता है, यह शङ्का कर, प्रार्थना करता है, 'यत्र क्वापि सतश्चेतः' तीन प्रकार के स्थान है १-जहां सुख है २-जहां दुःख है, ३-जहां दोनों नहीं है, जहां दुःख है, वहां उसको मिटाने की जीव में सामर्थ्य नहीं है. २-जहां सुख है वहाँ भगवदतिरिक्त में आसक्ति हो जाति है, जहाँ दोनों नहीं है मोह उत्पन्न हो जाता है, इसलिये तीनों स्थानों में भगवान् के स्मरण का अभाव समान है, तो भी स्मरण तो कृपा से ही होता है स्थान विशेष इसमें प्रयोजक नहीं है, अतः जहां कहीं भी मैं हूँ वहां मेरा चित्त

आपकी कृपा से आपके चरण कमलों के स्मरण में आसक्त रहेगा इसलिये किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है ॥२८॥

आभास—ततो गच्छन् नमस्यति नमस्ते सर्वभावायेति ।

आभासार्थ—पश्चात् जाते हुए 'नमस्ते' श्लोक से नमन करता है।

श्लोक—**नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।**
कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः ॥२९॥

श्लोकार्थ—सर्वभावरूप, अनन्त शक्तिमान, ब्रह्म स्वरूप, कृष्ण, वासुदेव, योगों के स्वामी ऐसे जो आप हैं, इन आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥२९॥

सुबोधिनी—भगवान् षड्गुणयुक्त इति धर्मिणं निर्दिश्य षड्विशेषणान्याह । भक्तस्य गमनमनुचितमाशङ्क्य सर्वभावस्त्वमेवेति न त्वत्परित्यागः । अनेन कार्यरूपता निरूपिता । कारणरूपतामाह ब्रह्मण इति । अनन्तशक्तय इति । कारणत्वोपपादकं प्रकारमुक्तवान् । एवं साधनत्वेन त्रिरूपत्वमुक्त्वा, फलेऽपि त्रिरूपतामाह । कृष्णाय सदानन्दायेति शुद्धफलरूपत्वम् । वासुदेवाय मोक्षफलदात्रे । योगानां पतय इति । तस्य मोक्षफलदाने साधनत्वम् । आद्यन्तयोर्नमस्कारः सर्वत्रानुषङ्गार्थः ॥२९॥

व्याख्यार्थ—भगवान् षड्गुणों से युक्त हैं इस प्रकार धर्मी का निर्देश कर ६ विशेषण कहते है, भक्त को भगवान् का त्याग कर अन्यत्र जाना उचित नहीं है इस शङ्का को मिटाने के लिये कहा है कि 'सर्व भाव' आप ही है इसलिये आपका त्याग नहीं, अर्थात् जो स्वर्ग आदि कुछ हैं वे सब आप ही हैं अतः कहीं भी रहने से त्याग हो नहीं सकता है, इससे यह जताया कि आपका यह रूप कारण रूप है और अन्य सर्व आपका कार्यरूप हैं, अतः अन्य नहीं है, यदि कहो कि मैं कारण रूप कैसे ? इसके उत्तर में कहा कि 'ब्रह्मणे' आप ही ब्रह्मरूप हैं, इसलिये अनन्त शक्तिमान् भी आप ही हैं अनन्त शक्तिमान् कहकर कारणत्व को प्रकट करने वाला प्रकार बताया हैं, इस प्रकार साधनपन से तीन रूप कह कर फल के भी तीन रूप कहे हैं, कृष्णाय सदानन्द स्वरूप हो, जिस लिये शुद्ध फल रूप हो, 'वासुदेवाय' विशेषण से बताया कि मोक्ष फल दाता भी आप है 'योगानां पतये' विशेषण से यह सिद्ध किया है, मोक्ष फल देने में साधन भी आप हैं श्लोक के आदि में और अन्त में दोनों स्थान पर नमस्कार कहने का तात्पर्य है कि यह नमस्कार सर्व स्वरूपों के लिये हैं ॥२९॥

आभास—अङ्गीकारेणैवाभ्यनुज्ञातः स्वर्गति गत इत्याह इत्युक्त्वेति ।

आभासार्थ—इस नमस्कार के स्वीकार करने से ही जाने की आज्ञा प्राप्त हो गई अतः स्वर्ग में चला गया, जिसका वर्णन 'इत्युक्त्वा' श्लोक में शुकदेवजी करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इत्युक्त्वा तं परिक्रम्य पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना।
अनुज्ञातो विमानाग्र्यमारुहत्पश्यतां नृणाम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि यों कहकर अपने मुकुट से चरण कमलों का स्पर्श कर, परिक्रमा कर, अनुज्ञा प्राप्त वह मनुष्यों के देखते हुए विमान में बैठ स्वर्ग को गया ॥३०॥

सुबोधिनी—प्रदक्षिणानमस्कारो सर्वकार्यसाधको। स्वमौलिना पादस्पर्शः **भगवद्धर्माणां नित्यत्वात्तच्चरणछायायामेव सर्वभोगसूचकः**। तदैव देवसमानीतं विमानमारुह्य भगवन्माहात्म्यं लोके प्रख्यापयन् नृणां पश्यतामेव सतां ययावित्यर्थः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—प्रदक्षिणा और नमस्कार दोनों सर्व कार्यों को सिद्ध करनेवाले हैं, अपने मुकुट से भगवच्चरणों का स्पर्श करने का भाव यह है कि भगवान् के धर्म नित्य हैं, अतः जो भगवान् के चरणों की छाया का आश्रय लेता है उसको सर्व प्रकार के भोग प्राप्त होते हैं, तब ही देवों के लाये हुए विमान में बैठ कर, लोक में भगवान् का माहात्म्य प्रकट करता हुआ, मनुष्यों के देखते हुए स्वर्ग को गया ॥३०॥

आभास—एवं नृगस्य ब्राह्मणातिक्रमेण दुर्गतिम्, भगवदीयत्वेन सुगतिं च प्रदर्श्य, निरोधनिरूपणार्थं ब्रह्मस्वसम्बन्धाभावमुपदिशति कृष्णः परिजनं प्राहेति।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्राह्मण के अतिक्रम से नृग की दुर्गति और भगवदीयत्व से सद्गति दिखा कर, निरोध का निरूपण करने के लिये 'कृष्णः परिजनं प्राह' श्लोक में ब्राह्मण के पदार्थ का, किसी प्रकार भी सम्बन्ध नहीं करना चाहिये, जिससे ब्राह्मण का अतिक्रम होता हो—इसी प्रकार शिक्षा देते हैं।

श्लोक—**कृष्णः परिजनं प्राह भगवान्देवकीसुतः।
ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा राजन्याननुशिक्षयन् ॥३१॥**

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों के भक्त, धर्मात्मा, देवकी के पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण राजाओं को शिक्षा देते हुए कुटुम्बियों को कहने लगे ॥३१॥

सुबोधिनी—यावदध्यायपरिसमाप्ति। **सात्त्विकाः प्रथमं धर्मे उपदेष्टव्या** इति। परिजनः पुत्रपौत्रादयः। भगवानिति भाव्यर्थाभिज्ञः। ब्राह्मणातिक्रमादेव तेषामनिष्टं भविष्यतीति। **देवकीसुत** इति। भक्तकृपालुत्वात्तथाभावो न सम्मतः। किञ्च। ब्राह्मणानामपि हितप्रेप्सुः। एवमुपदेशे ब्राह्मणातिक्रमं न कुर्युरिति। किञ्च। **धर्मात्मा** धर्मः स्थापनीय इति। एकेनापि ब्रह्मस्वेन मिलि-

तेन सर्व एव कृतो धर्मो नष्टो भवतीति । किञ्च । राजवंशे स्वयमपि प्रादुर्भावलीलां कृतवान् । अतो राजन्यान् शिक्षयन् धर्मार्थं च धर्मः कर्तव्यः कारणीयश्चेति ॥३१॥

व्याख्यार्थ—कृष्ण, अध्याय समाप्ति तक शिक्षा देते हैं, पहले सात्विकों को धर्म का उपदेश देना चाहिये, पुत्र पौत्र आदि यह परिजन सात्विक अतः पहले इनका नाम आया है, पश्चात् राजस राजाओं का है, भगवान् विशेषण से यह बताया है कि आगे भविष्य में क्या होने वाला है ? जिसको जानते हैं, ब्राह्मणों के अतिक्रम अर्थात् उल्लङ्घन से उनका अनिष्ट होगा देवकी के पुत्र विशेषण का भाव कहते है, वे भक्तों पर कृपा करने वाले हैं, ब्राह्मण का अतिक्रम हो इससे सहमत नहीं हैं, विशेष में ब्राह्मणों का भी हित चाहने वाले हैं, इस प्रकार के उपदेश मिलने से ब्राह्मणों का अतिक्रम न करेंगे और धर्मात्मा विशेषण देकर यह समझाया है कि आपको धर्म का स्थापन करना ही है, ब्राह्मण की एक भी वस्तु अपने पास आजावे तो, किया हुआ सर्व धर्म नाश हो जाता है, आपने भी राजवंश में प्राकट्य लीला की है, अतः क्षत्रियों को शिक्षा देते हैं कि धर्म की रक्षा के लिये स्वयं धर्माचरण करना और दूसरों से भी करवाना चाहिये, यही राज धर्म है । ३१॥

आभास—उपदेशमाह द्वादशभिः दुर्जरं बत ब्रह्मस्वमिति ।

आभासार्थ दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं' इस श्लोक से १२ श्लोकों में उपदेश देते हैं ।

श्लोक—दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं भुक्तमग्नेर्मनागपि ।
तेजीयसोऽपि किमुत राज्ञामीश्वरमानिनाम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण का धन थोड़ा भी खाया जावे तो अग्नि के समान तेजवान पुरुष को भी जब पचाना कठिन है, तो मिथ्या अपने को बड़ा मानने वाले राजा उसको कैसे पचा सकेंगे ॥३२॥

सुबोधिनी—आदौ सात्त्विकान्प्रति उपदिशन् धर्मान्तरेण ब्रह्मस्वं गृहीतं परिहर्तव्यमिति पक्षं निराकरोति । बतेति खेदे । यथा बालकाः सर्पसमीपं चेद्गच्छेयुः, तदा यथा पित्रादयः खेदमाविष्कुर्वन्ति, तथा भगवानाहेति लक्ष्यते । स्वतः उपायान्तरेण वा न जीर्णं भवतीति दुर्जरम् । यतो ब्रह्म वाक्षयम्, तस्यापि स्वमिति । अत्यन्तरङ्गम् । उपभुक्तं चेद्दुर्जरमिति । अजीर्णद्रव्यमिव मृत्युसाधकमुक्तम् । यत्र ब्राह्मणस्य ब्रह्मभूतस्य स्वामित्वभिमानः, तत्र दृष्टप्रकारेणैव दुर्जरं भवति, नृग इव, अन्यथात्वे शास्त्रद्वारेति दृष्टादृष्टाभ्यां दुर्जरम् । यः सर्वमेवोपभुक्तं भस्मसात्करोति, तेनाप्यग्निना उपभुक्तं दुर्जरमेव भवति, न तु भस्मसाद्भवतीति ऐहिकदुर्जरत्वमेव निरूपितम् । ननु 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथे'ति वाक्यात् ज्ञानेन ब्रह्मस्वजरणमिति चेत् तत्राह तेजीयसोऽपीति । ज्ञानं फलोन्मुखं तेजः करोति, तद्वान् तेजस्वी, तस्यापि दुर्जरमुपजीव्यविरोधात्। न हि ज्ञानं स्वोपजीव्यमपि खण्डयति । यत्र ब्राह्मणस्यापि ब्रह्मस्वं दुर्जरम्, तत्र राज्ञां ब्रह्मस्वं कथं न दुर्जरं स्यात् । स्वतो ब्रह्मत्वाभावात् ब्राह्मणोपजीवकत्वाच्च । किञ्च । तत्रापि ये ईश्वर-

मानिनः, स्वस्य क्षात्रं धर्मं परित्यज्य, भगवद्ध- र्ममैश्वर्यमभिमन्यन्ते, तेन परधर्मनिष्ठत्वात् सुत- रामेव ब्रह्मस्वं दुर्जरं भवति ॥३२॥

व्याख्यार्थ—यदि सात्विक कहे कि यों तो ब्राह्मण की वस्तु नहीं लेनी चाहिये, किन्तु धर्मान्तर से उसके ग्रहण का दोष मिटा कर फिर लेने में क्या दोष है ? तो इस पक्ष का भी भगवान् निराकरण करते है 'बत' पद से खेद प्रकट करते हैं, कि धर्मान्तर से दोष मिटा कर लेना भी हानि कारक है इसलिये खेद है जैसे बालक सर्प के समीप जाते है तो उनको देख पिता आदि खेद प्रकट करते हैं वैसे भगवान् भी कहते हैं, यों समझा जाता है, ब्राह्मण की आई हुई वस्तु स्वतः नहीं पचती है और न किसी दूसरे उपाय से पचाई जा सकती है, क्योंकि 'दुर्जर' है अर्थात् पचानी कठिन है क्योंकि प्रथम ब्रह्म ही अक्षय है उसमें भी फिर अक्षय ब्रह्म का सर्वस्व, जो अतिशय अन्तरङ्ग है वह यदि खाया जावे तो उसको पचा लेना कठिन है अजीर्ण द्रव्य के समान मृत्यु को सिद्ध करता है, जहाँ ब्रह्मभूत ब्राह्मण का 'स्वं' यह अभिमान अर्थात् सर्वस्व है, वहां प्रत्यक्ष देखे हुए नृग के दृष्टान्त से समझ लेना चाहिये कि वह 'दुर्जर' है, दूसरे शास्त्र प्रकार से भी दृष्ट और अदृष्ट दोनों से दुर्जर है, जो खाने पर सर्व को ही भस्म करता है, उससे भी अग्नि से उपभुक्त 'दुर्जर' ही हो जाता है, न कि भस्म हो जाता है, इसलिये ऐहिक दुर्जरत्व ही कहा है, शङ्का करते हैं कि गीता में कहा है कि ज्ञानाग्नि सर्व कर्मों को भस्म कर देती है, तो ज्ञानाग्नि से इस ब्रह्मस्व को भी पचा लेंगे, इस शङ्का का उत्तर दिया है कि 'तेजीयसोऽपि' अर्थात् ज्ञान जो है वह फलोन्मुख तेज करता है उससे सम्पन्न तेजस्वी कहा जाता है वह भी इसको आश्रय के विरोध से पचा नहीं सकते हैं, ज्ञान अपने आश्रय को भी खण्डन नहीं कर सकता है, जहां ब्राह्मण भी ब्रह्मस्व को नहीं पचा सकता है तो वहां क्षत्रिय को ब्रह्मस्व क्यों न दुर्जर होगा ? क्षत्रिय में स्वतः ब्रह्मत्व का अभाव है ब्राह्मण ही उनके आश्रय है, वहां भी जो अपना क्षात्र धर्म त्याग कर भगवद्धर्म जो ऐश्वर्य है उसको अपना धर्म समझते हैं, इससे पर धर्म में स्थित होने से उनको तो सुतरा ही ब्रह्मस्व दुर्जर है । ३२॥

आभास—एवं मरणपर्यवसायित्वमुक्त्वा तादृशान्यन्यान्यपि सन्तीति अनुपमार्थमितरं निषेधति नाहं हालाहलं मन्य इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार यह ब्रह्म स्वरूप विष मृत्यु दाता हैं तो अन्य भी वैसे मृत्युप्रद विष मौजूद हैं, इस पक्ष का 'नाहं हालाहल श्लोक में निराकरण करते हुए कहते हैं कि वैसे विष अन्य नहीं है ।

श्लोक—नाहं हालाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया ।
ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नास्य प्रतिनिधिर्भुवि ॥३३॥

श्लोकार्थ—मैं विष को हालाहल[1] नहीं मानता हूँ; क्योंकि उसके उतारने का

१–'न विषमित्याहुर्ब्रह्म स्वं विषमुच्यते, विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्व पुत्र पौत्रकं' अर्थ– ज्ञानी विष को विष नहीं कहते हैं ब्राह्मण के द्रव्य के उपभोग को विष कहते हैं, क्योंकि विष एक को नाश करता है ब्रह्मस्व वंश को नष्ट कर देता है–

उपाय है, सत्य विष तो ब्राह्मण का द्रव्य ही है; क्योंकि पृथ्वी पर इसका कोई प्रतिनिधि नहीं है ॥३३॥

सुबोधिनी – समुद्रोद्भूतं महादेवेन पीतं विषं हालाहलम् । न विषमात्रम् । तस्यापि महादेवभक्षितस्य प्रतीकारो दृष्ट इति तस्य विषत्वमेव नास्ति । यद्यपि वाक्यान्तरे 'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते । विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रक'मिति प्रकारान्तरेण क्रूरता निरूपिता, तथापि तस्याप्यनङ्गीकारार्थमप्रतिक्रियामेवाह । यतो ब्रह्मस्वस्य प्रतिक्रियाभावः, अन्यथा नृगप्रार्थनया सर्वमित्रयोर्ब्राह्मणयोर्दया स्यात् तदा प्रतिक्रियां कुर्वीताम् । ननु तस्यापि प्रतीकारो दृष्टः, कृकलासशरीरं प्राप्य मुक्त इति, तत्राह भुवीति । यथास्थितस्य न प्रतीकार इत्यर्थः ।३३।

व्याख्यार्थ—समुद्र से निकला हुआ और जिसको महादेव ने पिया है, उसको हालाहल कहते हैं, वह केवल विष नहीं है, कारण कि उसका भी उपाय है इसलिये वह विष ही नहीं है क्योंकि सत्य विष तो वह है जिसका उपाय न हो और जो जड़ से वंश का नाश करदे, यद्यपि 'न विषं' इस दूसरे वाक्य में उसकी क्रूरता दिखाई है किन्तु यहाँ उस क्रूरता के अतिरिक्त इस ब्रह्मस्व विष को अनुपाय[1] भी कहा है, यदि यह ब्रह्मस्व उपाय वाला होता तो नृग की प्रार्थना करने पर, दोनों ब्राह्मणों को नृग के ऊपर दया आजाती कारण कि ब्राह्मण स्वभाव से सर्व के मित्र होते हैं, जिससे अवश्य उसके संकट का उपाय कहते, यदि कहो कि इसका भी यह उपाय देखा कि गिरगिट योनि को पाकर मुक्त हो गया, जिसका उत्तर देते हैं कि 'भुवि' पृथ्वी पर कोई उपाय नहीं है, अर्थात् जैसे विषवाले का विष उपाय से उतारने पर वह फिर वैसा ही पृथ्वी पर घूमता फिरता है, वैसा इसका उपाय नहीं है ॥३३॥

आभास—तमपि विशेषमाह हिनस्ति विषमत्तारमिति ।

आभासार्थ—उसकी विशेषता 'हिनस्ति' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—हिनस्ति विषमत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति ।
कुलं समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः ॥३४॥

श्लोकार्थ—विष तो केवल खाने वाले को मारता है, अग्नि जल से शान्त होती है, ब्रह्मद्रव्यरूप अरणि से उत्पन्न अग्नि कुल को समूल जला देती है ॥३४॥

सुबोधिनी – अप्रतीकारेऽपि विषमत्तारमेव हिनस्ति । विषादग्निः क्रूर इति तत्तुल्यो भविष्यतीत्याशङ्क्याह अद्भिरग्निः प्रशाम्यतीति । दृष्टत्वात् न लौकिके हेतुर्वक्तव्यः, अलौकिकेऽपि आपो वा अग्नेर्भ्रातृव्या' इति श्रुतेः अद्भिः प्रशाम्यत्येव । ब्रह्मस्वस्य प्रशान्तौ हेतुमाह कुलं समूलं दहतीति ।

१—जिसका कोई उपाय ही नहीं है,

ब्रह्मस्वमेव अरणी याभ्यां मथने अग्निर्भवति । स हि यजमानं यदर्थं आधीयते,' तमपि दग्ध्वा शाम्यति, यावज्जीवाधिकारादग्निहोत्रस्य । ब्रह्मस्वलक्षणा स्वरणि: कुलार्थमेव प्रविष्टेति कुलमेव दग्ध्वा शाम्यति । न हि कश्चिद्धर्मार्थी परलोकार्थी वा ब्रह्मस्वं गृह्णाति । शरीरमपि कुलोद्भवमिति वंशजनकमिति च कुलमेव पोषयति । निषिद्धार्थौ ब्रह्मस्वग्रहणे उभाभ्यां सर्वनाशः । कुलमित्युपलक्षणं वा । यत्रैव क्वचिद्ब्रह्मस्वं सम्बध्यते, तमेव दहतीति सर्वमविवादम् । समूलमिति । कुलरक्षकधर्ममपि उपजीवकत्वात् दहति ॥३४॥

व्याख्यार्थ—यदि विष खाने पर उपाय न किया जावे तो भी वह विष केवल खाने वाले को ही मारता है, विष से अग्नि क्रूर है, इसलिये उसके समान होगा ? तो कहते हैं कि नहीं अग्नि तो जल से शान्त होती है, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसलिये लौकिक में कारण बताने की आवश्यकता नहीं है, अलौकिक में भी श्रुति ने कहा कि 'जल अग्नि का भ्राता हैं, इसलिये अग्नि जल की प्राप्ति से शान्त हो जाती है, ब्रह्मस्व से उत्पन्न अग्नि शान्त नहीं होती है, किन्तु कुल को जड़ से जला देती है, ब्रह्मस्व ही अग्नि को उत्पन्न करने वाली अरणी है, अरणी से उत्पन्न अग्नि जिसके लिये लाई जाता है उस यजमान को जलाने के अनन्तर शान्त होती है, कारण कि 'अग्नि होत्र' जीवन पर्यन्त करना ही है, ब्रह्मस्वरूप जो अरणी है वह कुल के लिये ही प्रविष्ट हुई है, इसलिये कुल को जला कर ही शान्त होती है. कोई भी मनुष्य ब्राह्मण का धन धर्म के लिये वा परलोक के लिये नहीं लेता है किन्तु शरीर पोषणार्थ ग्रहण करता है. शरीर भी कुल में उत्पन्न होने से वंश को उत्पन्न करने वाला है, इससे जाना जाता है कि वह ब्राह्मण का धन कुल का ही पोषण करता है, निषिद्ध किया हुआ पदार्थ और ब्राह्मण का धन, इन दोनो के ग्रहण करने से सर्व का नाश होता है. यहां कुल' पद तो केवल उपलक्षण तरीके से कहा है, वास्तविक तो जहां भी वह ब्राह्मण-द्रव्य जाता है उस सर्व को जला के भस्म कर देता, जिसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है. कुलकी रक्षा करने वाला जो उपजीवक धर्म है उसको भी जला देता है ॥३४।

आभास— सामान्यत: कुलनाशकत्वं ब्रह्मस्वस्योपपाद्य विशेषतो व्यवस्थामाह ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातमिति ।

आभासार्थ— ब्राह्मण के धन को सामान्य रीति से कुल नाशक प्रतिपादन कर, विशेष प्रकार से व्यवस्था 'ब्रह्मस्वं' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं भुक्तं हन्ति त्रिपूरुषम् ।
प्रसह्य तु बलाद्भुक्तं दश पूर्वान्दशापरान् ॥३५॥

श्लोकार्थ—प्रेम से जिसकी आज्ञा देने वाले ने नहीं दी है, ऐसा ब्राह्मण का द्रव्य यदि खाया जावे तो वह द्रव्य तीन पुरुषों को (पीढ़ी का) नाश करता है, यदि बल से हठ कर लिया हुआ ब्राह्मण का द्रव्य खाया जाय तो वह द्रव्य दस पहली और दस होने वाली पीढ़ी को भस्म कर देता है ॥३५॥

सुबोधिनी—दुष्टतया अनुज्ञातम्, मनसि अदत्त्वैव वाङ्मात्रेणानुज्ञातम्, यथा बलाद्गृहीत्वा अनुज्ञां प्रार्थयति । ततो बलिष्ठं ज्ञात्वा मारणादिशङ्कया अनुगृह्णाति, तत् दुरनुज्ञातम् । तच्चेद्भुक्तम्, तदा त्रिपूरुष हन्ति भोक्ता तत्पुत्र. पौत्रश्चेति त्रय: पुरुषा: । चौर्यभुक्तं तु निषिद्धत्वान्महापातके पर्यवस्यति । प्रसह्य धृत्वा अतिक्रमं कृत्वा शास्त्रत: बलाल्लोकतश्च भुक्तमेकविंशतिपुरुषान् दहति । तत्र दशपूर्वा. पितृपितामहादय:, परे पुत्रपौत्रादय:, स्वयमेकविंश: । प्रसहनबलयोरान्तरबाह्यभेदेन व्यवस्था. वैदिकलौकिकभेदेन वा । कश्चित् बलाद्गृह्यमाणं प्रयच्छति, स्वयं बलमकृत्वा, कश्चित्तु स्वयमपि बलं करोतीति न पौनरुक्त्यम् ।
॥३५॥

व्याख्यार्थ—मन में तो देने की इच्छा नहीं है, केवल वाणी से आज्ञा दी है, जैसे जबर्दस्ती से पकड़ कर फिर उससे आज्ञा लेनी, जिससे वह उसको बलिष्ठ जान मार डालेगा आदि शङ्का से द्रव्य लेने की आज्ञा दे देता है, यह प्रेम रहित जबर्दस्ती से ली हुई आज्ञा है, ऐसी आज्ञा से प्राप्त ब्राह्मण द्रव्य खाने पर वह तीन पीढी को नाश करता है, खाने वाला उसका पुत्र और पौत्र ये तीन पुरुष हैं, चोरी से लाकर खाये हुये की महा पातक में गिनती होती है, शास्त्र, बल और लोक का अतिक्रम कर जबर्दस्ती से लाकर खाया जावे तो वह इक्कीस पीढ़ीयों को भस्म कर देता है, उसमें दश पहली पिता पितामह आदि दश पिछली पुत्र और पौत्र आदि को भस्म करता है, स्वयं इक्कीसवां समझना चाहिये, जबर्दस्ती और बल इनका आन्तर और बाह्य भेद से व्यवस्था जाननी अथवा वैदिक और लौकिक भेद से व्यवस्था जाननी, कोई स्वयं, अपना बल प्रकट कर देना चाहता किन्तु लेने वाला बलिष्ठ होने से लेता है इसलिये पुनरुक्ति नहीं है ॥३५॥

आभास—नन्वेवं धर्मशास्त्रे प्रसिद्धे कथं ब्रह्मस्वापहारो भविष्यतीत्याशङ्क्याह राजान इति ।

आभासार्थ—जब इस प्रकार धर्म शास्त्र में ब्रह्मस्व के लिये प्रसिद्ध कहा गया है तब ब्रह्म द्रव्य का अपहरण कैसे वा क्यों किया जाता है ? इस शङ्का का उत्तर 'राजानो' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—**राजानो राजलक्ष्म्या च नात्मपातं विदन्ति ते ।**
निरयं येऽभिमन्यन्ते ब्रह्मस्वं साधु बालिशा: ॥३६॥

श्लोकार्थ—प्रथम राजा होने से; फिर राजलक्ष्मी से वे अपना पतन होगा, यों नहीं समझते हैं, ऐसे जो राजा हैं, वे ब्रह्मस्व को नरक का साधन नहीं मानते हैं, किन्तु श्रेष्ठ समझते हैं; क्योंकि अज्ञ हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—प्रथमतो राजत्वादेव, तत्रापि राजलक्ष्म्या । चकारादभिजनादिमदै: आत्मन: पातं न विदन्ति, यतस्ते शास्त्रोक्ता राजान:, अन्यथा 'राज्यान्ते नरकं ध्रुव'मिति न स्यात् । अन्यत् क्षत्रियस्य व्याप्यमेव, ब्राह्मण एव परं व्यापका, ते चेद्ब्रह्मस्वं जानीयु: नरकसाधनत्वेन, तदा न गृह्णीयु: । न हि कश्चिन्नरके पतति । अत एव निरयरूपं ब्रह्मस्वं साधु मन्यन्ते । यतो बालिशा: ॥३६॥

व्याख्यार्थ— ब्रह्म द्रव्य लेने से पतन होगा, यों राजा होने से तथा राज लक्ष्मी के मद से नहीं समझते है क्योंकि वे शास्त्र में जिनके लिये 'राज्य के अन्त में'; निश्चय से नरक लिखा है वे राजा हैं,क्षत्रिय में अन्य प्रकार से व्याप्य है और ब्राह्मण में ही यह अच्छी तरह व्यापक है अर्थात् ब्राह्मण ब्रह्मस्व को नरक का साधन समझते है क्षत्रिय नहीं जानते हैं, यदि वे इसको नरक का साधन जाने तो ग्रहण न करे, वे यों समझते हैं कि ब्रह्मस्व लेने से कोई नरक में नहीं पड़ता है, इस कारण से निरय रूप ब्रह्मस्व को श्रेष्ठ समझते है क्योंकि नासमझ हैं ।।३६।।

आभास—सामान्यतो नरकमुक्त्वा विशेषया गृह्णन्तीति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—सामान्य रूप से नरक का वर्णन कर गृह्णन्ति' आदि दो श्लोकों से विशेष प्रकार से वर्णन करते है ।

श्लोक—गृह्णन्ति यावतः पांसून्क्रन्दतामश्रुबिन्दवः ।
विप्राणां हृतवृत्तीनां वदान्यानां कुटुम्बिनाम् ।।३७।।
राजानो राजकुल्याश्च तावतोऽब्दान्निरङ्कुशाः ।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते ब्रह्मदायापहारिणः ।।३८।।

श्लोकार्थ— लोभ आदि दोष रहित अर्थात् उदार और कुटुम्बी, ऐसे ब्राह्मणों की वृत्ति का जब हरण हो जाता है, तब उनके नेत्रों से अश्रुओं के बिन्दु गिर कर, जितने रज के कणों को भिगोते हैं, उतने वर्ष तक निरंकुश होकर ब्रह्मस्व अथवा वृत्ति का हरण करने वाले राजा लोग तथा राजकुल में जन्मे हुए कुम्भी पाक नरक में पकाये जाते हैं ।।३७-३८।।

सुबोधिनी— हृतवृत्तीनां रुदतामश्रुबिन्दवो यावतः पांसून् गृह्णन्ति । अन्त.शोके हि रोदनम्, तस्य च परिमितिरश्रुभिर्भवति । अश्रूणां च परिमाणं कार्यवशात्, अतो रेणूनां सङ्ख्ययैव शोकसङ्ख्या । निमित्तान्तरं निराकर्तुं हृतवृत्तीनामिति । वदान्यानामिति लोभादिदोषनिषेधः । कुटुम्बिनामिति ह्रियमाणपदार्थावश्यकत्वम् । तदा ब्रह्मस्वता सम्पद्यते अत्यावश्यकत्वात् । निषिद्धायाः क्रियायाः ब्राह्मणविषयाया पांसुद्वारेवानिष्टनिर्णयो वेदे निरूपितः । 'यावतः प्रस्कन्द्य पांसून् संगृह्णात्, तावत: संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजाना'दिति श्रुतेः । एकेन निमित्तमुक्त्वा अपरेण फलमाह राजानो राजकुल्याश्चेति । राजकुल्याः राजकुलोत्पन्नाः । चकारात्तत्सम्बन्धिनोऽन्ये च, य एव हरणे समर्थाः । तावतः अब्दान् वर्षानभिव्याप्य कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते । प्रासङ्गिकदोषपरिहारार्थमाह ब्रह्मदायापहारिण इति । निरङ्कुशा इति । तेषां नियामकश्चेन्न स्यात्, अन्यथा तस्यैव दोषो भवेत् ।।३८।।

व्याख्यार्थ - वृत्ति (जीविका) हरण हो जाने से, रुदन करते हुए ब्राह्मणों के अश्रुओं के बिन्दु जितने रजः कणों को भिगोते हैं उतने वर्ष वे निरङ्कुश हो वृत्ति या ब्रह्म धन हरण करने वाले

राजा अथवा राजकुल में उत्पन्न कुम्भीपाक नरक में पकाये जाते हैं। अन्तःकरण में जब शोक होता है तब रोना आता है, उसका माप आंसुओं से होता है कि इनको कितना दुःख हुआ है, अश्रुओं का माप उसके कार्य से होता है, अतः रजः कणों की सङ्ख्या से ही शोक की सङ्ख्या गिनी जाती है, उन ब्राह्मणों के रोने का दूसरा निमित्त न हो किन्तु जीविका का हरण हो, वे ब्राह्मण भी लोभ आदि दोष रहित हो, और कुटुम्ब वाले हो क्योंकि उनको हरण किये हुए पदार्थ की आवश्यकता रहती है. जब ये सब कारण हो तब अति आवश्यकता से, वह पदार्थ ब्रह्मस्व होता है, ब्राह्मण सम्बन्धी जिस क्रिया का निषेध किया गया है यदि वह क्रिया की जावे तो उससे होने वाले अनिष्ट फल का रज. कण द्वारा ही वेद में निरूपण किया गया है, जैसा कि 'यावत: प्रस्कन्द्य पांसून् संगृह्णात् तावत: संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानात्' इति श्रुतिः, वेद कहता है कि ब्राह्मणों के अश्रुबिन्दु जितने रजः कण को भिगोते हैं, उतने संवत्सर ब्रह्मस्व हरण करने वाला पितृ लोक में नही जा सकता है अर्थात् उतने वर्ष नरक में पड़ा रहता है, एक श्लोक से कारण कह कर दूसरे से मूल कहता है, राजा तथा राजकुल में उत्पन्न और 'च' से उनके दूसरे सम्बन्धी भी समझते, जो हरण कर सकते हो, ये सर्व उतने वर्ष कुम्भीपाक नरक में पकाये जाते हैं, प्रासङ्गिक दोष के परिहार के लिये कहते हैं कि, वे अङ्कुश रहित हो ब्रह्मस्व हरण करते है उनका नियमन करने वाला यदि न होवे, तो उसका ही दोष गिना जायगा ॥३८॥

आभास—ब्रह्मस्वविशेषस्यापहारे दोषविशेषमाह स्वदत्तामिति ।

आभासार्थ—विशेष ब्रह्मस्व के हरण करने से विशेष दोष होता है जिसका वर्णन 'स्वदत्तां' श्लोक में करते है ।

श्लोक—स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः ।
षष्टिर्वर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमि. ॥३९॥

श्लोकार्थ—जो अपनी दी हुई अथवा अन्य की दी हुई ब्राह्मण की जीविका का हरण करता है वह साठ हजार वर्ष विष्टा में कीड़ा होकर रहता है ॥३९॥

सुबोधिनी—पूर्वं स्वेनैव दत्ता, पश्चाद्ब्राह्मणास्वारस्ये हृता, परेण राज्ञा दत्ता, परराज्यहरणेन हृता । पित्रादिदत्तां स्वदत्तामेवाहुः स्वयमेव पितेति । नात्र धनं विषयः, किन्तु वृत्तिभूम्यादिः, यत्र निरन्तरं जीवनसाधनमुत्पद्यते । ब्रह्मवृत्तिर्ब्राह्मणानामेव जीवनसाधनोत्पत्तिस्थानम् । तादृशः षष्टिवर्षसहस्राणि नरकरूपायां विष्ठायां कृमिर्भूत्वा तिष्ठति । षष्टिसंज्ञकः संवत्सरः । प्रभवादयः तस्य संज्ञाः । ते सहस्रधा आवृत्ता इति तावद्वर्षाणि । सर्वतो बीभत्सिता सेति उत्पत्तिरेव तत्रेति न क्वचिदपि तस्मिन् शरीरे सुखसम्बन्ध इत्युक्तम् ॥३९॥

व्याख्यार्थ—प्रथम अपनी दी हुई जीविका ब्राह्मण से मेल न होने पर लौटा कर लेनी, दूसरे राजा ने दी हो, दूसरे का राज्य हरण करने पर, उस राजा की ब्राह्मण को दी हुई जीविका ले लेनी पिता आदि ने दी हो वह भी अपनी ही दी हुई समझनी चाहिये क्योंकि आप पिता का ही रूप है, यहां धन का

विषय नहीं है, किन्तु जीविका का विषय है, जीविका का साधन भूमि आदि है, जिसमें से सदैव जीविका के साधनों की प्राप्ति होती है ब्राह्मणों की जीविका भूमि आदि है क्योंकि उससे ब्राह्मणों के जीवन के साधनों की उत्पत्ति होती रहती है, वैसी भूमि आदि जो छीन लेता है वह साठ हजार वर्ष नरकरूप विष्ठा में कीड़ा हो कर रहता है, प्रभव आदि संवत्सर के नाम हैं वे हजार वार आवृत्ति करे उतने वर्ष वहां रहता है, सब से डरने वाली वह विष्टा है, ऐसे की उत्पत्ति ही विष्टा में और इतना समय रहना भी वहां जिससे उस शरीर में थोड़ा भी सुख नहीं है ॥३९॥

आभास—एवं ब्रह्मस्वदोषानुक्त्वा स्वकीयेषु तदभावं प्रतिजानीते न मे ब्रह्मधनं भूयादिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्मस्व हरण का दोष बता कर अपने जो है, उनमें यह न हो ऐसी प्रतिज्ञा 'न में ब्रह्म धनं' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—न मे ब्रह्मधनं भूयाद्यद्गृद्ध्राल्पायुषो नृपाः ।
पाराजिताश्च्युता राज्याद्भवन्त्युद्वेजिनोऽहयः ॥४०॥

श्लोकार्थ—मेरे घर में ब्राह्मण का धन न आवे, जिस धन के लोभ से राजा लोग अल्प आयुष्य वाले, पराजित, राज्य से भ्रष्ट होते हैं, सर्प के समान उद्वेग वाले होते हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—स्वतो दैववशाद्वा ब्रह्मस्वं सङ्क्रान्तं भवतीति मे न भूयादिति देवप्रार्थनेव वचनम् । प्रमादादागते को दोष इति चेत्, तत्राह यद्गृद्ध्राल्पायुष इति । यद्गृद्ध्रा यदभिकाङ्क्षिणश्च ते अल्पायुषश्च । ग्रहणमात्र एवायुःक्षयो भवतीत्युक्तम् । आपद्गतानां तथा दोषो न भवतीति नृपा इत्युक्तम् । दैवगत्या मरणाभावेऽपि शत्रुभिः पराजिता भवन्ति । राज्यात् च्युताः ततो मृताः स्थानभ्रष्टा जनोद्वेजनकर्तारः सर्पा भवन्ति। अत ऐहिकामुष्मिकदोषस्य विद्यमानत्वात् तत्सङ्क्रमो मा भवत्विति ॥४०॥

व्याख्यार्थ—अपने से अथवा दैव वश होके ब्रह्मस्व प्राप्त हो जाता है, किन्तु हमको तो वह नहीं चाहिये, इस प्रकार के वचन मानो देव की प्रार्थना के लिये ही कहे हैं, यदि कहो कि भूल से आजावे तो इसमें क्या दोष है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जो उसको चाहते हैं उनकी आयु कम हो जाती हैं, केवल लेते ही आयु क्षीण होती रहती है, जो आपद् ग्रस्त हैं उनको यह दोष नहीं लगता है, इसलिये 'नृपाः' कहा है, दैव की गति से मरने के अभाव होते हुए भी वे शत्रुओं से पराजित हो जाते है राज्य से गिरने से मरे जैसे होते है तथा स्थान भ्रष्ट होते हैं और मनुष्यों को उद्वेग कर्त्ता होने वाले सर्प सम हो जाते हैं अतः ब्रह्मस्व में ऐहिक और आमुष्मिक दोष विद्यमान होने से उसका मिलन न हो, यह प्रार्थना है ॥४०॥

आभास—ननु ब्राह्मणः स्वयं चेदपराधं कुर्यादसह्यम्, तदा किं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह विप्रं कृतागसमपीति ।

आभासार्थ—यदि ब्राह्मण स्वयं असह्य अपराध करे तो तब क्या करना चाहिये । इस प्रश्न का उत्तर 'विप्रं कृतागसं' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—**विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः ।**
घ्नन्तं बहु शपन्तं च नमस्कुरुत नित्यशः ।।४१।।

श्लोकार्थ—हे मेरे जन ! आप अपराधी ब्राह्मण का भी द्रोह मत करो, चाहे वह मारे वा गाली दे तो भी उनको हमेशा नमस्कार ही करो ।।४१।।

सुबोधिनी—मामका इत्यनेन ब्रह्मण्यदेवत्वात् स्वस्य देवता देवता सुतरां मान्या भवतीति अद्रोहे हेतुरुक्तः, नियमेन द्रोहं मा कुरुत । प्रमादापराधविषयमेतदित्याशङ्क्याह घ्नन्तं बहु शपन्तं चेति । मानसापराधे किं वक्तव्यम्, कायिकवाचिकापराधेऽपि द्रोह मा कुरुत । बह्वित्युभयत्र सम्बध्यते । हननमत्र ताडनम्, न तु शिरश्छेदः । 'जिघांसन्तं जिघांसीया'दिति वाक्यात् । शापोऽवगूरणम् । मदीयानां शापो न भवतीति भयाभावात् न केवलं तूष्णीं स्यातव्यम् । तथा सति ब्राह्मणस्य भयोत्पत्तिसम्भवात् पुनरपकारः स्यात् । किन्तु नित्यं नमस्कुरुत शङ्काभावार्थम् ।।४१।।

व्याख्यार्थ—अपराधी ब्राह्मण का भी क्यों न द्रोह किया जावे ? जिसमें कारण कहते है कि उनमें ब्रह्मण्य देवता रहता है, सुतरां मान देने योग्य है, अतः नियम से द्रोह न कीजिये यदि कहो कि यह विषय तो प्रमाद से अपराध हो जावे जिसका है, इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, यदि ब्राह्मण ताड़ना करे वा क्रोध मे आकर गाली दे तो भी शाप न लगेगा इस प्रकार भय न होने से चुप हो कर मत बैठो किन्तु उनको नित्य नमस्कार ही करो क्योंकि चुप रहने से ब्राह्मण के हृदय में भय की उत्पत्ति होगी जिससे फिर अपकार होगा, अतः नमस्कार नित्य करते रहो. जहां कायिक वाचिक अपराध ब्राह्मण करे तो उनको नमस्कार ही करनी है तो मानस अपराध करे तो क्या कहा जाय ? अर्थात् इससे विशेष नम्रतापूर्वक नमन आदि ही करना चाहिये । ४१।।

आभास—ननु सर्वात्मकत्वाद्भगवतः व्यवहारस्यापि न तथाभावात् वेदलोकविरुद्धं कथं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **यथाहमिति** ।

आभासार्थ - भगवान् सर्वात्मक है इसलिये यों करने से व्यवहार भी नहीं बन सकेगा, अतः लोक और वेद के विरुद्ध जो कर्त्तव्य है वह कैसे किया जावे ? जिस शङ्का को मिटाने के लिये यथाहं' श्लोक में उपपत्ति बताते है ।

श्लोक—**यथाहं प्रणमे विप्राननुकालं समाहितः ।**
तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक् ।।४२।।

श्लोकार्थ— जिस प्रकार हम सावधान होकर हर समय ब्राह्मणों को नमन करते हैं, वैसे तुम भी नमन करो, जो यों नहीं करता है, वह मुझ से दण्ड पाता है ॥४२॥

सुबोधिनी—मदीयानां हि मत्कृतं कर्तव्यम्, किं लोकेन वेदेन वा। अहं तु त्रिकालं सावधानो भूत्वा भृगुमिव, विप्रत्वेनैव विप्रमात्रं प्रणमे, तथा यूयमपि नमत। न हि मत्तो यूयमधिकाः। चकाराद्भगवदीयाश्च। अनङ्गीकारे बाधकमाह। योऽन्यथा सावधानतया ब्राह्मणं न नमस्करोति, स मे दण्डभाक्, मम दण्डयुक्तो भविष्यति ।४२।

व्याख्यार्थ—जो मेरे हैं, उनको, जैसा मैं कर रहा हूँ, वैसा ही करना चाहिये, उनका लोक तथा वेद से क्या सम्बन्ध है ? मैं तो तो तीन ही काल सावधान होके भृगु की तरह ब्राह्मणपन के कारण ब्राह्मण मात्र को नमन करता हूँ वैसे आप भी नमन करो, तुम मुझ से विशेष नहीं हो, 'च' शब्द कह कर बताया है कि जो भगवदीय हैं, उनको तो यों नमन अवश्य करना चाहिये, जो इस आज्ञा को नहीं मानता है अर्थात् सावधान हो नमन नहीं करता है, वह मुझ से दण्ड पाता है ।।४२।।

आभास—ननु किमेवं निर्बन्ध इति चेत्, तत्राह ब्राह्मणार्थ इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार आग्रह किस लिये ? इसका समाधान 'ब्राह्मणार्थ' श्लोक में करते है।

श्लोक—ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतो हर्तारं पातयत्यधः ।
अजानन्तमपि ह्येनं नृगं ब्राह्मणगौरिव ॥४३॥

श्लोकार्थ—जैसे अनजाने भी नृग राजा को ब्राह्मण की गौ ने नीच योनि में गिराया, वैसे ही अपहृत ब्राह्मण का द्रव्य अपहरण करने वाले का अधः पात करता है।।४३।।

सुबोधिनी—मदीया ऊर्ध्वगतिमेव यास्यन्ति, ब्राह्मणार्थस्त्वपहृतः स हर्तारं पातयति। अपहारे कृतेऽधः पातयत्येव। अजानन्तमपि अज्ञाने फले न किञ्चिद्वैगुण्यम्। एनं नृगं ब्राह्मणगौरिवेति स्पष्टो दृष्टान्तः ॥४३॥

व्याख्यार्थ – मेरे जो भक्त हैं उनकी उच्च गति ही होती है, जो ब्राह्मण के द्रव्य का अपहरण करता है उसको वह ब्राह्मण द्रव्य नीच योनि में गिराता है, अपहरण करने पर निश्चय पूर्वक नीचे गिराता ही है, जानते वा अनजानते अपहरण का फल समान ही होता है, जैसे नृग राजा को ब्राह्मण की गौ ने गिराया, यह प्रत्यक्ष दृष्टान्त मौजूद है ॥४३॥

आभास—एवमुपदेशं कृत्वा प्रसङ्गात्पूर्वद्वारकायामागतः तत्रैव तिष्ठेदित्याशङ्क्य, ततो गतस्य मुख्यद्वारकास्थगृह एव स्थितिमाह एवं विश्राव्येति ।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार उपदेश देकर प्रसङ्ग से प्रथम ही द्वारका में आये हुए वहां ही रहे, ऐसी शङ्का होने पर 'एवं विश्राव्य' श्लोक में कहते है कि उपदेश के पश्चात् ही द्वारका में स्थित मुख्य ग्रह में ही आकर विराजें।

श्लोक— एवं विश्राव्य भगवान्मुकुन्दो द्वारकौकसः ।
पावनः सर्वलोकानां विवेश निजमन्दिरम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—मोक्ष देने वाले तथा सर्व लोकों को पवित्र करने वाले भगवान् द्वारकावासियों को इस प्रकार सर्व कथा सुनाते हुए, उपदेश देकर पश्चात् अपने मन्दिर में प्रविष्ट हुए ॥४४॥

सुबोधिनी—सर्वान् विशेषेण श्रावयित्वा भगवांस्तावतैव कार्यं मत्वा सर्वेषां मोक्षदाता ब्राह्मणातिक्रमाभावे मोक्षो भविष्यतीति । द्वारकौकस इति । निरुद्धास्त एवेति मोक्षदात्रा संरक्षिताः, भगवत्स्थान एव स्थिताः,भगवतैव पूताः। तानुद्धृत्य संसारान्निजमन्दिरं स्वगृहं विवेश। अनेन सामान्यतः सात्विकानां निरोध उक्तः। ॥४४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने सब को विशेष रूप से यह नृग चरित्र उपदेश सहित कहा जिससे ही कार्य पूर्ण समझा, इस उपदेश में ही मोक्षदाता भगवान् ने कह दिया कि ब्राह्मणों का प्रतिक्रम नहीं करेगा वह मुक्त होगा, यह उपदेश द्वारकावासियों को दिया है उनकी ही मोक्ष दाता ने रक्षा की है क्योंकि वे ही निरुद्ध हैं, वे ही भगवान् के स्थान में ही स्थित हैं और भगवान् ने उनको पवित्र किया है,उनका संसार से उद्धार कर पश्चात् अपने मन्दिर मे प्रविष्ट हुए. इससे साधारण रूप से सात्विकों का निरोध वर्णन किया ॥४४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ६१वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्विक प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का पहला अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

राग सारंग—　## "नृग राजा उद्धार"

अविगत गति जानी न परै।
राई तैं परबत करि डारै, राई मेरू करै ॥
नृग राजा नित गऊ सहस दै, करत हुतो जल-पान।
तनक चूक तैं गिरगिट कीन्हो, को करि सकै बखान ॥
कूप माहँ तिहिँ देखि बालकनि, हरि सौं कह्यो सुनाइ।
कृपानिधान जानि अपनौ जन, आए तहँ जदुराइ ॥
अंधकूप तैं काढि बहुरि तेहिँ, दरसन दै निस्तारा।
सूरदास सब तजि हरि भजियै, जब कब करै उधारा ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६५वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६२वां अध्याय

उत्तरार्ध का १६वां अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

"२रा अध्याय"

श्री बलरामजी का व्रजगमन

कारिका – विशेषे सात्त्विके रोधे तामसादिविभागतः ।
पूर्वं राजसमापन्नाः सत्त्वभावं तथानयत् ॥१॥

कारिकार्थ—१५वें अध्याय के अन्त में सामान्य निरोध का उपसंहार किया, इसके अनन्तर पञ्चाध्यायी का अर्थ जो विशेष निरोध है, उसका निरूपण करते हैं, तामस प्रकरण में लीला द्वारा तामस भाव का निवारण कर राजस भाव का सम्पादन किया, राजस प्रकरण में उसको भी निवृत्त कर सात्त्विक भाव प्रकट किया, सात्त्विक प्रकरण में निर्गुण भाव सम्पादन किया, पश्चात् मुक्ति के स्कन्ध में मोक्ष का वर्णन किया है, इस प्रकार निबन्ध में विभाग निरूपण किए हैं ॥१॥

कारिका—तेषां सात्त्विकरूपाणां सकामत्वाद्बलेन हि ।
निरोधं कारयामास षोडशे तन्निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—जो सात्त्विक भाव को प्राप्त हो गए, वे सकाम होने से उनका बलरामजी द्वारा निरोध करवाया है, कारण कि काम तामस है, सङ्कर्षणजी भी वैसे ही हैं, इसलिए उनके द्वारा ही वैसों का निरोध हुआ है, जिसका वर्णन इस १६वें अध्याय में किया है, इससे निष्कामत्व सिद्ध हो जाने पर कुरुक्षेत्र के प्रसङ्ग में स्वयं आप निर्गुणत्व सिद्ध करेंगे, इसी तरह प्रकरण की सङ्गति है ॥२॥

कारिका—ततः स्वरूपभावानां दुष्टानां दोषनुद्धरिः ।
प्रसङ्गादिदमत्रोक्तं वाराणस्यास्तु दाहनम् ॥३॥

कारिकार्थ—यों विशेष निरोध के प्रकरण में प्रथम अध्याय का अर्थ कह कर द्वितीय अध्याय का अर्थ कहते हैं कि पौण्ड्रक आदि स्वरूप मात्र में तो भाव वाले हैं, किन्तु दोषयुक्त होने से हरि उनके दोषों का नाश करने वाले हुवे हैं, उनके केवल दोष ही नाश करने थे, सारूप्य तो स्वरूप में भाव होने से सिद्ध ही है, यहां प्रसङ्ग होने से वाराणसी का दाह कहा है ॥३॥

कारिका—बलस्तामसभावानां राजसानां तथैव च ।
सात्त्विकानां तथा मानखण्डकः सुनिरूप्यते ॥४॥

कारिकार्थ—बलरामजी तामस भाव को प्राप्त यमुना, राजस भाव को प्राप्त द्विविद आदि और सात्त्विक भाव को प्राप्त भीष्म आदि के अभिमान के खण्डन करने वाले हैं, यह निरूपण इस अध्याय में है ॥४॥

कारिका—ततः स्त्रीणां तु भगवान् एकेनैव करिष्यति ।
सप्तमास्त्वय एकत्र धर्मिणः पृथगीरिताः ॥५॥
एवं प्रमेयबलतो निरोधः पञ्चधा भवेत् ।

कारिकार्थ—पश्चात् पाँचवें अध्याय में नारद को बोध कराने के लिए विशेष रूप से स्त्रियों का निरोध एक ही से करेंगे, पहले की तरह यहां भी धर्मी निरूपण की आशङ्का कर कहते है कि 'सप्तमाः' धर्म धर्मी प्रकार से निरूपण में सप्तम हैं; क्यों-

कि तीन इकट्ठे हैं, धर्मी के पृथक् कहे हैं ॥५॥

इस प्रकार विशेष प्रकार से निरूपण में प्रमेय बल से निरोध पाँच प्रकार का हुआ। यदि पूर्व अध्याय में कहे हुए सामान्य निरोध को भी गिना जाय तो निरोध छः प्रकार का होगा ॥

— इति कारिका समाप्त —

आभास—पूर्वाध्याये सात्त्विका निषिद्धात् व्यावर्तिताः। षोडशे त्वध्याये लौकिकात् सात्त्विकभावमापादिताः गोपिका निरुध्यन्ते। ततो वैदिकादपि काशीदाहे निरोधं वक्ष्यति। ततः अशास्त्रभक्तेः द्विविदादीनाम्। ततो भीष्मादीनां शास्त्रभक्तेश्च। ततः शास्त्रप्रवर्तकस्य नारदस्यापि मुख्यभावात्। स्वशक्तिर्द्विधा स्थापितेति साधनशक्तिरूपो बलभद्रः गोपिकानां निरोधं कृतवानिति निरूपणार्थं गोकुले बलभद्रगमनादिकमुच्यते।

आभासार्थ— पूर्वाध्याय में सात्विकों को निषिद्ध से हटाया गया १६ वें अध्याय में तो लौकिक से सात्विक भाव को प्राप्त गोपिकाओं को निरूद्ध किया गया है, पश्चात् वैदिक से भी काशीदाह में निरोध कहेंगे, अनन्तर अशास्त्रीय भक्ति के द्विविध आदि का तथा शास्त्र भक्ति के भीष्म आदि का निरोध कहेंगे, ये दोनों सात्विक भाव को प्राप्त हुवे है बाद में शास्त्र प्रवर्त्तक नारद का भी मुख्य भाव होने से निरोध हुवा है, भगवान् ही जहां साधन और फल रूप होते हैं वैसा भाव ही मुख्य भाव है।

भगवान् ने अपनी शक्ति दो तरह से स्थापित की है. १ क्रिया शक्ति अर्थात् साधन शक्ति दूसरी ज्ञान शक्ति, उनमें से साधन शक्ति रूप बलभद्र स्वरूप हैं जिस स्वरूप से इस गोपिका रमण में गोपियों का निरोध किया है, यह निरूपण करने के लिये बलभद्रजी का गोकुल में जाना आदि कहा है।

श्लोक—श्रीशुक उवाच–बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः।
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे कुरुश्रेष्ठ! सुहृदों को देखने की इच्छा वाले भगवान् बलभद्रजी रथ में बैठ नन्द की गोकुल को गए ॥१॥

सुबोधिनी—बलभद्रः कुरुश्रेष्ठेति। विश्वासार्थं सम्बोधनम्। भगवानिति निरोधोऽन्यकर्तव्यो न भवतीति साधनरूपो भगवांस्तत्राविष्ट इति भगवान्। रथमास्थितः, न तु पूर्ववद्गुप्तः। सुहृद्दिदृक्षुः नन्दादिदर्शनेच्छया। पूर्वभावमापन्नान्। तदर्थपरमोत्कण्ठायुक्तः नन्दगोकुलं प्रययौ। तेषां निरोधस्तत्र कर्तुं शक्य इति तत्र गतः ॥१॥

व्याख्यार्थ—राजा को कुरु श्रेष्ठ संबोधन विश्वास कराने के लिये दिया है,बलभद्र को भगवान् यहां इसलिये कहा है कि निरोध तो भगवान् के सिवाय अन्य नहीं कर सकता है अतः जिस समय बलराम गोकुल पधारने के लिये रथ में बिराजमान हुवे उस समय साधन रूप भगवान् ने बलभद्र में प्रवेश किया, पहले की तरह[1] गुप्त नहीं, किन्तु प्रकट होकर प्रवेश किया जिससे बलभद्र गोपियों से रमण आदि लीला कर सके जिससे उनका निरोध सिद्ध होवे, वहां बलभद्र, नन्द आदि के दर्शन की इच्छा से गये है, सात्विक भाव प्राप्त हुवे उनके लिये विशेष उत्कण्ठा से युक्त राम नन्द की गोकुल गये, उनका निरोध वहां करने के लिये शक्य था इसलिये वहां पधारे ।।१।।

आभास—पूर्वं तदासक्तिद्वारा पश्चाद्भगवदासक्तिः सुलभेति प्रथमं लौकिकप्रकारेणैव तदासक्तिमाह **परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैरिति ।**

आभासार्थ—प्रथम श्री बलभद्र में आसक्ति होवे तो अनन्तर भगवान् में आसक्ति सुलभ हो सकेगी, इसलिये पहले लौकिक प्रकार से ही 'परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठै' श्लोक में उनकी आसक्ति कहते हैं ।

श्लोक—परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैर्गोपैर्गोपीभिरेव च ।
रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरभिनन्दितः ।।२।।

श्लोकार्थ—बहुत समय से उत्कण्ठा वाले गोप तथा गोपियों से मिले, अनन्तर माता-पिता को नमन कर उनका आशीर्वाद ग्रहण किया ।।२।।

सुबोधिनी—गोपानां गोपीनां एक एव परिचयलक्षणो भाव इति सह निरूपणम् । गोपीभिरेवेति । द्वयोरपि गोपैरालिङ्गितम्, परं वस्तुतो गोपीभिरेवालिङ्गितः । चकारान्नन्दयशोदाभ्याम्। तत्कृत्यमुक्त्वा बलभद्रकृत्यमाह रामोऽभिवाद्य पितराविति । पितृत्वमेव स्थापितमिति नान्यः शब्दो निरूपितः । तौ वैश्यावपि आशीर्भिरेवाभिनन्दितः ताभ्याम् ।।२।।

व्याख्यार्थ—गोप और गोपियों का एक ही प्रणय रूप भाव था, इसलिये दोनों का साथ में निरूपण किया है, यद्यपि गोपों ने भी आलिङ्गन किया किन्तु वास्तविक आलिङ्गन गोपियों ने ही किया है, 'च' पद से जाना जाता है कि नन्द और यशोदा ने भी आलिङ्गन किया था, उनका कार्य कह कर अब राम का कृत्य कहते हैं कि राम ने नन्द यशोदा को पिता माता समझ हीं नमन किया, इस भाव को प्रकट करने के लिये मूल में 'पितरौ' पद दिया है दूसरा शब्द नहीं दिया, जो वे वैश्य हैं तो भी उनमे पितृ भाव स्थापित होने से उन्होंने आशीर्वाद दी है ।।२।।

आभास—पूर्वनिरोधस्य गमने उत्तरत्र क्रियमाणो व्यर्थः स्यादिति पूर्वसम्बन्धस्तथैव स्थित इति निरूप्यते **चिरं नः पाहि दाशार्हेति ।**

१—भ्रमरगीत के प्रसङ्ग के समान नहीं

आभासार्थ—प्रथम किया हुआ निरोध यदि समाप्त हो जावे तो पश्चात् किया हुवा निरोध भी व्यर्थ हो जाता है अतः पहला किया हुआ सम्बन्ध वैसा ही स्थित रहा यों 'चिर नः पाहि' श्लोक में निरूपण किया जाता है।

श्लोक—चिरं नः पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वरः ।
इत्यारोप्याङ्कमालिङ्ग्य नेत्रैः सिषिचतुर्बलम् ॥३॥

श्लोकार्थ—आशीर्वाद के बाद कहने लगे कि हे दाशार्ह ! तुम जगदीश्वर हो, अपने छोटे भ्राता के साथ हमारी बहुत समय तक रक्षा करो, इस प्रकार कह गोदी में बैठाकर जब आलिङ्गन किया, तब नेत्र से आंसुओं की धारा बहने लगी, जिससे उनको सींचने लगे ॥३॥

सुबोधिनी—अस्मान् चिरं परिपालय । यतस्त्वं दाशार्हः । उभयोरेव पुत्रभाव इति सानुज इत्युक्तम् । कृष्णसहितः । जगदीश्वर इति । पूर्वं माहात्म्यज्ञानं वृत्तमनूद्यते । लौकिकोऽपि स्नेहः पूर्वसिद्ध एव प्रकटीकृत इत्याह इत्यारोप्येति । अङ्कमारोप्य प्रौढमपि बालकमेव मत्वा, आलिङ्ग्य नेत्रजैः सिषिचतुः । बलमिति सर्वाङ्गम्, अन्यथा शिखा अनुक्ता एव समागच्छेयुः ॥३॥

व्याख्यार्थ—तुम हमारी बहुत समय तक पूर्ण रीति से सर्वथा पालन करो क्योंकि दाशार्ह (विष्णु) हो, छोटे भाई के साथ हमारी रक्षा करो, अनुज पद से जताया है कि दोनों में नन्दजी का पुत्र भाव है, अतः कृष्ण सहित कहा जगत् के ईश्वर हैं, पहले जाना हुआ माहात्म्य ज्ञान कहा है प्रथम सिद्ध हुआ लौकिक स्नेह भी प्रकट किया, जिससे गोद में बिठाया, यद्यपि राम प्रौढ़ अवस्था वाले थे तो भी प्रकट पुत्र स्नेह के कारण उनको बाल हो जान गोद में बिठाया और अलिङ्गन कर आंसुओं से सींचा, 'बल' पद देने का आशय यह है कि आंसुओं से सर्वाङ्ग सींचे है,-अन्यथा नहीं कही हुई भी शिखाए सींची समझी जाती ॥३।

आभास—आवश्यकानां प्रणिधानमुक्त्वा अनावश्यकानामाह गोपवृद्धांश्च विधिवदिति ।

आसाभार्थ—आवश्यकों का अभिवादनादि कह कर अब 'गोपवृद्धांश्च' श्लोक में अनावश्यकों का कहते हैं।

श्लोक—गोपवृद्धांश्च विधिवद्यविष्ठैश्चाभिवादितः ।
यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमात्मन. ॥४॥

श्लोकार्थ—बलरामजी ने विधि के अनुसार बड़ों को अभिवादन किया और अन्यों को आयु, सखाभाव तथा अपने सम्बन्ध के अनुसार यथा योग्य था, वैसे किया ॥४॥

सुबोधिनी—विधिर्गोत्रोच्चारणपूर्वकमभिवादनम्। रामापेक्षया यविष्ठैश्चाभिवादितः। ज्ञातेऽपि माहात्म्ये लौकिकभावस्थापनं निरोधान्तरङ्गम्। यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमिति कालान्तःकरणदेहधर्माणामनतिक्रम उक्तः। आत्मान इति। यद्यपि ते सर्व एव माहात्म्यज्ञानाद्भगवद्भावमेव मन्यन्ते, तथापि स्वयं यथा तान्मन्यते, तथा कृतवानित्यर्थः ।।४।।

व्याख्यार्थ - मूल श्लोक में विधि' शब्द कहने का भाव यह है कि जैसे शास्त्र में गोत्र के उच्चारण के साथ अभिवादन करना कहा है वैसे ही बड़ों को अभिवादन किया, छोटों ने रामको प्रणाम किया. माहात्म्य जानते हुए भी लौकिक भाव का स्थापन करना निरोध का अन्तरङ्ग कार्य है, जैसी आयु. जैसा सखाभाव तथा जैसा अपना सम्बन्ध तदनुसार अभिवादनादि किया जिससे बताया कि काल अन्तःकरण, और देह धर्मों का अतिक्रम नहीं किया. यद्यपि वे सर्व ही माहात्म्य के ज्ञान से उनके भगवद्भाव को मानते हैं, तो भी आप जैसा उनको मानते हैं वैसे किया ।।४।

श्लोक—समुपेत्याथ गोपालान्हास्यहस्तग्रहादिभिः ।
विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छु पर्युपागताः ।।५।।

श्लोकार्थ—श्री राम ने हास्य और हस्त मिलाने आदि द्वारा गोपों से मिलकर विश्राम किया पश्चात् जब सुख से बैठे, तब वे श्री राम के चारों तरफ बैठकर पूछने लगे ।।५।।

सुबोधिनी समुपेत्य सम्यक् मिलित्वा अभिवादित इति पूर्वेण सम्बन्धः। अथ गोपालान् हास्यहस्तग्रहादिभिः यथायोग्यमभिवादितवानिति अर्थवशाद्विपर्ययेण योजनीयम्। हीनेषु हस्तग्रहः, समेषु हास्यम्: उत्तमेष्वभिवादनमिति। एवं कायिकमुपसंहरन् वाचनिकमाह विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुरिति। ज्येष्ठा अपि सन्तीति आसीनमित्युक्तम्। परितः सर्वत उपागताः, न तु कश्चिदपि तत्रोपेक्षां कृतवानित्यर्थः।।५।।

व्याख्यार्थ—वृद्ध गोपों से मिल कर उनका अभिवादन करने के अनन्तर अन्य गोपालों से हास्य और हस्त मिलाप करते हुए यथा योग्य अभिवादनादि किया, जैसे कि छोटों से हस्त ग्राह, समानों से हास्य और उत्तमों से अभिवादन किया, इस प्रकार कायिका कर्तव्य पूर्ण कर वाचनिक कहते हैं, विश्राम पाये हुए तथा सुख पूर्वक विराजमान से पूछने लगे, बड़े भी है इसलिये 'आसीन' कहा है सब आकर चारों तरफ बैठ गये, किसी ने भी उपेक्षा नहीं की है ।।५।।

आभास—प्रथमं लौकिकमाह पृष्ट्वाथानामयं तेष्विति ।

आभासार्थ—'पृष्ट्वाथानामयं' श्लोक में पहले लौकिक कहते हैं ।

श्लोक—पृष्ट्वाथानामयं तेषु प्रेमगद्गदया गिरा ।
कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः ।।६।।

श्लोकार्थ— जिन गोपों ने श्री कृष्ण के लिए सर्व विषयों का त्याग कर दिया है, वे गोप प्रेमपूर्वक गद्गद् वाणी से पूछने लगे ॥६॥

सुबोधिनी— पर्यु पागताः प्रथमतः अनामयं पृष्ट्वा, अथ भिन्नप्रक्रमेण, प्रेमगद्गदया गिरा पप्रच्छुरिति सम्बन्धः। अयं विशेषो यद्यपि सर्वेषाम्, तथापि विशेषमाह। तेषु ये कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः। सर्वा एव सिद्धयो लौकिका वैदिकाश्च भगवत्येव स्थापिताः। तत्र हेतुः कमलपत्राक्ष इति। दृष्ट्यैव सर्वतापनाशं मोहं च सम्पादयतीति ॥६॥

व्याख्यार्थ—पहले अनामय पूछने चारों तरफ बैठ गये, 'अथ' पृथक् प्रक्रम से प्रेम पूर्वक गद्गद वाणी से पूछने लगे, यों सम्बन्ध है, यद्यपि यह विशेष सब के लिये है-तो भी विशेष कहते हैं कि उनमें जिन्होंने ने कमल पत्र सरीखे नेत्र वाले कृष्ण के लिये सर्व विषयों को छोड़ दिया है, अर्थात् लौकिक और वैदिक सब सिद्धियां भगवान् में स्थापित की हैं कारण कि कमल पत्र के समान नेत्र वाले हैं जिस दृष्टि से ही सर्व ताप को नाश करते हैं और मोह उत्पन्न करते हैं ॥६॥

आभास—नन्दादीनां वाक्यान्याह कच्चिन्नो बान्धवा रामेति ।

आभासार्थ—'कच्चिन्नो बान्धवा राम' इस श्लोक से नन्दादि के वाक्यों को कहते है ।

श्लोक—कच्चिन्नो बान्धवा राम सर्वे कुशलमासते ।
कच्चित्स्मरथ नो राम यूयं दारसुतान्विता ॥७॥

श्लोकार्थ—हे राम ! हमारे सब बान्धव कुशल तो हैं ? तुम सब कभी हमको याद करते हो ? क्योंकि तुम सब स्त्री तथा पुत्र वाले हो ॥७॥

सुबोधिनी—सर्वे वसुदेवादयः कुशलमासत इति प्रसङ्गात् लौकिकमेतदुक्तम्। स्नेहं च पृच्छन्ति कच्चित्स्मरथेति। नोऽस्मान्। रामेति स्नेहेन सम्बोधनम्। यूयं सर्व एव दारसुतान्विता इति विस्मरणे हेतुः। अतः प्रश्नः सोपालम्भ इव। ॥७॥

व्याख्यार्थ—सर्व वसुदेव आदि प्रसन्न तो हैं ? इस प्रकार, यह लौकिक रीति से प्रश्न किया, अब उनका हम मे स्नेह है या नहीं ? इसलिये पूछते हैं कि हमको वे याद करतें हैं कि नहीं, क्योंकि आप सब स्त्री पुत्र वाले हैं, इसलिये भूल जाने का अंदेशा रहता है, हे राम यह स्नेह सूचक संबोधन है. अत. प्रश्न उपालम्भ (उलाहने) के समान है ॥७॥

आभास—तेषां जातमभ्युदयादिकं स्वस्यात्यन्तमिष्टमिति ज्ञापयन्तोऽनुवदन्ति दिष्ट्या कंसो हतः पाप इति।

आभासार्थ—उनका अभ्युदय अपने को अत्यन्त प्रिय हैं, यों जनाते हुए फिर कहते हैं कि प्रसन्नता है कि 'दिष्टया कंसो हतः पापो' इस श्लोक मे पापी कंस मरा आदि प्रसन्नता के कार्य हुए ।

श्लोक—दिष्ट्या कंसो हतः पापो दिष्ट्या मुक्ताः सुहृज्जनाः ।
निहत्य निर्जित्य रिपून्दिष्ट्या दुर्गं समाश्रिताः ॥८॥

श्लोकार्थ—यह बहुत अच्छा हुआ जो पापी कंस मर गया, यह प्रसन्नता है कि सुहृद लोग बन्धन से छूटे तथा शत्रुओं को मार जय प्राप्त की, दुर्ग का आश्रय ले लिया यह भी हर्ष का विषय है ॥८॥

सुबोधिनी—भाग्येनवै सुहृज्जनाः कंसात् स्वरूपगुणयोस्तस्यासामीचीन्यं प्रतिपादयन्तः तस्य वधो न दोषायेत्यपि सूचयन्तो जरासन्धकृतोपद्रव-निवृत्तिमाहुः निहत्य निर्जित्य रिपूनिति । निहत्य कालयवनम्, बलं च निर्जित्य बहुधा जरासन्धादीन् । दुर्गाश्रये जयस्याहेतुत्वात् जयसन्देह एव दुर्गाश्रय इति क्त्वाप्रत्ययेन पूर्वकाल एवोच्यते । एतत्सूचयति दिष्ट्येति । द्वारकासम्यगाश्रयणं सम्बन्धिभिः सह स्थितिः ॥८॥

व्याख्यार्थ—निश्चय भाग्य के कारण ही सुहृज्जन कंस से मुक्त हुवे, कंस इसलिये मरा है जो उसके स्वरूप तथा गुण अच्छे नहीं थे, इसकी भी सूचना करते हुए जरासन्ध के लिये उपद्रवों की निवृत्ति कहते है कि शत्रुओं को मार तथा जीत कर पश्चात् दुर्ग का आश्रय किया, यह भी अच्छा हुआ, अतः हर्ष है, कालयवन को मार और बहुत वार जरासन्ध आदि को जीत एवं बल को जीता, दुर्ग का आश्रय जय का हेतु नहीं, किन्तु दुर्ग के आश्रय का कारण जय में सन्देह है यह 'क्त्वा' प्रत्यय से पूर्व काल ही कारण कहा है, 'दिष्टया'[1] कहने से यह बताया है कि द्वारका में अच्छी तरह आश्रय का तात्पर्य है कि वहां सम्बन्धिओं के साथ आनन्द से रहना ॥८॥

आभास—एवं सर्वेषां प्रश्नमुक्त्वा गोपीनां विशेषमाह गोप्यो हसन्त्य इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सर्व के प्रश्न कह कर 'गोप्यो हसन्त्यः' श्लोक में गोपियों का विशेष कहते हैं ।

श्लोक—गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छुः रामसन्दर्शनादृताः ।

श्लोकार्थ—श्री राम के दर्शन से आदरयुक्त होने के कारण हँसती हुई गोपियाँ पूछने लगीं ॥८½॥

सुबोधिनी—राजसप्रकरणे ताः शोकरहिताः कृता इति भगवत्स्मरणेऽपि तासां हर्ष एव जात इति हासयुक्ताः । ननु पूर्णानां पुनः किं प्रश्नेनेत्याशङ्क्याह रामसंदर्शनादृता इति । रामस्य सम्यक् दर्शनेन स्नेहकृपापूर्वकेण आदृताः आदरयुक्ताः, ततो याः यथाभूताः तथानुवृत्तिः कर्तव्येति, अप्रश्ने औदासीन्यं च भवतीति पप्रच्छुः ॥८½॥

१—खुशी है यों कहने से

व्याख्यार्थ— राजस प्रकरण में गोपियों का शोक नाश कर दिया, इसलिये भगवत्स्मरण होने पर भी उनको हर्ष ही उत्पन्न हुआ, इसलिये हँसती थीं, जो पूर्ण हो गई है उनको प्रश्न की क्या आवश्यकता थी ? इस शङ्का के मिटाने के लिये कहा है कि श्रीराम के स्नेह और कृपा पूर्वक दर्शन से आदरवाली होने से प्रश्न करने लगी, जो जैसी हो जाती हैं उनको उसी प्रकार करना चाहिये, यदि यो न करे अर्थात् प्रश्न न करे तो उदासीनता की प्रतोति होवे अतः पूछने लगी कि ॥८३॥

आभास— प्रश्नमाह कच्चिदास्त इति सार्धैः पञ्चभिः ।

आभासार्थ— 'कच्चिद दास्ते' इससे ले साढे पांच श्लोकों से प्रश्न कहते है ।

श्लोक— कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः ॥९॥

श्लोकार्थ— जिनको पुर की स्त्रियाँ वल्लभ हैं, वैसे कृष्ण आनन्द में विराजे हैं ? ॥९॥

सुबोधिनी— अर्ध भावो न्यून इति । पूर्वं बहुविधा निरूपिता अपि । प्रकृते तस्याः कथायाः अनुपयोगात् पुराणान्तरस्थां तामाश्रित्य नन्दगोपकुमारिकाः भगवता द्वारकायां नीता एव । याः पुनरन्यपूर्वाः, ता अपि विमर्शे क्रियमाणे तासामेव वाक्यानुसारेण उपालम्भवाक्यैः अग्रे च भगवद्वाक्यैः भिन्नाः एवेति प्रतिभाति । साधारण्य एव वा अत्र निरूप्यन्ते । सन्ति च ताः शङ्खचूडवधे निरूपिताः । अत एव सान्त्वनमासां पृथक् क्रियते । शब्दबलविवेके त्वाश्रीयमाणे अन्यपूर्वाः सर्वा एकरूपा एवेति प्रतिभाति । बलभद्रोपि भगवानेवेति साम्प्रतं भगवच्छक्तिरत्र प्रविष्टेति । अतः पूर्वभावेन सान्त्वनम्, भगवद्भावेन रमणमित्युभयं न विरुध्यते । अत एव सान्त्वनेनात्र विशेष उक्तः । स हि स्वात्मानं भगवद्रूपं प्रदर्श्य तासां लौकिकभावेऽपि पश्चात्कामनां पूरितवान्, उक्ततया अहमेकरूपेण समागतः, अत एव 'आयास्य' इत्यपि वचनं यथाश्रुतम् । कृष्णः साक्षादक्लिष्टकर्म त आत्मानमेव रमयतीति यथाकथञ्चित्तत्परतामेव सम्पादयतीति न बहिर्धर्मान् कामं च गणयति । भक्तिमार्गविरोधस्तु निरोधे नाशङ्कनीयः । लौकिकसहितभक्तिमार्ग एव विरोधश्च । अतो गोपिकानां भेदे अभेदे वा विशेषो नास्तीति न पृथङ्निरूपणम् । तथापि भेदेनैव व्याख्येयमिति सम्प्रदायः । लौकिकदृष्ट्या पृच्छन्ति । रामेण लौकिकन्यायेन आहृता इति । कृष्णः स्त्रीणां हितकारी । तासां सुखदुःखैः तथा भवतीति वयं क्लिष्टा इति, अन्याश्च सुखिता इति, समानदेशस्थानामेव आनन्ददातृत्वे सुखित्वम्, साधारण्ये त्व(धं)सुखित्वमिति प्रायेणानुक्तेऽप्यङ्गीकृते वा आहुः । सत्यं सुखी, यतः पुरस्त्रीजनवल्लभ इति । अस्मद्वल्लभत्वे कदाचिदन्यथापि स्यादिति भावः ॥९॥

व्याख्यार्थ - भगवान् षड गुण पूर्ण हैं तब श्लोक संख्या छ कहनी चाहिये वह न कह कर साढे पांच क्यों कहे ? जिसके उत्तर में कहते है कि 'अर्ध भावो न्यूनः' वक्ता में भाव आवरण सहित होने से आधे की कमी है प्रश्न कर्ता के भावानुसार श्लोक संख्या कहनी चाहिये ? जिसके उत्तर में कहा है कि तामसादि प्रकार से अनेक प्रकार से उन भावों के अनुसार ही श्लोक संख्या निरूपण की है अब

प्रकृत विषय में उन बहु विध कथाओं का उपयोग नहीं है क्योंकि अब आन्तर रमण करना ही स्थिर किया है, जो रमण एक ही सबका एक ही प्रकार का है अतः पुराणान्तर में कही हुई कथा को लेकर नन्द[१] गोप की कुमारिकाएं भगवान् द्वारका में लाए हैं, जो फिर 'अन्यपूर्वा' हैं वे भी विचार करने पर उनके ही वाक्यों के अनुसार उपालम्भ के वाक्यों से और आगे भगवद्वाक्यो से पृथक् ही है यों भासता है, अथवा यहां साधारण गोपियों का ही निरूपण हैं, उनका शङ्खचूड के वध में निरूपण है इस कारण से ही इनका सान्त्वन पृथक् किया जाता है, उन श्रुति रूपा और वेदात्मक बलदेव, दोनों के बल का विचार वा आश्रय करने पर अन्य पूर्वा सब[२] एक ही है यों भासता है, यदि वे ऐसी हैं तो उनके साथ बलराम ने रमण कैसे किया ? जिस शङ्का के उत्तर में आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि बलभद्र इस समय भगवान् भी है क्योंकि अब भगवान् की शक्ति इनमें प्रविष्ट हुई हैं, अतः बलभद्र भाव से सान्त्वन किया है और भगद्भाव से रमण किया है, इसलिये दोनों में विरोध नहीं है अतएव सान्त्वन से यहां विशेष कहा है, बलभद्र ने अपने को भगवद्रूप दिखा कर उनका लौकिक भाव होते हुए भी पश्चात् उनकी कामना पूर्ण की है, एवं भगवान् के कहने से भगवान् के साथ एक रूप से यहां आया हूं, इसलिये ही भगवान् ने 'आयास्ये' आऊंगा कहा है, अक्लिष्ट कर्मा भगवान् कृष्ण हैं वैसे श्रीकृष्ण साक्षात् अपनी बलराम से आविष्ट आत्मा को ही रमण कराते हैं, अर्थात् इस प्रकृत लीला में जो रमण हुआ है वह आवेश स्वरूप से हुआ है न कि बलरूप से हुआ है, भगवान् कृष्ण अक्लिष्ट कर्मा होने से देह से रमण नहीं करते हैं क्योंकि देह के रमण में क्लेश होता है, बाहर के धर्मों[३] को और काम को ध्यान में भी नहीं लाते है, निरोध में भक्ति मार्गीय विरोध की शङ्का नहीं करनी चाहिये, लौकिक सहित भक्ति मार्ग में विरोध है निरोध रूप भक्ति में विरोध नहीं है, अतः गोपिकाओं में भेद वा अभेद में विशेष नहीं है । इसलिये पृथक् निरूपण नहीं किया है, तो भी भेद से ही व्याख्या करनी चाहिये, यह सम्प्रदाय है प्रश्न करने वाली गोपियां लौकिक दृष्टि से पूछती हैं, रामने लौकिक न्याय से उनका आदर सान्त्वन किया, श्रीकृष्ण स्त्रियों के हितकारी है, उनके सुख दुःख से वैसे होते हैं इसलिये कहा है, कि हम दुःखी है, अन्य[४] सुखी है, समान देश में स्थितों को ही आनन्द देने में सुखीपन है, साधारण में आधा सुखीपन है, अथवा प्रायः अङ्गीकृत न कहने पर भी कहती हैं कि यह सत्य है कि श्रीकृष्ण सुखी है क्योंकि पुर के स्त्री जनों का अब प्यारा हुआ है, हमारे वल्लभ[५] होने पर कदाचित् दुःखी भी हो जाय, यह भाव है ॥९॥

आभास—कदाचिदस्मत्स्मरणेनाप्यन्यथा भवतीति सम्भावनया आहुः कच्चित्स्मरति वा बन्धूनिति ।

आभासार्थ—कदाचित् स्मृति (याद) आजाने से दुःखी होने की भी सम्भावना हो सकती है, यह कच्चित्स्मरति' श्लोक में कहा है ।

१—'नन्द गोप सुतं देवी पति मे कुरु' इस प्रार्थना के अनुसार इनका रमण आवेश से नहीं हो सकता है जिससे आचार्य श्री ने 'भिन्न एव' सुबोधिनी में कहा है

२—दास में स्थित और शङ्खचूड के प्रसङ्ग में स्थित सब

३—देह स्थानीय बलरामजी के धर्मों को ४-पुरस्त्रियां वा एवं श्रीकृष्ण ५-प्यारे

श्लोक—कच्चित्स्मरति वा बन्धून्पितरं मातरं च सः ।
अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवां महाभुजः ॥१०॥

श्लोकार्थ—वह महाभुज श्रीकृष्ण बान्धवों, पिता और माता को कभी याद करते हैं वा नहीं ? अथवा हमारो की हुई इच्छानुसार सेवा को याद करते हैं? ॥१०॥

सुबोधिनी बन्धून् गोपान् गोपीश्च । आवश्यकस्मरणं पृच्छन्ति पितरं मातरं चेति । यद्यपि त्वं स्मरसि, तथापि स कृष्णः स्मरति, न वेति सन्देहः । एवं प्रसङ्गमुक्त्वा स्वस्मरणं सम्भावयन्ति अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवामिति । अपेक्षिता सेवा, इच्छानुसारिणी अनुसेवा भवति । महाभुज इति क्रियाशक्तिः सर्वापेक्षया महती निरूपिता । अनेन नयने आगमने वा न तस्य काचिच्छङ्का ॥१०॥

व्याख्यार्थ—बान्धव, गोप और गोपियां इनका स्मरण करना पूछ के पश्चात् माता पिता का स्मरण आवश्यक पूछना है इसलिये उसको भी पूछती है. यद्यपि आप याद करते है तो भी वह कृष्ण स्मरण करते है वा नही इसमे सन्देह है इस प्रकार प्रासङ्गिक कह कर अपने स्मरण की सम्भावना करती हुई पूछती है, हमारी इच्छानुकूल सेवा को याद करते है कि नहीं ? जो अपेक्षित (आवश्यक) समझकर की जावे उसको सेवा कहते है, और जो सेव्य की इच्छानुसार अथवा आज्ञानुसार की जावे वह अनुसेवा है महाभुजः इस सम्बोधन से सर्वापेक्षा से महती क्रिया शक्ति रूप अनु-सेवा है. वह सेवा सेव्य की इच्छानुकूल ही की जाती है अत. उनको ले जाने में अथवा आने में किसी प्रकार की कोई शङ्का नहीं है ॥१०॥

आभास—यद्यपि भगवत्यसूया त्यक्ता, तथापि कालविलम्बात् भवत्येव बुद्धिरन्यथेति पुनस्तासां दोषनिराकरणार्थं निरूपयति मातरं पितरमिति ।

आभासार्थ—यद्यपि भगवान् में असूया करनी छोड़ दी तो भी बहुत काल होने पर अन्यथा बुद्धि हो ही जाती, इसलिये उनके दोषों का फिर निराकरण करने के लिये-'मातर पितरं' श्लोक में निरूपण करते हैं।

श्लोक—मातरं पितरं भ्रातृन्पतीन्पुत्रान्स्वसॄरपि ।
यदर्थे जहिम दाशार्ह दुस्त्यजान्स्वजनान्प्रभो ॥११॥

श्लोकार्थ—हे दाशार्ह ! हे प्रभु ! जिस आपके वास्ते हमने दुस्त्यज माता, पिता, भ्राता, बान्धव, पुत्र, बहन और स्वजन; इन सब का त्याग किया है, जो कठिनाई से छोड़े जा सकते हैं ॥११॥

सुबोधिनी—पञ्चावश्यकाः । स्त्रीणां मुख्या माता । भर्तारं परित्यज्येति वक्तव्ये ज्ञातीनिति साधारण्येनैव तन्निराकरणमपि कृतम् । भर्तृत्वस्य भगवत्येव स्थापितत्वात् । 'पतीन् पुत्रा'निति पाठे न कोऽपि सन्देहः । आद्यन्तयोः स्त्रीग्रहणं तासां तदनुरोधो महानिति । सर्वैर्निराक्रियमाणाः

तदनुरोधं परित्यज्य भगवानेव गृहीत इति यदर्थे जहिमेत्युक्तम् । दाशार्हेतिसम्बोधनात् पश्चात्तापेन कथनं वारयति । त्यागो महानिति वक्तुं तान् विशेषयन्ति दुस्त्यजान् स्वजनानिति । अन्त.करणदेहसम्बन्धौ दृढौ निरूपितौ । प्रभो इति सम्बोधनं सामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् परित्यागे उपालम्भो युक्त इति बोधितम् ।।११।।

व्याख्यार्थ – गृहस्थ में पांच वस्तु आवश्यक है उनका छोड़ना कठिन हैं, उनमें पहली वस्तु माता है स्त्रियों में मुख्य होने से माता की प्रथम गिनती की है, पिता भ्राता के पश्चात् पति न कह कर ज्ञातीन् कहा यह साधारणता से उनका भी निराकरण किया है पति शब्द न देने का यह भी आशय है कि पतित्व भगवान् में ही स्थापित किया है अतः उस पद के देने की आवश्यकता नहीं थी, यदि 'पति पुत्रात्' यों पाठ हो तो उसमें कोई भी सन्देह नहीं है, आदि और अन्त में स्त्री शब्द लेने का भाव यह है, कि वे पूछने वाली स्त्रियां थीं अतः उनका इस विषय में महान् अनुरोध है, सब से निराकरण की हुई उनने उनका[1] अनुरोध त्याग कर भगवान् को ही ग्रहण किया है, इसलिये कहा है कि जिसके लिये सब छोड़े, दाशार्ह सम्बोधन से बताया है कि यह हमारा कथन पश्चाताप युक्त नहीं है, यह हमारा त्याग बड़ा है यह कहने के लिये, उनके दुस्त्यज और स्वजन विशेषण दिये हैं यों कहने से यह दिखाया है कि अन्तःकरण और देह का सम्बन्ध दृढ है, प्रभो ? यह सम्बोधन, सामर्थ्य को प्रकट करता है, सामर्थ्य के कारण परित्याग में उपालम्भ देना उचित है यह समझाया है ।।११।।

आभास— यदर्थमेतन्निरूपणं तमुपालम्भमाहुः ता नः सद्यः परित्यज्येति ।

आभासार्थ—जिस उपालम्भ के लिये वह निरूपण है उस उपालम्भ को 'तां नः सद्यः' श्लोक में कहती है ।

श्लोक—ता नः सद्यः परित्यज्य गतः संच्छिन्नसौहृदः ।
कथं नु तादृशं स्त्रीभिर्न श्रद्धीयेत भाषितम् ।।१२।।

श्लोकार्थ—वैसी जो हम हैं, उनको छोड़ तुरन्त चले गए और स्नेह भी तोड़ डाला, किन्तु उनके जैसे मनोहर भाषण पर कौन सी ऐसी स्त्री है, जो विश्वास न करेगी ।।१२।।

सुबोधिनी—अन्त.करणेऽपि परित्यागार्थमाहुः संच्छिन्नसौहृद इति । सम्यक् छेदः मरणसमानबाधानामप्युपेक्षणात् । ननु ज्ञायत एव वसुदेवपुत्रो यथाकथञ्चिदत्रागत्य स्थितः, तत् किमिति सर्वपरित्यागेन सेवित इति चेत्, तत्राह कथं नु तादृशं स्त्रीभिरिति । युक्त्या यद्यपि त्यक्ष्यतीति निश्चितम्, तथापि हृदयाद्यालम्भनेन यथा विश्वास उत्पद्यते, तथा भाषितं कथं न श्रद्धीयेत । स्त्रियो हि शुद्धभावा न कापट्यं जानन्तीति स्वश्लाघा । अतो वाक्यविश्वासादेवं कृतमिति नास्माकं दोषः ।

१—माता पिता भ्राता आदि का

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती'त्यादिवाक्यानि च शास्त्रदृष्ट्या । नु इति वितर्के । कश्चिदेवमप्यस्ति, यो विश्वासं न कुर्यादित्यसम्भावनापि सूचिता ॥१२॥

व्याख्यार्थ—उनका परित्याग केवल बाहर से नहीं है किन्तु अन्तःकरण से है इसलिये तो सोहृद प्रेम भी तोड़ डाला है स्नेह तोड़ने से जो पीड़ा होती है वह मृत्यु से भी विशेष होती है, यह भी हम जानती है कि वसुदेव का पुत्र जैसे कैसे भी यहाँ आकर स्थित हुवे हैं, क्या ? यों सर्व का परित्याग कर सेवा किया गया हुवा वह है ? यदि यों है, जो इस पर कहती हैं कि यद्यपि युक्ति से त्याग करेंगे, यह निश्चय है तो भी हृदय आदि को विश्वास देने वाले वाक्यों पर कैसे विश्वास किया जावे ? स्त्रियों का हृदय शुद्ध भाववाला होता है अतः वे कापटय नहीं जानती हैं, इन वचनों से अपनी वड़ाई की है, इसलिये हमने जो कुछ किया है वह वाक्यों पर विश्वास रख कर किया है इसमें हमारा कोई दोष नहीं है, अन्य वचन जो शास्त्र दृष्टि से कहे हैं उन पर भी विश्वास किया जैसे कि 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' 'नु' पद वितर्क में दिया है, कोई वैसा भी है जो विश्वास न करे, यों असम्भावना भी दिखाई है ॥१२॥

आभास—एवं मात्सर्येण भगवति दोषं सम्भाव्य, साम्प्रतं पुरस्त्रीणां सम्बन्धं करोतीति स्मृत्वा, सुतरामीर्ष्या जाता, ततस्तस्य तद्वैषयिकसुखं मा भवत्विति विचारयन्त्यः पुरस्त्रियोऽपि चेन्निवृत्ता भवेयुः, तदा भवेदिति ता निवर्तयितुं उपालभन्ते कथं नु गृह्णन्तीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार मात्सर्य से भगवान् में दोष की सम्भावना कर, अब नगर के स्त्रियों से सम्बन्ध होने का स्मरण करने से सुतरां ईर्ष्या उत्पन्न हुई, तब विचार करने लगी कि नगर की स्त्रियों का भी सुख इनको न मिले, वह तब होगा, जब वे भी निवृत्त कर दी जायगी, इसलिये उनको निवृत्त कराने को 'कथं नु गृह्णन्ति' श्लोक में उलाहना देती हैं ।

श्लोक—कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितात्मनो वचः कृतघ्नस्य बुधाः पुरस्त्रियः ।
गृह्णन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दरस्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः ॥१३॥

श्लोकार्थ—ये समझदार सयानी पुर की स्त्रियाँ, जिनके जीव एक विषय में स्थिर नहीं हैं और जो कृतघ्नी हैं, उनके वचनों पर कैसे विश्वास करती हैं,यह हमको विस्मय होता है, कदाचित् विचित्र बातें बनानेवाले श्रीकृष्ण के हास्यपूर्वक सुन्दर कटाक्ष चलाने से बढ़े हुए कामदेव से आतुर होकर विश्वास करती होंगी ॥१३॥

सुबोधिनी—ननु सुखकराणि वाक्यानि सुखं च प्रयच्छन्ति, तत्कथं न विश्वसनीय इति चेत्, तत्राह अनवस्थितात्मन इति । न अवस्थिताः एकत्र प्रतिष्ठिताः वेदे लोके वा आत्मानो जीवा

यस्य । न हि भगवत्सेवकाः क्वचित्प्रतिष्ठिता भवन्ति । तस्य हि वचनेन तत्सेवकत्वे स्वस्यापि (तथा) भविष्यतीति । अतो भगवदीयानां भगवद्व्यतिरिक्ते प्रतिष्ठितत्वाभावात् ऐहिकाभिलाषिण्यः । नु निश्चयेन कथं गृह्णन्ति । ननु प्रतिष्ठिते साधने कृते कथं प्रतिष्ठां न लभन्ते, 'अस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति, अमुष्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति, प्रतितिष्ठन्ति वा, य एता रात्रीरुपयन्ती'त्यादिवाक्यैः कृते कर्मणि कथं प्रतिष्ठां न लभन्त इति चेत्, तत्राह कृतघ्नस्येति । स हि कृतमपि हन्ति । अत एवोक्तं 'लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति । पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिला' इति । नन्वेतन्न जानन्तीति चेत्, तत्राह बुधा इति । बुधत्वे हेतुः पुरस्त्रियः इति । पुरवासिनो विचक्षणा भवन्तीति । तत्र स्वयमेव वचनग्रहणाग्रहणयोर्दुःखतारतम्यं विचार्य, अग्रहणे महदेव दुःखमिति ग्रहणोपपत्तिमाहुः गृह्णन्तीति । वं निश्चयेन नात्र पूर्वपक्षोऽपि । तत्र हेतुत्रयमाहुः । चित्रकथस्य कथावैचित्र्यात् वाचा वशीकृता गृह्णन्ति । सुन्दरस्मितावलोकाभ्यां च मनःकायाभ्यां व्यामोहिताः गृह्णन्ति । त्रयाणां कार्यं जातमित्याहुः । स्मितावलोकाभ्यामुच्छ्वसितो यः स्मरः मर्यादामुल्लङ्घ्य उद्गतो जातः, तेन आतुराः । यथा ज्वरातुरो वैद्यवाक्यं शृणोति । वाक्यात् कटुतिक्तादिकमपि भक्षयति, तद्वदित्यर्थः ॥१३॥

व्याख्यार्थ– निश्चय है सुखकर वचन सुख ही देते हैं, वैसे वचनों पर कैसे विश्वास न किया जावे, यदि यों कहो तो इस पर कहते है कि जिसके जीव, लोक वा वेद में एकत्र प्रतिष्ठित नही है; क्योंकि भगवान् के सेवक कही भी प्रतिष्ठित नहीं है, उनके ही वचन से उनके सेवकत्व के कारण अपना भी इस प्रकार होगा, अतः जो भगवदीय है उनका भगवान् के सिवाय दूसरे में प्रतिष्ठितपन के अभाव से ऐहिक अभिलाषावाली हैं, वितर्क कर कहती है कि निश्चय से कैसे ग्रहण करेंगी ? साधन तो प्रतिष्ठित किया है फिर प्रतिष्ठा को कैसे न प्राप्त करेंगी, जैसा कहा है 'अस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति' 'अमुष्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति, प्रतितिष्ठन्ति वा, य एता रात्री रुप यन्तीत्यादिवाक्यैः' इत्यादि वाक्यानुसार कर्म करने पर भी प्रतिष्ठा को क्यों नही प्राप्त होती है, यदि यों कहा जावे तो कहती है कि 'कृतघ्नस्य' वह कैसे है कि किये हुए उपकार को भूल जाते है, इसलिये ही कहा है कि 'लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति पुष्टि मार्ग स्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः' यदि कहो कि इस तत्व को ये नहीं जानती हैं तो उत्तर में कहती हैं कि यों नहीं हैं, ये स्त्रियां नगर मे रहने वाली होने से सयानी हैं, इसलिये इनके वचन ग्रहण करने चाहिये वा नहीं ? ग्रहण करने मे और न ग्रहण करने में दुःख का तारतम्य विचार कर निश्चय करती हैं कि जो इनके वचन ग्रहण नहीं किये जावेगे तो महान् दुःख की प्राप्ति होगी अतः निश्चय से ग्रहण करने चाहिये, इसमें किसी प्रकार पूर्व पक्ष नहीं है, जिसमें तीन हेतु देती हैं (१) कथा की विचित्रता के कारण वाणी से वश हो गई जिससे उनके वचन ग्रहण किये, (२) सुन्दरस्मित तथा (३) अवलोकन से, और मन तथा काया से मोहित हो गई, जिससे भी उनके वचन ग्रहण किये, इस प्रकार तीन हेतुओं का कार्य हुआ, वह कहती हैं कि स्मित और अवलोकन से मर्यादा का उल्लङ्घन कर जो स्मर प्रकट हुआ उससे नगर की स्त्रियां आतुर बन गई, जैसे ज्वर से पीड़ित वैद्य के वचन मानकर कटु तिक्त औषध खाता है वैसे इनने भी मान लिये ॥१३॥

आभास—एवं काश्चित्स्वयं दुःखमनुभूय अज्ञानवशाद्दोषनिवर्तके दोषं सम्भावयन्ति, तासां निषेधार्थमन्या आहुः किं नस्तत्कथया गोप्य इति ।

व्याख्यार्थ – इस प्रकार कितनी ही स्वयं दुःख का अनुभव कर, अज्ञान के कारण दुःख की निवृत्ति करनेवाले में दोष की सम्भावना करती हैं कि इन्होंने हमको दुःख दिया है, उनकी इस असम्भावना दोष के निषेधार्थ दूसरी 'किं नस्तत्कथया' श्लोक में कहती हैं।

श्लोक—किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः ।
यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः ॥१४॥

श्लोकार्थ—हे गोपियाँ ! अपने को उनकी कथाओं से क्या प्रयोजन है ? दूसरी कथाएँ कहो, अपने बिना यदि उनका समय व्यतीत होता है तो उनके बिना अपना काल भी वैसे ही व्यर्थ जाता है ॥१४॥

सुबोधिनी हे गोपस्य स्त्रियः, पामर्यः, तत्कथया नः किम्। भक्तिनिरोधमुक्तीनां दोषोत्पत्तौ प्रयोजकत्वाभावात् सुतरां दोषजनकत्वाच्च तत्कथया नः कोऽपि नोपकारः। भक्तिमार्गे प्रतिबन्धान् दूरीकृत्य स्नेहेन भगवद्भजनं कृतं स्यात्। निरोधे तु क्षणमात्रमपि भगवददर्शने देहेन्द्रियादिकमपि त्यक्तं स्यात्। मुक्तौ वैषम्यग्रहणं न स्यात्। अतो दोषाणामनिवृत्तत्वात् गुणानां चाभावात् तत्कथया नः किम्। ननु कथापि श्रोतव्या, वक्तव्या वा, कथारसावेशादिति चेत्, तत्राहुः कथाः कथयतापरा इति। यासु न दोषोत्पत्तिः। ननु कथमेवमौदासीन्यं कर्तुं शक्यम्, तत्राह यात्यस्माभिर्विना काल इति। पारमार्थिकप्रयोजनाभावात् लौकिकप्रयोजनार्थं भगवानपेक्ष्यः। तत्रोभयोः विषयता भोक्तृत्वं च। एवं सति अस्माभिर्विना यदि तस्य कालो गच्छति, तदास्माकमपि तं विना गच्छत्येव। नहि वयं मृताः। येन विना यस्य न निर्वाहः, स उपालम्भ्यो भवति। तदा न दोषः शास्त्रे, लोकेऽपि न विगानम्। यथा प्राणात्यये सर्वविषयपरिग्रहस्य। न हि म्रियमाणः निषिद्धादपि जलमन्नं वा गृह्णन् प्रत्यवैति। तथा भगवता विना चेदस्मत्प्राणा गच्छेयुः, तदोपालम्भो निर्दुष्टः। अन्यथा दोष एव स्यात्। उदासीनोपालम्भवत्। अथ भजनानुरूपेण भजनम्, तद्भगवति नास्त्येव। अस्माभिर्विनैव तस्य कालो गच्छतीति। अतः स्वस्य तथाधिकारे भगवच्छास्त्रप्रामाण्ये भगवानेव समागच्छेत्, अप्रामाण्ये तु मरणमेव स्यात्। उभयमपि नास्तीति वृथोपालम्भो न कर्तव्य इत्यर्थः। उभयविधा अप्येताः मूर्च्छापर्यन्तव्यापारयुक्ताः। अतो दुःखात्प्रथमा वदन्ति, मरणाभावाच्च परा निषेधन्ति ॥१४॥

व्याख्यार्थ—हे गोप की मूर्ख स्त्रियाँ ! उनकी कथा से हमको क्या लाभ ? भक्ति निरोध और मुक्ति इनके दोषोत्पत्ति में प्रयोजकपन के अभाव से और सुतरा दोषजनक होने से उनकी कथा से हमारा कुछ भी उपकार होने वाला नहीं है। भक्ति मार्ग में जब प्रतिबन्धों को दूर कर, स्नेह से भगवद्भजन किया जावे तब उपकार होता है। निरोध में क्षणमात्र भगवान् के दर्शन न होने पर, देह इन्द्रियादि भी छूट जावें। मुक्ति में विषमता का ग्रहण नहीं होता है। उनकी कथा से दोषों की निवृत्ति नहीं होती है और गुणों का भी अभाव होता है अतः उनकी कथा से अपने को क्या सरोकार है ? यदि कहो, कि कथा भी सुननी और कहनी चाहिये क्योंकि इससे रसावेश होता है, तो भी दूसरी कथाएँ कहो जिनमें से दोषोत्पत्ति न होवे, ऐसी उदासीनता कैसे की जा इस पर कहती है कि 'यात्य-

स्माभिविना कालः यदि तस्य तथैव नः' जो कि पारमार्थिक प्रयोजन नहीं है तो भी लौकिक प्रयोजन के लिये भगवान् की अपेक्षा है, इसमें दोनों की विषयता है और भोक्तृत्व भी है, यों होने पर भी, यदि उनका काल अपने बिना जा सकता है तो अपना उनके बिना बीतता ही है, हम मरे हुवे नहीं, हैं, जिसके बिना जिसका निर्वाह न होगा, वह उलाहने योग्य होता है, तब शास्त्र में दोष नहीं है लोक में भी निन्दा नहीं होती है, जैसे प्राणों के जाने पर समस्त विषयों के परिग्रह का, और मरने वाला निषिद्ध से भी जल और अन्न ग्रहण करे तो दोष नहीं है, वैसे भगवान् के विरह में यदि अपने प्राण जावे तो, तब उपालम्भ दोष रहित है अन्यथा दोष ही प्राप्त हो, उदासीन के उपालम्भ के समान हो जावे, भजन के अनुरूप भजन, वह भगवान् में नहीं है, बिना हम लोगों के उनका काल जा सकता है, अतः भगवान् शास्त्र के प्रमाणानुसार अपना ऐसा अधिकार होने पर भगवान् स्वयं ही पधारने चाहिये प्रमाण न होने पर मरण ही होवे, दोनों नहीं हैं, इसलिये वृथा उपालम्भ नहीं देना चाहिये, दोनों प्रकार[1] की भी ये मूर्च्छापर्यन्त व्यापार युक्त है अतः दुःख के कारण पहली कहती हैं, मरण के अभाव से दूसरी निषेध करती है ।।१४।।

आभास—ततो मरणपर्यन्तं पीडिताः भगवदिच्छया अन्तस्तापं वहिःकृतवत्य इत्याह इति प्रहसितमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् मरण पर्यन्त पीड़ित वे भगवदिच्छा से भीतर के ताप को बाहर प्रकट करने लगी, जिसका वर्णन 'इति प्रहसित' श्लोक में वर्णन करती हैं ।

श्लोक— इति प्रहसितं शौरेर्जल्पितं चारुवीक्षितम् ।
गतिं प्रेमपरिष्वङ्गं स्मरन्त्यो मुमुहुः स्त्रियः ।।१५।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार भगवान् के हास्य, भाषण, सुन्दर कटाक्ष, गति, प्रेम से आलिङ्गन को स्मरण करती हुई मूर्च्छित हो गई ।।१५।।

सुबोधिनी—प्रहसितमान्तरम् । बहिर्व्यामोहकम् । शौरेरिति सामर्थ्यमुक्तम् । जल्पितं वाचनिकम् । चारुवीक्षितमैन्द्रियकम् । कायिकं द्विविधमप्याह गतिं प्रेमपरिष्वङ्गमिति । एवं पञ्चाङ्गं भगवन्तं स्मरन्त्यः मोहं मूर्च्छां प्राप्ताः ।।१५।।

व्याख्यार्थ—हास्य, आन्तर भाव (रति) है, प्रकट करता है बाहर व्यामोह करने वाला है शोरि नाम से सामर्थ्य दिखाया है, भाषण वाचनिक है सुन्दर कटाक्ष इन्द्रिय सम्बन्धी है, गति और प्रेम से आलिङ्गन ये दोनों कायिक है, इस प्रकार पांच अङ्ग वाले भगवान् का स्मरण करती हुई मूर्च्छित हो गई ।।१५।।

१—एक प्रकार की वे थी जिनकी भगवान् में दोष सम्भावना थी, दूसरे प्रकार की वे थी जो भगवान् में दोषो का निषेध करने वाली थी,

आभास—मरणे तु सम्भाविते भगवानेवागच्छेत्, सायुज्यं च दद्यात्, तदभावात् बलभद्रेण सान्त्वनं कृतमित्याह सङ्कर्षण इति।

आभासार्थ—यदि मरण की संभावना होती तो भगवान् ही पधारते और सायुज्य देते, ऐसा न होने के कारण बलभद्र ने आकर सान्तवना दी है, जिसका वर्णन 'सङ्कर्षणस्ताः' श्लोक में किया है।

श्लोक—सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य संदेशैर्हृदयङ्गमैः ।
सान्त्वयामास भगवान्नानानुनयकोविदः ॥१६॥

श्लोकार्थ—अनेक प्रकार की सान्त्वना (दिलासा) देने में चतुर भगवान् सङ्कर्षण, कृष्ण के हृदयङ्गम संदेशों से उनको सान्त्वना देने लगे ॥१६॥

सुबोधिनी - ताः पूर्वं निरुद्धाः अपहृतशोकाश्च। पुनरुत्पन्ने दोषे उद्धववत् ततोऽपि विशेषप्रकारेण सान्त्वयामास। यतो भगवान् नानाप्रकारानुनये कोविदश्च। यथैव ताः सान्त्विता भवन्ति, तथैव कृताः ॥१६॥

व्याख्यार्थ – वे पहले निरुद्ध हुई है और शोक रहित भी हो गई थी फिर दोष उत्पन्न होने पर उद्धव की तरह उससे भी विशेष प्रकार उनको सान्त्वना देने लगे, क्योंकि भगवान् सङ्कर्षण विधि प्रकार के आश्वासन देने मे चतुर है, जैसे वे शान्त हो प्रसन्न होवे वैसे ही किये ॥१६॥

आभास—सान्त्वनार्थमेव ह्ययं गतः, वाक्यमात्रेण सान्त्वनं न भवतीति वसन्तसमये तत्रैव स्थितश्चेत्याह द्वौ मासौ तत्र चावात्सीदिति ।

आसाभार्थ – सान्त्वना देने के लिये ही ये गये है, केवल वचनों से ही सान्त्वना नहीं होती है, इसलिये वसन्त ऋतु के दो मास वहां ही विराजमान हुवे ।

श्लोक—द्वौ मासौ तत्र चावात्सीन्मधुं माधवमेव च ।
रामः क्षपासु भगवान्गोपीनां रतिमावहन् ॥१७॥

श्लोकार्थ—भगवान् राम रात्रि के समय गोपियों के रति को बढ़ाते हुए चैत्र और वैसाख दो मास वहाँ ही रहे ॥१७॥

सुबोधिनी—स हि बहुकालं यत्र क्वचित्तिष्ठति, तत्रापि स्थितः। मधुं माधवमेव चेति। वसन्त एव कामकृता पीडा महतीति। तस्मिन् विद्यमाने कामो न पीडयतीति। भगवान् उद्धवद्वारा अलौकिकसमाधान कृत्वा लौकिकन्यायेन बलभद्रद्वारा कृतवानिति। रामोऽपि रतिवर्धनः।

क्षपासु भगवद्रूपो भूत्वा गोपीनां रतिमावहन् स्वयमपि रेमे इत्यग्रेण सम्बन्धः। अवात्सीदिति पूर्वेण वा। चकारात् स वसन्तो मासत्रयात्मक इति ज्ञातव्यम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—वे जहां जाते वहां बहुत समय ठहरते अतः यहां भी वसन्त के दो मास चैत्र और वैशाख ठहरे। वसन्त में ही काम की पीड़ा विशेष होती है, उनके विद्यमान होने पर काम, पीड़ा नहीं करता है, भगवान् ने उद्धव द्वारा अलौकिक समाधान कराके लौकिक न्याय से बलभद्र द्वारा समाधान किया, राम भी रति बढ़ाने वाले है, रात्रियों में भगवद्रूप हो गोपियों की रति को धारण करते हुए स्वयं भी रमण करने लगे, यह आगे के श्लोक की क्रिया 'रेमे' से सम्बन्ध है अथवा अवात्सीत् रहने लगे इस पूर्व क्रिया के साथ सम्बन्ध है 'च' पद दिया है जिसका भाव यह है कि वसन्त फाल्गुन से लेकर तीन मास का था यों समझना चाहिये ॥१७॥

आभास—अन्यार्थमेव चेद्गच्छेत्, तदा लोके अनौचित्यं भवतीति भगवदिच्छया स्वयमपि रतिं कृतवानित्याह **पूर्णचन्द्रकलामृष्ट** इति।

आभासार्थ—दूसरों को सान्त्वना देने के लिये यदि जावे तो लोक में अयोग्यता देखने में आवे क्योंकि आप ज्येष्ठ हैं, इसलिये भगवदिच्छा से स्वयं भी रति करने लगे, यह 'पूर्णचन्द्र कलामृष्टे' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—पूर्णचन्द्रकलामृष्टे कौमुदीगन्धवायुना।
यमुनोपवने रेमे सेविते स्त्रीगणैर्वृतः ॥१८॥

श्लोकार्थ—पूर्ण चन्द्रमा की किरणों से उज्ज्वल, कुमुद की सुगन्धित वायु से सेवित यमुना के उपवन में स्त्रीगणों से वृत हो रमण करने लगे ॥१८॥

सुबोधिनी—तत्पतिसम्बन्धे या न विरुध्यन्ते, ता बलभद्रेणापि न विरुध्यन्त एव। अनेन सर्वत्र भगवद्धर्मेषु भगवत्सिद्धचर्थं साक्षान्निर्लेपे सम्बन्धाभावात् अनुकल्पाः कृता इति सूचितम्। अनुकल्पोऽपि सानुभाव एव भवति; न तु निरनुभाव इति यमुनाकर्षणं वरुणादिसम्माननं च निरूपयिष्यति। त्याज्य एव देहादिरिति। यथा वस्त्रपावनार्थं जल वस्त्रे प्रक्षिप्यते, तथा एताः भगवद्धर्मे प्रक्षिप्ताः। रमणे साधनान्याह। पूर्णचन्द्रकलाभिः मृष्टे उज्ज्वले यमुनोपवन इति। वनं नदी च रसपोषके। अपेक्षितो वायुरिति देशं निरूप्य निरूपयति कौमुदीगन्धवायुनेति। कुमुदसम्बन्धिनी कौमुदी नदी तत्सम्बन्धिगन्धयुक्तेन वायुना सेविते। कौमुदी ज्योत्स्ना वा। गन्धश्च। उभयसहितेन वायुना सेवितत्वादेव मन्दत्वम्। इदं रमणं पुष्पावचयादिरूपम्। बहिरिति ज्ञापयितुं स्त्रीगणैर्वृत इत्युक्तम्। गणशः सर्वविधा एव स्त्रियस्तत्र सन्तीति ज्ञापितम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—उनके पति के संबन्ध पर जो विरोध नहीं करती हैं वे बलभद्र से सम्बन्ध होने पर भी विरोध नहीं करेंगी ही, अर्थात् नहीं करती हैं, यों कहने से यह सूचित किया है कि सर्वत्र भगवान् के धर्मों में अर्थात् पूर्ण चन्द्र आदि सर्व पदार्थों में भगवान् की तरह रमण की सिद्धि के

लिये अनुकल्प ही किये हैं, क्योंकि जो साक्षात् निर्लेप भगवदीय पदार्थ है उससे बलभद्र का सम्बन्ध हो नहीं सकता है, अतः यहाँ गोपियाँ राम आदि सब पदार्थ अनुकल्प ही हैं, अर्थात् जैसे राम में भगवदावेश है वैसे सर्व पदार्थों में भगवदावेश होने से सर्व भगवदनुकल्प हैं, अनुकल्प भी उनकी सामर्थ्यवाला होता है, न कि बिना सामर्थ्य वाला होता है। जैसे राजा का प्रतिनिधि राजा न होते हुए भी राजा की सामर्थ्य से युक्त होता है, अतः यमुनाजी का आकर्षण और वरुणादि का सम्मान-निरूपण करेंगे देह आदि तो त्याज्य ही हैं, जैसे वस्त्रों को पावन करने के लिये जल में डाला जाता है- वैसे ये भगवद्धर्म्म में डाली गई हैं, रमण के समय के साधन कहते हैं, पूर्ण चन्द्रमा की कलाओं से उज्ज्वल यमुनाजी के उपवन में, यों वन और नदी दोनों रस पोषक हैं, वहां जैसे वायु की अपेक्षा है उसका निरूपण करते हैं कि नदी से सम्बन्ध वाली सुगन्धि युक्त वायु चल रही थी, अथवा कौमुदी का अर्थ ज्योत्सना भी हो सकता है, और सुगन्धि, दोनों से युक्त वायु से सेवित होने से उसमें मन्द-पन था, यह रमण फूलों के चुनने रूप था, अर्थात् इस रमण में पुष्पों का चयन करते थे, बाहर रमण जताने के लिये कहा है कि स्त्रीगणों से आवृत थे, सर्व प्रकार के स्त्रियों के गण थे यह जताया है।१८।

आभास – तस्यानुभावमाह वरुणप्रेषितेति ।

आभासार्थ – 'वरुण प्रेषिता' श्लोक से बलभद्र का प्रभाव बताते हैं।

श्लोक— वरुणप्रेषिता देवी वारुणी वृक्षकोटरात् ।
पतन्ती तद्वनं सर्वं स्वगन्धेनाध्यवासयत् ॥१९॥

श्लोकार्थ—वरुण की प्रेषित वा वारुणी देवी वृक्ष कोटर से बहती हुई सकल वन को अपनी गन्ध से वासित करने लगी ॥१९॥

सुबोधिनी – वारुणी काचिल्लक्ष्म्या सह अमृत-मथने उत्पन्ना सा अधिष्ठात्री देवता सर्ववृक्षेषु तिष्ठति। सा दैत्येभ्यो दत्तेति दैत्यराजाधीना सा यस्मिन्नेव वृक्षे अधितिष्ठति, तत एव मधुधारा उत्पद्यते। सङ्कर्षणश्च तामसी भगवन्मूर्तिः। मधुना सम्प्रीतो भवतीति दैत्यराजेन वरुणेनाज्ञप्ता देवतात्वात् यथासुखं यथाभिलषितगन्धरसरूपा पतति। अतो वृक्षकोटरात्पतन्ती सर्वमेव तद्वनं स्वगन्धेन अध्यवासयत्। यथा स गन्धः सर्वव्यामोहको भवति। ॥१९॥

व्याख्यार्थ—कोई वारुणी नामक पदार्थ लक्ष्मी के साथ अमृत मन्थन के समय उत्पन्न हुआ था, उसकी अधिष्ठात्री देवता सर्व वृक्षों में रहती है, वह दैत्यों को दी थी, जिससे वह दैत्यों के राजा के आधीन है, जिस वृक्ष में आकर रहती है उससे ही मधुधारा पैदा होती है, और सङ्कर्षण भगवान् की तामसी मूर्त्ति अर्थात् स्वरूप है अतः मधु से प्रसन्न होता है, इसलिये दैत्य राज वरुण से आज्ञा पाकर देवता होने से सुख पूर्वक, अभिलाषानुरूप गन्ध युक्त रस वाली होकर बहती है, अतः वृक्ष कोटर से गिरती हुई वह वन अपने गन्ध से सुवासित करने लगी जैसे वह गन्ध सब को मोहित करने वाली हो गई ॥१९॥

आभास—अत एव गन्धेनैव वशीकृतो बलभद्रः पपावित्याह तद्गन्धं मधुधाराया इति ।

आभासार्थ—गन्ध से मोहित होने से बलभद्र ने उसका पान किया, यह 'तगद्न्धं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तद्गन्धं मधुधाराया वायुनोपहृतं बलः ।
आघ्रायोपगतस्तत्र ललनाभिः समं पपौ ॥२०॥

श्लोकार्थ—वायु से आई हुई मधुधारा की वह गन्ध सुगन्ध पाकर बलराम ने वहाँ आकर सब स्त्रियों के साथ उसका पान किया ॥२०॥

सुबोधिनी—तत्सर्ववनव्याप्तम् । वायुनोपहृतमिति दूरेपि क्रीडन् आघ्रायोपगतः । उभयेषां पूर्णरमणे भगवत्स्मरणेन कदाचित्सङ्कोचः स्यात्, रसो वा नोत्पद्येत, अत एतदर्थं ललनाभिः समं पपौ ॥२०॥

व्याख्यार्थ—वह गन्ध समस्त वन में फैली हुई थी, क्योंकि उसको सर्वत्र वायु ले गई थी, जिससे राम आदि दूर भी खेल रहे थे तो भी सुगन्ध पाकर यहां आ गये, उसका अकेले राम ने पान नहीं किया, किन्तु स्त्रियों के साथ पान किया, क्योंकि इनका राम से प्रथम रमण था उस समय यदि बलराम में आविष्ट होने से भगवान् का ज्ञान हो जावे, तो कदाचित् रमण में सङ्कोच हो जावे अतः स्त्रियों के साथ पान किया अर्थात् स्त्रियों ने भी वारुणी पान किया ॥२०॥

आभास—ततो गतक्लेशास्ताः रतिपोषिका जाता इति वक्तुं तासां गानमाह उपगीयमानचरित इति ।

आभासार्थ—पश्चात् विना क्लेश वाली वे रति का पोषण करने वाली हुई, यों कहने के लिये 'उपगीयमानचरितो' श्लोक में उनके गान का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—उपगीयमानचरितो वनिताभिर्हलायुधः ।
वनेषु व्यचरत्क्षीबो मदविह्वललोचनः ॥२१॥

श्लोकार्थ—स्त्रियाँ जिनका चरित्र गारही हैं और मद से घूणित जिसके नेत्र हो रहे हैं ऐसे बलदेवजी मत्त होकर वनों में विचरने लगे ॥२१॥

सुबोधिनी—उपगीयमानं चरितं यस्येति । तस्मिन् रुचिरुक्ता । यतो वनिताः वनमिताः इति । हलायुध इति तस्यापि विचाराभाव उक्तः। किञ्च । क्षीबो मत्तः । अनेन विचाराभावः सम्यक् निरूपितः । मदेन विह्वले लोचने यस्येति लोकान् पश्यन्नपि न पश्यतीत्युक्तम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ— स्त्रियाँ चरित्र गान कर बलरामजी में अपनी रुचि प्रकट कर रही हैं, क्योंकि वन में आई हुई हैं और वह भी हलायुध हैं जिससे उन में विचार का अभाव है, और विशेष में फिर मधु-पान के कारण मत्त हैं, यों कहने से इनमें विचार का अभाव है यह अच्छी तरह निरूपण किया है, मद से नेत्र विह्वल हो जाने से देखते हुवे भी नहीं देखते हैं यों कहा है ॥२१॥

आभास—एवमवस्थापन्नस्य आधिदैविकं रूपं प्रकटीभूतमिति ज्ञापयितुं वर्णयति स्रग्व्येककुण्डलो मत्त इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त का आधिदैविक रूप प्रकट हुआ, यह जताने के लिये, 'स्रग्व्येककुण्डलो मत्त' श्लोक में वर्णन करते है ।

श्लोक—स्रग्व्येककुण्डलो मत्तो वैजयन्त्या च मालया ।
बिभ्रत्स्मितमुखाम्भोजं स्वेदप्रालेयभूषितम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—कैसे बलदेवजी हैं ! जिनके गले में वैजयन्ती माला है, एक कान में ही कुण्डल है । मदमत्त है, मन्द हास्य युक्त मुख कमल वाले हैं, प्रलय के स्वेद रूप हिम कणों से सुशोभित हैं ॥२२॥

सुबोधिनी—चत्वारि विशेषणानि चतुर्मूर्तित्वसम्पत्तये निरूपितानि । स्रग्वी पुष्पमालापरिवीताङ्गः, एकमेव कुण्डलं यस्य । सङ्कर्षणस्य तदसाधारणं चिह्नम् । योग एव, न साङ्ख्यमिति। मत्तः स्वभावतः । वैजयन्त्या नवरत्नखचितया आपादलम्बिन्या मालया स हसितमुखाम्बुजं श्वेतमुखकमलं बिभ्रत् । स्वेदरूपाः प्रालेयाः हिमकणाः । तेन भूषितमिति । अनेन श्रमः सहज एव शोभाकरः, न तु क्लेशजनित इति सूचितम् । ते प्रस्वेदकणाः न शीतला भवन्तीति ॥२२॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में चतुर्मूर्तित्व सम्पत्ति के लिये चार विशेषण निरूपण किये हैं १-पुष्पमाला से युक्त अङ्ग वाले, जिनके एक ही कुण्डल है, सङ्कर्षण का यह असाधारण चिन्ह है, कारण कि इस स्वरूप में केवल योग अर्थात् क्रिया शक्ति प्रकट है न कि साङ्ख्य[1] शक्ति, स्वभाव से मत हैं, नव रत्नों से खचित, पाद पर्यन्त लम्बी अर्थात् लटकने वाली वैजयन्ती माला से वह श्वेत मुख कमल को धारण करते हुए, स्वेदरूप जो प्रलय के हिम कण हैं उनसे सुशोभित, इससे यह जताया है कि श्रम सहज ही शोभा करने वाला है न कि क्लेश दायी है,वे पसीने के कण शीतल नहीं होते हैं।२२।

१—साङ्ख्य शक्ति अर्थात् ज्ञान योग. उसमें आत्म और अनात्म विवेक है और सङ्कर्षण वेदात्मक है इसमें एक ही क्रियात्मक योग शक्ति है तथा वेद में सर्व आत्मरूप होने से आत्म अनात्म विवेक उसको सम्मत नहीं है,

आभास—तर्हि स्वरूपनाश एव वारुण्या जात इत्याशङ्क्य, तथा प्रतीतवन्तं देवमपि नाशयतीति ज्ञापयितुं यमुनां तथा मन्यमानां निग्रहं चिकीर्षुराकारितवानित्याह स आजुहावेति ।

आभासार्थ—तो मत्त होने पर, वारूणी से स्वरूप का नाश ही हुआ, यों शङ्का कर वैसे प्रतीत होने वाले देव को भी नाश करती है, यों जताने के लिये वैसे प्रकार वाली यमुनाजी का निग्रह करने की इच्छा वाले राम ने उसको बुलाया, यह 'स आजुहाव' श्लोक में कहा है।

श्लोक—स आजुहाव यमुनां जलक्रीडार्थमीश्वरः ।
निजं वाक्यमनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः ।
अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह ॥२३॥

श्लोकार्थ—उन समर्थ बलदेवजी ने जल क्रीड़ा के लिए बुलाया, जब उन्होंने देखा कि मेरे वचनों का अनादर कर नहीं आई है, तब मत्त एवं कुपित बलरामजी क्रोधित हो उसको हल के अग्र भाग से खेंचा ॥२३॥

सुबोधिनी—केवल निग्रहार्थमाकारणे सुतरां मत्तता भवतीति यत्रैव पीत्वा तिष्ठति, तत्रैव जलक्रीडा कर्तव्येति जलक्रीडार्थमित्युक्तम् । नन्वेवं कृतेऽपि मत्तता भवत्येव, नहीश्वरमर्यादया स्थापिता नद्यः क्वचिदायान्ति, आगता वा कथं न मर्यादाभङ्गं कुर्युः, तत्राह ईश्वर इति । न हि स्वार्थमेव मर्यादा भवति, अन्यथा क्रीडार्थं जगन्निर्माणमिति पक्षो न स्यात् । नहीश्वरः ईशितव्यमुपसर्पति । ततो यमुनया विचारितम्, मत्तोऽयम्, मत्त एव अविचार्यैवाकारयतीति बलवाक्यमनादृत्य, आपगां नदीं अनागतां हलाग्रेण विचकर्ष । हलस्याप्याधिदैविकत्वात् देवतासहितां नदीं कूलेऽपि निम्नभावं सम्पाद्य, कुल्यामार्गेण नीतवान् । तदा देवतासहितं जलं स्वभावमार्गेणागच्छत् तेनैव मार्गेण गन्तुं प्रवृत्तम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—जल क्रीड़ार्थ श्री यमुनाजी को बुलाया यों कहने का कारण बताते हैं, कि यदि केवल निग्रहार्थ ही बुलाते तो सुतरां मत्तता आ जाती, इसलिये जहां ही पान कर ठहरे थे वहाँ ही जल क्रीड़ा करनी चाहिये, इसलिये यों कहा, यों करने पर भी मत्तता होती ही है, ईश्वर की मर्यादा से स्थापित जो नदियाँ हैं वे कहीं भी नहीं आती हैं, यदि आवें तो मर्यादा का भङ्ग होगा ही, इसका उत्तर देते हैं कि इसमें क्या हानि है ? बुलाने वाले भी तो ईश्वर हैं, ईश्वर के लिये ही मर्यादा नहीं होती है यदि मर्यादानुसारिणी ईश्वर की लीला होवे तो क्रीड़ा के लिये जगत् का निर्माण यह पक्ष भी नहीं बनता है, ईश्वर अपने ईश्वर पन को नहीं खींच लेता है, बुलाने पर श्री यमुनाजी ने विचार किया कि यह उन्मत्त हैं, जो मदमत्त होता है वह ही बिना विचारे बुलाता है, इसलिये बल के वचन का अनादर किया है, अर्थात् नहीं आई, जब देखा कि नहीं आई तब उसको हल के अग्र भाग से खेंचा, हल भी आधिदैविक स्वरूप होने से, देवता सहित नदी का

कूल पर ही, निम्न भाव सम्पादान कर, नहर के मार्ग से लाये. तब देवता सहित जल, स्वाभाविक मार्ग से जाने लगा उस ही मार्ग से जाने के लिये प्रवृत्त हुवे ॥२३॥

आभास—एतदपि मत्तकार्यमेवेत्याशङ्क्य ज्ञानपूर्वकं तथाकरणमित्याह **पापे त्वं मामवज्ञायेति।**

आभासार्थ— यह कार्य भी मत्त का ही है यों शङ्का हो तो कहते है कि ज्ञान पूर्वक यों किया है, जिसका वर्णन 'पापे त्वं मामवज्ञाय' श्लोक में करते हैं।

श्लोक— पापे त्वं मामवज्ञाय यन्नायासि मयाहुता ।
नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेण शतधा कामचारिणीम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—बलरामजी ने कहा कि हे पापिनी ! मेरी बुलाई हुई तू मेरा अनादर कर नहीं आई है, तो तुझ कामचारिणी को हल के अग्र से शत विभाग कर डालूँगा ॥२४॥

सुबोधिनी—मयाहुता आहूता । अथवा । यस्मात्त्वं मामवज्ञाय नागता अतो मया हुता यथा हुता दग्धा भवति, एवं शुष्केत्यर्थः । न केवल शुष्कमात्रं निग्रहः, किन्तु अगृहामपि करिष्यामि, यतो वृष्टिजलेनापि लोका नदीत्वं न मंस्यन्त इति तदाह नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेणेति । यथा केदारेण सिक्तं जलं गच्छति ईश्वरवचनोल्लङ्घने महत्पापम्, पापे च दण्डादिकं न दोषायेति पाप इति सम्बोधनम् । तस्या अपराधमाह कामचारिणीमिति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—'मयाहुता, पद का अर्थ दो प्रकार के करते हैं, एक 'मया आहुता' मैंने तुमको बुलाया, दूसरा 'यस्मात् त्वं मां अवज्ञाय न आगता अतो मया हुता दग्धा भवति, एवं शुष्का इत्यतः' जिस कारण से, तूं मेरा अपमान कर नहीं आई है, इस कारण से, मैंने तुझे जला दिया जिससे तूं शुष्क हो जायेगी, न केवल शुष्कमात्र तेरा निग्रह करूंगा, किन्तु बिना घर वाली भी करूंगा जिससे वृष्टि के जल पड़ने पर भी लोक तुझे नदी नहीं मानेंगे, वह कहते हैं कि, हल के अग्र भाग से तेरे सैंकड़ों टुकड़े कर डालूँगा, जैसे केदार से सिञ्चित जल बह जाता है वहां जल न रहने से वह भूमि शुष्क हो जाती है वैसे तूं भी हो जावेगी, ईश्वर के वचनों का उल्लङ्घन महा पाप है, पापी, को दण्ड देने में दोष नहीं है, इसलिये 'पापे' सम्बोधन दिया है, 'कामचारिणी' पद से उसका अपराध बताया है अर्थात् तेरा यह अपराध है कि तू आज्ञा न मान, बड़ों का तिरस्कार कर मन मानी करती है ॥२४॥

आभास—इयं न तस्य प्रतिज्ञा, किन्तु निर्भर्त्सनमात्रमित्याह **एवं निर्भर्त्सितेति।**

आभासार्थ—यह उनकी प्रतिज्ञा नहीं है किन्तु केवल झिड़कना है वह 'एवं निर्भर्त्सिता' श्लोक में कहते है।

श्लोक—एवं निर्भत्सिता भीता यमुना यदुनन्दनम् ।
उवाच चकिता वाचं पतिता पादयोर्नृ प ।।२५।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार भिड़कने पर भयभीत यमुना आश्चर्य में पड़ गई, हे नृप ! राम के पैरों पर गिरकर वाक्य कहने लगी ।।२५।।

सुबोधिनी—आकर्षणसामर्थ्यं दर्शनादेव ज्ञातवती । सत्यमेव करिष्यतीति । ततो भीता । यदुनन्दनं भक्तकृपालुम् । चकिता आश्चर्ययुक्ता सती प्रवाहस्थानात् दूरे नीता उवाच । पादयोः पतितेति अपराधक्षमापनार्थम् । नृपेति सम्बोधनं परिज्ञानार्थम् । अल्पो न विश्वसतीति ।।२५।।

व्याख्यार्थ—बलराम के आकर्षण का सामर्थ्य देखने से ही समझ गई यह सचमुच यों करेगा, उससे डरी, 'यदुनन्दन' नाम देने का भाव प्रकट करते है कि 'भक्तों पर कृपा करने वाले हैं, प्रवाह स्थान से दूर खींच जाने से आश्चर्य में पड़ गई और पैरों पर गिर के अपराध की क्षमा मांगती हुई कहने लगी, नृप: यह सम्बोधन परिज्ञान वास्ते दिया है, अल्प विश्वास नहीं करता है यों ।।२५।।

आभास—तस्याः प्रार्थनामाह राम रामेति ।

आभासार्थ—उसकी प्रार्थना 'राम राम' श्लोक मे कहते है ।

श्लोक—राम राम महाबाहो न जाने तव पौरुषम् ।
यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते ।।२६।।

श्लोकार्थ—हे राम ! हे महाबाहो राम ! तुम्हारा पौरुष मैं नहीं जानती हूँ, हे जगत् के स्वामी ! जिस आपके एक अंश ने सारा भूमण्डल धारण किया है ।।२६।।

सुबोधिनी—आदरे वीप्सा । तेनावज्ञा परिहृता । महाबाहो इति स्वज्ञातं भगवत्सामर्थ्यमाह । तज्ज्ञानं सामान्यत एव,विशेषतो न जानामीत्याह न जाने तव पौरुषमिति । वस्तुतस्त्वं महाबाहुः । अहं परं न जान इति वा । ज्ञात्वैवापराधशान्त्यर्थं तथा वदतीत्याशङ्कायामाह यस्यैकांशेनेति । माहात्म्यं हि दृष्टं जानाति । नदी पुनः भूम्या एकदेशे भवति । 'भूमिरेव पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णा यस्य एकदेशेन विधृता भवति भूमण्डलं सर्षपायति यस्य मूर्ध्नी'ति वाक्यात् । तस्मादज्ञात्वा कृतोऽपराध इति क्षमा कर्तव्येति भावः । नन्वज्ञात्वा कृतेऽप्यपराधे दण्डो लोके दृष्ट इति चेत्, तत्राह जगतः पत इति । उदासीनव्यनस्थेयम् । पतिस्त्वज्ञानकृते न दण्डं करोति ।२६।

व्याख्यार्थ—राम ! राम ! दो बार आदर भाव से कहा है, 'महाबाहो' सम्बोधन से यह बताया है कि भगवान् रामजी का सामर्थ्य हम सामान्यत: जो जानती है तदनुसार यह सम्बोधन कहा है । विशेष नहीं जानती हूँ, इसलिए स्पष्ट कहा है कि 'न जाने तव पौरुषं' आपका विशेष पराक्रम मैं नही जानती हूँ आप वास्तविक महाबाहु है, परन्तु मैं इसको समझ न सकी हूँ, यदि नहीं जानती है तो

अपराध के शान्त्यर्थ पैरों पर क्यों पड़ी ? इस शङ्का के उत्तर में कहती है कि देखा हुआ माहात्म्य जानती है, जैसे कि जिसके एक देश में धारण की हुई पश्चात् कोटि विस्तीर्ण भूमि वाला यह भूमण्डल जिसके मस्तक पर सर्षप जैसा भासता है, उस भूमि के एक देश में नदी होती है इस कारण से मैंने माहात्म्य नहीं जाना अतः अज्ञान से कृत अपराध क्षमा करना चाहिए, यदि कहो कि लोक में अज्ञान से किये हुए अपराध का भी दण्ड दिया हुआ देखा जाता है, तो इस पर कहते हैं आप जगत् के पति हैं, यह उदासीन व्यवस्था है पति तो अज्ञान से हुए दोष का दण्ड नहीं देता है ।।२६।।

आभास—ननु ज्ञायत एव संकर्षणो महानिति सर्वशास्त्रसिद्धम्, तत्कथमज्ञानमिति चेत्, तत्राह परं भावं भगवतेति ।

आभासार्थ—यदि कहो कि सब जानते हैं कि सङ्कर्षण शास्त्रों से सिद्ध महान् हैं, फिर अज्ञान कैसे ? इसका उत्तर 'परं भावं भगवतो' श्लोक में देती है ।

श्लोक—परं भावं भगवतो भगवन्मामजानतीम् ।
मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन्प्रपन्नां भक्तवत्सल ।।२७।।

श्लोकार्थ—हे विश्वात्मन् ! भगवन् आप भक्तवत्सल भी है, अतः भगवान् के परमभाव को न जानने वाली, शरणागत मुझ को आप छोड़ देने के योग्य हैं ।।२७।।

सुबोधिनी—त्वयि मनुष्यभाव एव आधिभौतिकभावो वा लोकसिद्धः, न तु परो भावः । यथा भगवति कृष्णे । स एवात्राविष्ट इति न कोऽपि जानाति । अतः परं भावं साक्षाद्भगवतस्ते अजानतीं मां मोक्तुमर्हसि । भगवन्निति सम्बोधनात् इदानीं ज्ञातमिति नाग्रे अपराधः सम्भविष्यतीति सूचितम् । जातेऽप्यपराधे क्षमा कर्तव्येति सम्बोधनान्तरमाह विश्वात्मन्निति । आत्मापराधः कस्यापि न रोषकर इति । तथाप्यधिकारावेशेन भेददर्शनात् अक्षमेति चेत्, तत्राह भक्तवत्सलेति । आत्मनो भक्तत्वमाह प्रपन्नामिति ।।२७।।

व्याख्यार्थ - आप में मनुष्य भाव अथवा आधिभौतिक भाव ही लोक सिद्ध है, जैसा भगवान् कृष्ण में परभाव है, वैसा परभाव आप मे सिद्ध नहीं है, वह परभाव रूप कृष्ण अब आप में प्रविष्ट हैं, यों कोई नहीं जानता है, अतः अब जो साक्षात् परभावरूप भगवान् आप हैं उस परभाव को न जानने वाली मुझ को छोड़ने के लिये योग्य हो, भगवान् इस सम्बोधन से यह सूचित किया कि अब आपके स्वरूप को जाना है, जिससे आगे अपराध नहीं होगा, अपराध होने पर भी क्षमा करनी चाहिये क्योंकि आप विश्वात्मा है अपना किया हुआ अपराध किसी को क्रोधित नहीं करता है, यदि कहो कि, तो भी, अधिकार के आवेश से भेद के दीखने पर क्षमा नहीं की जा सकती है, जिसका उत्तर देती है कि आप भक्त वत्सल हैं, और मैं आपके शरण आने से भक्त हूँ इसलिये सर्वथा मैं क्षमा के योग्य हूँ और आप क्षमा देने के योग्य है ।।२७।।

आभास—एवं कर्मज्ञानभक्तिप्रकारैः प्रार्थनायां कृतायां तां त्यक्तवानित्याह ततो व्यमुञ्चदिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार कर्म,ज्ञान और भक्ति के प्रकारों से प्रार्थना करने पर उसको छोड़ दिया, यह 'ततो व्यमुञ्चत्' श्लोक में कहते है।

श्लोक—**ततो व्यमुञ्चद्यमुनां याचितो भगवान्बलः ।**
विजगाह जलं स्त्रीभिः करेणुभिरिवेभराट् ।।२८।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब यमुनाजी ने प्रार्थना की, तब भगवान् बलदेवजी ने उसे छोड़ दिया और जैसे गजराज हथिनियों के साथ जल में प्रवेश करता है, वैसे उन्होंने स्त्रियों के साथ जल में प्रवेश किया ।।२८।।

सुबोधिनी—तयैव मोचनार्थं याचितः, यतो भगवान् । महत इयमेव व्यवस्था । पुनरपकारं न करिष्यतीति बुद्ध्वा तथा कृतवानिति पक्षं व्यावर्तयति बल इति । स्वबलाभिनिवेशादेव तथा कृतवान्, न तु ज्ञात्वेत्यर्थः । तस्यां प्रसन्न इति ज्ञापयितुं क्रीडामाह विजगाह जलं स्त्रीभिरिति । पूर्ववन्मर्यादां त्यक्तवानिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह करेणुभिरिवेभराडिति ।।२८।।

व्याख्यार्थ—उसने ही अर्थात् यमुनाजी ने ही छोड़ने के लिये बलरामजी से याचना की थी, क्योंकि भगवान् है, महान् की यह ही व्यवस्था है कि अपकार न करेंगे यों समझ कर ही यह किया था इस पक्ष को बदलता है क्योंकि बलराम बल वाले है, अपने बल के अभिनिवेश से ही वैसे किया, न कि जान बूझ कर किया उस पर प्रसन्न हुए यह जताने के लिये क्रीड़ा को कहने लगे, स्त्रियों के साथ जल में प्रवेश किया, जैसे गजराज हथिनियों के साथ प्रवेश करता है, गजराज के दृष्टान्त देने का भाव यह है कि जैसे वह मर्यादा नहीं रखता है वैसे आपने भी पहले जैसी मर्यादा का त्याग किया ।।२८।।

आभास—एतावत्पर्यन्तं भगवत्त्वमुक्त्वा तिरोहितो भगवानिति ज्ञापयितुं तस्य वस्त्राणां क्लेदनात् वस्त्रान्तरपरिधानमाह **कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णायेति ।**

आभासार्थ—यहां तक भगवत्त्व कह कर भगवान् तिरोहित हो गये यह जताने के लिये उनके वस्त्रों के गीले पन के कारण अन्य वस्त्रों का धारण 'कामं विहृत्य' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णायासिताम्बरे ।**
भूषणानि महार्हाणि ददौ कान्तिः शुभां स्रजम् ।।२९।।

श्लोकार्थ—ग्रच्छी तरह जल क्रीड़ा कर जब बाहर निकले, तब कान्ति देवी ने बलरामजी को दो ग्रमूल्य नील, दो वस्त्र, ग्राभूषण ग्रौर सुन्दर माला दी ॥२६॥

सुबोधिनी—कान्तिर्भगवतश्चतुर्थी शक्तिः। ग्रत एव तामसी मूर्तिश्चतुर्थी तद्धितार्थं तस्य प्रिये नीले ग्रम्बरे भूषणानि च तदीयानि शुभां स्रजं कल्याणसूचिकां मालां ददौ। ग्रन्यथा ग्रपराधस्मरणात् जीवितमेव न भवेत्। भगवदीयया सत्कृत इति तस्यान्तस्तापो निवृत्तः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—कान्ति देवी भगवान् की चतुर्थी शक्ति है, इस कारण से ही चौथी तामसी मूर्ति उनके हित के लिये उनके प्यारे नीले रंग के दो वस्त्र तथा ग्राभूषण ग्रौर कल्याण का सूचन करने वाली सुन्दर मालाएँ दीं, यदि इस प्रकार यह चतुर्थी भगवान् की शक्ति बलरामजी का सत्कार न करती तो ग्रपराध स्मरण से जीवन, हीन रहता, भगवच्छक्ति द्वारा सत्कार होने से उसका भीतर का ताप निवृत्त हो गया ॥२६॥

ग्राभास—ततस्तत्परिधानात् बहिर्मालिन्यमपि निवृत्तमित्याह् वसित्वा वाससी नीले इति।

ग्राभासार्थ—पश्चात् उन वस्त्र ग्रादि के धारण करने से, बाहर की मलीनता भी निवृत्त हो गई, यह 'वसित्वा' श्लोक में वर्णन करते है।

श्लोक—वसित्वा वाससी नीले मालामुन्मुच्य काञ्चनीम्।
रेजे स्वलङ्कृतो लिप्तो माहेन्द्र इव वारणः ॥३०॥

श्लोकार्थ—बलरामजी जब नील वस्त्र पहन, स्वर्णमयी माला धारण कर ग्रौर चन्दन लगाकर सुन्दर ग्रलंकृत हुए, तब इन्द्रराज के हस्ती के समान शोभा देने लगे ॥३०॥

सुबोधिनी - सजातीयेनैव सजातीयं व्यावर्त्यत इति नीले वाससी वसित्वा, मालां च कीर्तिमयीमुन्मुच्य, काञ्चनीं स्वरूपतोऽप्यमृतमयीं नित्यसद्गुणरूपाम्। निर्दोषगुणवान् भूत्वा रेजे। एवं स्वाभाविकीमवस्थामापन्नः स्वलङ्कृतो जातः, लिप्तश्चाङ्गरागैः। सर्वेषां दर्शनीय एव जातः, न तु गुप्त इति दृष्टान्तमाह माहेन्द्र इव वारण इति। ऐरावत इव ॥३०॥

व्याख्यार्थ—सजातीय से ही सजातीय सुन्दर सुसज्जित होता है इसलिये नीले वस्त्र धारण कर स्वरूप से ग्रमृतमयी, नित्य सद्गुणरूप, कीर्तिमयी माला को गले में डाल कर ग्रौर चन्दन ग्रादि ग्रङ्गराग से लेप लगा के निर्दोष गुणों वाले हो शोभित हुए, इस प्रकार स्वाभाविकी ग्रवस्था को प्राप्त हो ग्रलङ्कृत होने से सर्व को दर्शन योग्य ही हुए न कि गुप्त ग्रलङ्कृत दीखे जिससें दृष्टान्त देते हैं कि जसे इन्द्र का ऐरावत हस्ती शोभा देता है ॥३०॥

आभास—तस्य माहात्म्यमग्रेऽपि दृश्यत इत्याह अद्यापि दृश्यते इति ।

आभासार्थ—उनका माहात्म्य आगे भी देखने में आता है, वह 'अद्यापि दृश्यते' श्लोक में करते है।

श्लोक—अद्यापि दृश्यते राजन् यमुनाकृष्टवर्त्मना ।
बलस्यानन्तवीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव हि ॥३१॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! हल से आकृष्ट यमुनाजी के देखने से आज भी उनका माहात्म्य प्रकट है; क्योंकि वह स्थान अनन्त वीर्य बलरामजी के वीर्य की मानो सूचना दे रहा है ॥३१॥

सुबोधिनी—अन्यथा अग्रे अपकीर्तिः स्यादिति। आकृष्टवर्त्मना हलाकर्षणमार्गेण। महत एव वीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव सा जाता, न तु तावदेव बलमिति। वस्तुतस्तु तदप्रयोजकम्, न पूर्णमाहात्म्यसूचकं भवितुमर्हतीति इवशब्दः। ॥३१॥

व्याख्यार्थ—नहीं तो आगे अपकीर्त्ति होती, इसलिये यमुनाजी हल से आकृष्ट मार्ग से, बड़े ही वीर्य की मानों सूचना दे रही है, न कि इतना ही बल है किन्तु इससे अधिक विशेष बल है, वास्तव में यह तो अप्रयोजक है 'इव' पद देकर बताया है कि यह आकर्षण पूर्ण माहात्म्य सूचक होने के योग्य नहीं है ॥३१॥

आभास—एवमेकदिनकृत्यमुक्त्वा यावत्कालं स्थितः सर्वेष्वेव दिवसेषु तदतिदिशति ।

आभासार्थ—इस एक दिन का कृत्य कह कर, जितना समय रहे सर्व ही दिनों में वह दिखाता है।

श्लोक—एवं सर्वा निशा याता एकेव चरतो व्रजे ।
रामस्याक्षिप्तचित्तस्य माधुर्यैर्व्रजयोषिताम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—व्रजस्त्रियों के माधुर्यों से वशीकृत चित्त वाले व्रज में घूमते हुए राम को सर्व रात्रियाँ एक रात्रि के समान बीत गई ॥३२॥

सुबोधिनी—एवं सर्वा निशा याता इति। एकेवेति प्रकारे विशेषाभावः। व्रजे चरत इति स्थानस्य समानत्वाद्वैलक्षण्यं न प्रकाशितवान्, नत्वसामर्थ्यादिति सूचितम्। स्वपौरुषख्यापनमपि न कृतवानित्यत्र हेतुमाह व्रजयोषितां माधुर्यैराक्षिप्तचित्तस्येति। रामो हि साधनप्रधानः, भगव-

दृगुणाः तत्र प्रकाशन्त इति तत्साधनार्थमितरां- पेक्षया तत्समीचीनमिति तावन्मात्रेण पर्यवसित- मतिर्माधुर्यैर्भगवद्धर्मैर्वशीकृतचित्तस्य एकेव निशा यातेत्यर्थः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार व्रज में घूमते हुए राम की सब रात्रियाँ एक ही रात्रि के समान बीत गई अथवा हुई, व्रज का स्थान समान होने से विलक्षणता प्रकट नहीं की है, सामर्थ्य के अभाव से यों नहीं कहा है, अपना पौरुष भी प्रकट नहीं किया है, कारण कि राम का चित्त व्रज ललनाओं को मधुरता[1] से ही वश हो गया था, राम साधन प्रधान है, वहां व्रज में भगवद्गुण प्रकाशित होते हैं उनके साधन के लिये दूसरे की अपेक्षा से वह व्रज ही समीचीन है ॥३२॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे षष्ठदशोध्यायः ॥१६॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ६२वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का दूसरा अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

"श्री बलभद्र का व्रज आगमन"

राग बिलावत

स्याम राम के गुन नित गाऊँ। स्याम राम ही सौं चित लाऊँ॥
एक बार हरि निज पुर छए। हलधरजी वृंदावन गए॥
रथ देखत लोगनि सुख पाए। जान्यौ स्याम राम दोउ आए॥
नंद जसोमति जब सुधि पाई। देह गेह की सुरति भुलाई॥
आगें ह्वै लेंवे कौं धाए। हलधर दौरि चरन लपटाए॥
बल कौं हित करि गरें लगाए। दै असीस बोले या भाए॥
तुम तौ भली करी बलराम। कहाँ रहे मन मोहन स्याम॥
देखौ कान्हर की निठुराई। कबहूँ पातीहू न पठाई॥
आपु जाइ ह्वाँ राजा भए। हमकौं बिछुरि बहुत दुख दए॥

१—मधुरता से भगवान् में प्रकट अनुकल्प रूप कटाक्षादि धर्मों से

कहो कबहुँ हमरी सुधि करत। हम तो उन बिनु बहु दुख भरत ॥
कहा करें ह्वां कोउ न जात। उन बिनु पल पल जुग सम जात ॥
इहिं अंतर आए सब ग्वार। भेंटे सबनि जथा ब्योहार ॥
नमस्कार काहू को कियो। काहू कों अंकन भरि लियो ॥
पुनि गोपी जुरि मिलि सब आंई। तिनहिं हित साथ असीस सुनाईं ॥
हरि सुधि करि सुधि बुधि बिसराई। तिनको प्रेम कह्यो नहिं जाई ॥
कोउ कहै हरि ब्याही बहुनार। तिनको बढ्यो बहुत परिवार ॥
उनकों यह हम देतिं असीस। सुख सों जीवें कोटि बरीस ॥
कोउ कहै हरि नाहीं हम चीन्हो। बिनु चीन्हें उनको मन दीन्हो ॥
निसि दिन रोवत हमें बिहाइ। कहो करें अब कहा उपाइ ॥
कोउ कहै इहां चरावत गाइ। राजा भए द्वारिका जाइ ॥
काहे कों वै आवैं इहां। भोग बिलास करत नित उहां ॥
कोउ कहै हरि रिपु छै किए। अरु मित्रनि को बहु सुख दिए ॥
बिरह हमारो कहूँ रहि गयो। जिन हमकों अति ही दुख दयो ॥
कोउ कहै जे हरि की रानी। कौन भांति हरि को पतियानि ॥
कोउ चतुर नारि जो होइ। करै नहीं पतिआरो सोइ ॥
कोउ कहै हम तुम कत पतियाईं। उनकें हित कुल लाज गवाईं ॥
हरि कछु ऐसो टोना जानत। सबकों मन अपनें बस आनत ॥
कोउ कहै हरि हम सब बिसराई। कहा कहैं कछु कह्यो न जाई ॥
हरि कों सुमिरि नयन जल ढारें। नैंकु नहीं मन धीरज धारें ॥
यह सुनि हलधर धीरज धारि। कह्यो आइहैं हरि निरधारि ॥
जब बल यह संदेस सुनायो। तब कछु इक मन धीरज आयो ॥
बल तहँ बहुरि रहे द्वै मास। ब्रज बासिनि सों करत बिलास ॥
सब सों मिलि पुनि निजपुर आए। सूरदास हरिके गुन गाए ॥

। श्रीकृष्णाय नमः ।।

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६६वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६३वां अध्याय

उत्तरार्ध का १७वां अध्याय

शात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

"३रा अध्याय"

पौण्ड्रक और काशीराज का उद्धार

कारिका—कामस्य पूर्तिमुक्त्वात्र क्रोधस्यापि निरूप्यते ।
कंसादेरिव दुष्टानां मोक्षोऽत्र विनिरूप्यते ॥१॥
सस्थानस्य सदेवस्य पोषकैः सहितस्य च ।
विपक्षिणो नाशरूपः पूर्वस्माद्वचसा पृथक् ॥२॥
लौकिकैरपि वाक्यैर्यः कामादौ प्रविशेत् पुमान् ।
तं कृष्णो मोचयेत् सत्यं सर्वथेति निरूप्यते ॥३॥
पौण्ड्रकस्य समित्रस्य कर्मोपासनसंयुतौ ।
साधारवंशमात्रस्य नाशः सप्तदशेऽभवेत् ॥४॥

कारिकार्थ—काम की कथा पूर्ण कर अब क्रोध की वार्ता निरूपण करते हैं, इस प्रकार निरूपण करने से कंसादि की तरह दुष्टों के मोक्ष का यहाँ उत्तरार्ध के इस सत्रहवें अध्याय में वर्णन करते हैं, बाण के प्रसङ्ग में भगवान् ने इसको स्थान दिया, इसके सहायक महादेव पर दया की एवं सहायक रुद्रगण ने जीवित किया तथा उसका गर्व दूर किया, यहाँ उससे सर्व कार्य विपरीत किए जैसे कि वहाँ प्रह्लाद को वंश रक्षा वचन देने का कारण सर्व की रक्षा की और यहाँ सर्व पोषण करने वालों का नाश किया, वहाँ विपक्षियों का केवल दर्प दूर किया, यहाँ उनका नाश किया, इस प्रकार यह मोक्ष रूप निरोध बाणासुर के निरोध से पृथक् प्रकार का है। जो लौकिक वाक्यों से भी काम में प्रवृत्ति करते हैं, उनका भी भगवान् कृष्ण मोक्ष करते हैं जैसे कि गोपियाँ बलदेव के साथ काम में प्रवृत्त हुईं, उनका भी मोक्ष किया है, यह सर्वथा सत्य है, यों निरूपण किया जाता है। अज्ञों (अज्ञानियों) के कहने से अपने को भगवान् समझ पौण्ड्रक ने भगवान् को कहलाया कि मैं भगवान् हूँ, तूं झूठे ही मेरे चिन्ह धारण कर अपने को भगवान् प्रसिद्ध करता है, अतः वे चिन्ह छोड़ दे और अपने को भगवान् न कह अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जा ! इस प्रकार के वचन श्रवण कर भगवान् ने वहाँ पधार कर अपना ब्रह्मत्व सिद्ध कर दिखाने के लिए तथा अपने में निरोधार्थ इसके आश्रय स्थान काशी तथा मित्र काशीराज एवं सेना आदि सर्व का नाश कर दिखाया, इसका निरोध इसलिए किया है कि यह पहले भक्त था ॥१–४॥

— इति कारिका सम्पूर्ण —

आभास—पूर्वाध्याये पूर्वोक्तानां तामसप्रभृतीनां सात्त्विकत्वापादनात् गोपिकानां सकामत्वात् सात्त्विकप्रकरणे कामः पूरितः। अधुना कंसवत् प्राकृतैरपि वाक्यैः ये भावं कृतवन्तः, तेषां मोक्षरूपो निरोधो निरूप्यते। दैत्यांशानां द्विष्टानां साक्षान्मोक्षो नास्तीति निरोधरूप एव मोक्षो निरूप्यते। तत्रापि कामक्रोधयोः समानकाले प्रादुर्भाव इति शक्तिरपि विभक्तेति यदैव गोपिकानिरोधार्थं भगवान् रामो गतः, तदैव साक्षाद्भगवतोऽपि नियोगं वक्तुं काशीदाहकथा आरभ्यते। तस्याः प्रस्तावनामाह।

आभासार्थ—सात्विक प्रकरण में पूर्व कहे हुए तामस प्रभृति भक्तों का पूर्व अध्याय में सात्विकत्व सिद्ध करने से और गोपियों सकाम थीं इसलिये उनका काम पूर्ण किया है, अब कंस के समान जो प्राकृत वचनों से भी वैसा भाव करते है उनका मोक्षरूप निरोध निरूपण किया जाता है। दैत्यांश

जो शत्रु हैं उनका साक्षात्[1] मोक्ष नहीं होता है, इसलिये उनका निरोधरूप मोक्ष ही वर्णन करने में आता है, वहां भी काम और क्रोध का समान काल में ही प्रादुर्भाव हुवा है, इसलिये शक्ति भी विभक्त हो गई है जब भगवान् राम गोपिकाओं के निरोध के लिये गये तब ही साक्षात् भगवान् भी पधारे वहां नियोग कहने के लिये काशीदाह की कथा प्रारम्भ की जाती है, जिसकी प्रस्तावना कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—नन्दव्रजं गते रामे करूषाधिपतिर्नृप ।
वासुदेवोऽहमित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् ॥१॥

श्लोकार्थ— श्री शुकदेवजी कहने लगे कि राम जब नन्द के व्रज में पधारे, तब करूष देश के मूर्ख राजा ने दूत भेजकर कृष्ण को कहलाया कि मैं सच्चा कृष्ण हूँ ॥१॥

सुबोधिनी—'करूषान्मानवादास'न्निति कारूषा एव करूषाः क्षत्रियाः,ते वस्तुतः उत्तरापथराजानः ब्राह्मणभक्ता धर्मपराश्च । तेषामधिपतिः कश्चित्कस्यचिद्वसुदेवनाम्नः पुत्रः पुराणेषु वासुदेवोऽवतरिष्यतीति श्रुत्वा, वसुदेवपुत्रत्वादहमेव वासुदेव इति भगवदिच्छया तस्य वासुदेवोऽहमिति निरन्तरं भावनोत्पन्ना । तद्देहात्मवादिन एवेति बहिर्मुखत्वेव वासुदेवभावनया स्वदेशं परित्यज्य काश्यां वासे बुद्धिरुत्पन्ना । ततः काशिराजेन सह मैत्री विधाय काश्यामेव स्थितः। एवं स्थितो वासुदेवद्वैविध्यं शास्त्रसिद्धं न भवतीति स्वस्मिन् वासुदेवभावना दृढेति अन्तर्बहिरेकरूपता युक्तेति बहिरपि भगवच्चिह्नानि धृत्वा, स्थानवशान्महादेवकृपया च सानुभावोऽपि सन्, भगवतो दुर्गाश्रयणादिव्यामोहकलीलां संचिन्त्य वासुदेवे तदनुपपन्नमिति स्वयमेव वासुदेवः, नान्य इति निश्चित्य, मुख्यनिषेधार्थं कृष्णाय भगवते दूतं प्राहिणोत् । ननु स्वयं वासुदेवो भवत्येव, नापि द्वैधमस्ति,अवतारबाहुल्येऽपि समानकालीने न विरोध इति किमिति प्राहिणोदिति चेत् । तत्राह अज्ञ इति । नायं किञ्चिच्छास्त्रतोऽनुभवतो वा जानाति ॥१॥

व्याख्यार्थ—करूषान्मानवादासन्' इस वाक्य के अनुसार कारूष ही करूष क्षत्रिय कहे जाते है, वे सचमुच धर्म परायण और ब्राह्मण भक्त उत्तरापथ राजा है, उनका स्वामी किसो वसुदेव क्षत्रिय का पुत्र था, उसने पुराणों में सुना कि वासुदेव अवतार ग्रहण करेगा, अतः वसुदेव का पुत्र होने से मैं ही वासुदेव रूप से अवतरित हुवा हूँ, भगवदिच्छा से उसके मन में यह भावना निरन्तर होने से बढ़ती गई, उस देहात्मवादी बहिर्मुख की ऐसी भावना दृढ़ हो जाने से यह बुद्धि हुई कि मुझे काशी में चल कर रहना चाहिये, अनन्तर काशीराज से मैत्री कर काशी में आकर रहे । काशी में निवास के बाद मैं वासुदेव हूँ यह निश्चय हो जाने पर उसको विचार आया कि वासुदेव दो तो शास्त्र से सिद्ध न होंगे और वैसे चिन्ह भी मुझे प्राप्त नहीं है अतः प्रथम वे चिन्ह धारण किये, काशी में रहने से एवं काशीराज की मित्रता से प्रभाव वाला भी हो गया, तब भगवान् की व्यामोह में पटकने वाली द्वारका

१—भक्तों का भगवान् के साथ सर्व का कामाशन रूप मोक्ष नही होता है ।

रूप दुर्ग में पलायन करना आदि लीलाओं का स्मरण करते २ निश्चय कर बैठा कि इस प्रकार भाग जाना यह कार्य अवतार वासुदेव कभी नहीं करता अतः मैं ही वासुदेव रूप से अवतार हुवा हूँ, अन्य नहीं हुवा है, मुख्य के निषेधार्थ भगवान् कृष्ण के पास दूत को भेजा, शङ्का होती है कि दूत क्यों भेजा ? भले आप भी वासुदेव होवे इसमें किसी प्रकार दुविधा नहीं है, समान काल में यदि बहुत अवतार हो जावें तो इसमें कोई विरोध नहीं है तो फिर दूत के भेजने की आवश्यकता नहीं थी, इस शङ्का का निवारण करने के लिये श्री शुकदेवजी ने इसको 'अज्ञ' विशेषण दिया है, अर्थात् मूर्ख है यह शास्त्र अथवा अनुभव से कुछ जानता ही नहीं है अतः दूत भेजा ।।१।।

आभास— तर्हि कथमेवं कृतवानित्याशङ्कयाह त्वं वासुदेवो भगवानिति ।

आभासार्थ— यों किस लिये किया ? यह 'त्वं वासुदेवो' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—त्वं वासुदेवो भगवानवतीर्णो जगत्पतिः ।
इति प्रस्तोभितो बालैर्मेन आत्मानमच्युतम् ।।२।।

श्लोकार्थ—बालकों ने इसको बहकाया कि जगत् के पति वासुदेव भगवान् आप ही अवतरित हुए हैं, जिससे अपने को अच्युत भगवान् मानने लगा ।।२।।

सुबोधिनी— बाला अनभिज्ञाः दुर्ज्ञमूर्खबालकाः ते वासुदेवो लोके अतवीर्ण इति श्रुत्वा सन्निहित-परित्यागे कारणाभावात् निकटस्थमेव तं वासुदेवं वासुदेवनामानं पौण्ड्रक इत्यपराभिधेयं त्वं वासुदेव इत्याहुः । अतो बालकवाक्यात् तैः प्रस्तोभित आत्मानमच्युतं मेने । वासुदेव इति योगव्यावृत्त्यर्थं भगवानिति । तादृशस्य कथं जन्मेत्याशङ्कयाह अवतीर्ण इति । किमर्थमवतीर्ण इत्याकाङ्क्षायामाह जगत्पतिरिति । जगदुद्धारार्थमवतीर्ण इत्युक्तं भवति । एवं प्रस्तोभितः प्रोत्साहितो बालकवत् आत्मानमच्युतमेव मेने । ।।२।।

व्याख्यार्थ—'बाल' पद का भावार्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि जो उलटा समझते हैं, मूर्ख और बेसमझ हैं, वे बालक हैं, ऐसे लोगों ने यह सुना था कि वासुदेव ने लोक में अवतार लिया है, जो समीप है उसका बिना कारण त्याग करना योग्य नहीं, निकट स्थित उस वासुदेव को जिसका दूसरा नाम पौंड्रक था, उसको कहने लगे कि तुम ही वासुदेव हो, अतः ऐसों के बहकाने में आकर अपने को अच्युत मानने लगा, केवल वासुदेव अच्युत कैसे ? इसलिये भगवान् विशेषण दिया है. यदि भगवान् है तो उसका जन्म कैसे ? वे तो अजन्मा है, इस पर कहते हैं कि जन्मा नहीं है किन्तु, अवतार धारण किया है, क्योंकि जगत् के पति हैं इसलिये जगत् के रक्षार्थ प्रकट हुवे हैं । इस प्रकार उत्साह दिलाने पर बालक की तरह अपने को अच्युत ही समझने लगा ।।२।।

श्लोक—दूतं च प्राहिणोन्मन्दः कृष्णायाव्यक्तवर्त्मने ।
द्वारकायां यथा बालो नृपो बालकृतोऽबुधः ।।३।।

श्लोकार्थ—जैसे खेल करते हुए द्वारका में बालक किसी बालक को राजा बनाकर मुख्य राजा के पास अपना दूत भेजे, वैसे इस मूर्ख ने भी बालकों के कहने से अपने को अच्युत समझ, जिनकी गति को कोई नहीं जान सकता है, वैसे श्रीकृष्ण के पास अपना दूत भेज दिया ॥३॥

सुबोधिनी - तदा द्वैतबुद्धिर्बाधिकेति अज्ञत्वात् बहिर्मुखत्वात् मुख्याद्वैतमज्ञात्वा बाह्यद्वैतं निराकर्तुं दूतं च प्राहिणोत्। बहिर्मुखस्य तथाभावनमेवैकोपराधः,सुतरां भगवते दूतप्रेषणमिति अपराधसमुच्चयार्थश्चकारः। ननु कथं सद्भिर्न निवारित इति चेत्। तत्राह मन्द इति। मन्दस्तुच्छः। हीनबुद्धिरिति यावत्। तेन सद्भिरुपेक्षित इत्यर्थः। तर्हि स्वापेक्षयापि भगवत्युत्कर्षं पश्यन् गोवर्धनोद्धरणादिकमपि शृण्वन् कथं प्रतिस्पर्धां कृतवानित्याशङ्क्याह अव्यक्तवर्त्मने कृष्णायेति। भगवन्मार्गः कुत्रापि नाभिव्यक्तः अतो माहात्म्यस्य अस्पष्टत्वात्तथाकरणमुचितमेवेत्यर्थः। तथापि द्वारकायाम्। 'काश्येव द्वारका प्रोक्ता कलौ नान्या कथञ्चने'ति वाक्यात् भ्रान्तपरिकल्पितादन्या द्वारकापि न भवतीति निश्चित्य, द्वारकायामेव स्थिताय भगवते नाट्यक्रीडायामिव उन्मत्तवाक्यमिव प्रेषितवान्। सर्वथा अप्रसिद्धोर्थः पुरःस्फूर्तिकबाधे सर्वसम्मतो न भवतीति। एतादृशोऽपि लोके व्यवहारोऽस्तीति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह यथा बालो नृपो बालकृत इति। सोऽपि स्वक्रीडायामेव स्वकीयेषु वर्तते, न तु मुख्ये समागत्येति चेत्। तत्राह अबुध इति। एतदपि न जानातीत्यर्थः ॥३॥

व्याख्यार्थ—तब द्वैत बुद्धि बाध करने वाली हुई, ऐसी बुद्धि अज्ञ होने से और बहिर्मुख होने से ही हुई है, अतः मुख्य जो अद्वैत ज्ञान है उसको न जानने से बाहर का जो अद्वैत है उसके निराकरण करने के लिये दूत भेजा, बहिर्मुख का यों करना भी एक अपराध है, सुतरां भगवान् के पास दूत भेजना यों अपराध समुच्चय के लिये 'च' पद दिया है उसने तो भेजा सत्पुरुषों ने उसको क्यों नहीं रोका, इसलिये ही कहा कि वह हीन बुद्धि वाला एवं तुच्छ है इस कारण से सत्पुरुषों ने उसकी उपेक्षा की है, स्वयं भी जानता है कि कृष्ण ने गोवर्द्धन धारण आदि बड़े २ कार्य किये हैं, जिससे मुझ से वे बड़े है, फिर भी उनसे ईर्षा क्यों की ? कृष्ण के रहस्य को कोई नहीं जान सकता है, जिससे उनका माहात्म्य प्रकट समझ में नहीं आ सकता है, इसलिये उसका यह करना अनुचित नहीं है तथा 'काश्येव द्वारका प्रोक्ता कलौ नान्य कथञ्चन' कलियुग में काशी ही द्वारका कही है दूसरी द्वारका नहीं है इस भ्रान्त परिकल्पित से अन्य कोई द्वारका नहीं है, यह निश्चय कर, द्वारका में स्थित भगवान् को नाट्य क्रीड़ा की भांति अथवा उन्मत्त के वाक्य की तरह यों कहलाया, सर्व प्रकार अप्रसिद्ध जो अर्थ है वह आगे स्फूर्ति बाध कहाने पर सर्व के सम्मत नहीं होता है, यों होने पर भी लोक में ऐसा व्यवहार होता रहता है, इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जैसे खेल मे बालक करते हैं, एक बालक को राजा बनाते है वह बालक अपने को राजा समझता है, यों होने पर भी वह सच्चे राजा के पास जाकर कहता नहीं है, फिर इसने कैसे कहा इस पर कहते हैं कि 'अबुधः' यह ऐसा बेसमझ है जो जितना बालक समझते हैं उतना भी नहीं समझता है, इसलिये दूत भेजा ॥३॥

आभास—दूतोऽपि स इव भ्रान्त इति तस्य कथं गमनमित्याशङ्कां निवारयन् कृत्यमाह दूतस्त्विति ।

आभासार्थ—दूत भी उसकी भांति भ्रान्त था वह कैसे गया? इस शङ्का को मिटाने के लिये 'दूतस्तु' श्लोक में उसका कृत्य कहते हैं।

श्लोक—दूतस्तु द्वारकामेत्य सभायामास्थितं प्रभुम्।
कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसंदेशमब्रवीत् ॥४॥

श्लोकार्थ—दूत ने द्वारका में पहुँच कर सभा में स्थित कमल नयन, प्रभु कृष्ण को राजा का सन्देश सुनाया ॥४॥

सुबोधिनी—द्वारकां समागत्य,तत्रापि सभायां स्थितम्, प्रभुं तत्र सभायां स एव प्रभुरिति सर्वैरङ्गीक्रियमाणम्। वस्तुतोपि कृष्णं सदानन्दम्। दृष्ट्यैव सर्वतापनाशकं सानुभावं कमलपत्राक्षम्। राज्ञः पौण्ड्रकस्य सन्देशमब्रवीत्। अनेनावश्यकवक्तव्यत्वं दोषाभावश्च सूचितः ॥४॥

व्याख्यार्थ—द्वारका में आकर राजा का सन्देश कृष्ण को सुनाया, कहाँ सुनाया इस पर कहते हैं, सन्देश सुनते समय सभा में बैठे थे, जिससे सिद्ध था कि उनको सबने अपना प्रभु स्वीकार किया है, वास्तविक रीति से वे सदानन्द हैं जिससे दृष्टि से ही सर्व के तापों को नाश करते है, क्योंकि आप के नेत्र कमल पत्र जैसे हैं,राजा पौण्ड्रक का सन्देश कहा, इस प्रकार सन्देश देने से उसकी आवश्यकता दिखलाई और दोष का अभाव सूचित किया ॥४॥

आभास—राजवाक्यमाह द्वयेन।

आभासार्थ—दूत दो श्लोकों से राजा ने जो वाक्य कहे हैं वे कहता है।

श्लोक—वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमेक एव न चापरः।
भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याभिधां त्यज ॥५॥

श्लोकार्थ—मैं वासुदेव, जीवों पर दया करने के लिए प्रकट हुआ हूँ, मेरे सिवाय कोई दूसरा वासुदेव है ही नहीं, अतः तूने जो झूठा नाम अपने पर धरा है, उसका त्याग कर दे ॥५॥

सुबोधिनी—वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमिति। स एक एव भवितुमर्हति। उभयोः प्रयोजनाभावात्। तर्हीदं वाक्यं विपरीतं कुतो न भवतीत्याशङ्क्याह न चापर इति। अपरः यो न राजा सामान्यभावं च प्राप्तः स न भवतीत्याशयः। किञ्च। कार्यमपि त्वयि विरुध्यते, न मयीत्याशयेनाह भूतानामनुकम्पार्थमिति। त्वया अक्षौहिणीवधेन भूतानुकम्पा न क्रियत इत्यभिप्रायः। नन्वेवमस्तु, दूतः किमिति प्रेष्यत इति चेत्। तत्राह त्वं त्विति। मिथ्याभिधां वसुदेवपुत्रत्वेन वासुदेव इति संज्ञाम्। सरस्वती तु 'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दित'मिति वाक्यात् शुद्धसत्त्वे आविर्भूतत्वमेव, अतो मिथ्याभिधात्वमिति ॥५॥

व्याख्यार्थ— मैं वासुदेव प्रकट हुआ हूं, वासुदेव एक ही होता है दोनों का कोई प्रयोजन नहीं है, तब यह वाक्य विपरीत क्यों नहीं समझा जावे। इस प्रकार की शङ्का का उत्तर देता है कि दूसरा कोई नहीं है, दूसरा जो राजा नहीं है, केवल, सामान्य भाव को प्राप्त हुवा है वह वासुदेव नहीं बन सकता है, कहने का यह ही आशय है और विशेष यह है कि अवतार के कार्य से भी तेरे कार्य उलटे हैं, अवतार के कार्य भूतों पर दया करनी है, तुमने अक्षौहिणी सेना के नाश से भूतों पर दया न कर उनको कष्ट दिया है, मैं तो भूतों पर दया करने के लिये प्रकट हुवा हूं, यदि यो है तो मेरे पास दूत क्यों भेजा है, जिसका उत्तर है कि मैंने दूत, तुमको अच्युत समझ नहीं भेजा है, किन्तु जो केवल वसुदेव नाम वाले का पुत्र हूं, इसलिये 'वासुदेव' हूं इस प्रकार जो झूठा नाम धर लिया है उसका त्याग कर दे एतदर्थ दूत भेजा है, वह वासुदेव भगवान् अवतरित मानता है जो विशुद्ध सत्व से प्रकट होता है, अतः तुमने मिथ्या नाम धरा है उसे त्याग दे ॥५॥

आभास— ननु योगस्य विद्यमानत्वात्कथं मिथ्यात्वम्, कथं वा त्यागः कर्तुं शक्यत इति चेत्। सत्यम्। नहि लोके पितृपुत्रत्वेन नाम भवति। अन्यथा नामकरणं व्यर्थं स्यात्। अतो योगो विद्यमानोऽपि व्यवहारे न वक्तव्यः। अयमेव च त्यागः यल्लौकिक-वैदिकव्यवहारेषु तन्नामाख्यापनम्, भ्रमजनकत्वात् मिथ्यात्वमिति मन्यते, वासुदेवः परब्रह्मणोऽपि नामेति, अन्यान्यपि चिह्नानि त्यक्तव्यानीत्याह यानि त्वमस्मच्चिह्नानीति।

आभासार्थ— योग के विद्यमान होते हुवे उसको कैसे झूठा माना जावे, अथवा कैसे छोड़ा जा सकता है? यदि यों कहो तो आपका कहना सत्य है, किन्तु लोक में केवल पिता के नाम सम्बन्ध से पुत्र का नाम नहीं धरा जाता है, यदि यों माना जाय तो शास्त्र में कहा हुआ नामकरण संस्कार करना व्यर्थ हो जावे, अतः योग होने पर भी व्यवहार में वह नहीं लाना चाहिये, यह ही त्याग है, जो लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों में वह नाम प्रसिद्ध नहीं हैं, अतः भ्रमजनक होने से उसका मिथ्या-पन माना जाता है। 'वासुदेव' परब्रह्म का भी नाम है, यानि त्वमस्मच्चिह्नानि' श्लोक में कहता है कि जो अन्य भी चिन्ह धारण किये वे भी त्याग के योग्य हैं अतः उनको भी त्याग दें।

श्लोक—यानि त्वमस्मच्चिह्नानि मौढ्याद्बिभर्षि सात्वत।
त्यक्त्वैहि मां त्वं शरणं नो चेद्देहि ममाहवम् ॥६॥

श्लोकार्थ—हे यादव! मूर्खता से जो तू हमारे चिन्ह धारण कर रहा है, उन्हें त्याग दे और मेरे शरण में आजा, नहीं तो मुझ से लड़ाई कर ॥६॥

सुबोधिनी - पूर्वं स्वस्मिन् वासुदेवत्वं सिद्ध-मिति अस्मच्चिह्नत्वं चक्रादीनाम्। नन्वस्मास्वन्य-चिह्नानि कथं भवेयुः, अतोऽस्मच्चिह्नान्येव तानी-त्याशङ्कायामाह मौढ्याद्बिभर्षीति। अस्मन्मौ-ढ्याच्चिह्नानि बिभर्षीति वास्तवोर्थः। जीवा भग-वदाविर्भावेऽपि भगवन्तं न जानन्तीति भगवान्

चिह्नानि बिभर्षि । अस्मदिति पञ्चमीबहुवचनम् । अस्मद्धेतोः । तत्रापि प्रयोजकधर्मात् मौढ्याद्ध तु-त्वमुद्धारार्थमेव । नाशस्य पूर्वमेव सिद्धत्वात् । सात्त्वतेति वंशनाम्ना वैष्णवनाम्ना वा सम्बोधनम् । तेन वैष्णवन्यायेन शङ्खचक्रादिधारणं न निषिध्यत इति सूचितम् । सत्त्वप्रधानाः सात्त्वाः । सात्त्वत इति तसिल् । विसर्गपाठो वा । लोपो वा द्रष्टव्यः । भक्तजनानुरोधात् विभर्षीति । एवं विरुद्धनिराकरणं स्वबुद्धयोक्त्वा, स्वस्य कृपालु-तामाविष्कुर्वन्नाह एहि मां त्वं शरणमिति । लौकिकदृष्ट्या सामर्थ्यं न दृष्टमिति यदि नागमनम्, तदा मम आहवं देहि । आ समन्तात् त्वं मामेहि प्राप्नुहि । यथा निकटे गते मम सायुज्यसिद्धिर्भवति । अहमितः त्वत्स्थाने गन्तुमशक्त इति । इदमपि कृपाकार्यं स्वयमागत्योद्धरणम् । नोचेत्, मम वं आह । मह्यमेतावत्सुखं दास्यामीति वद । तदा निश्चिन्ततया सन्देहाभावात् त्वत्समीपागमने यत्नं करिष्यामीति । ६॥

व्याख्यार्थ—हमारे चिन्ह त्याग दे, चिन्हों को हमारे इसलिये कहा कि प्रथम उसने अपने को ही वासुदेव सिद्ध कर रखा है, हमारे चिन्ह चक्र आदि, दूसरे से चिन्ह हम में कैसे होंगे ? जिसके उत्तर में कहता है, कि हमारी मूर्खता के कारण ही धारण करते हो, अर्थात् मैं वासुदेव प्रकट हुवा हूँ वैसा ज्ञान न होने से धारण कर रहे हो, यदि यह ज्ञान होवे तो धारण न करो, जीव, भगवान् के प्राकट्य होने पर भी उनको नहीं जानते हैं, इसलिये भगवान् चिन्हों को धारण करते है अतः आपने भी अपने को भगवान् कहलाने के लिये चिन्ह धारण कर लिये हैं, अस्मत् पञ्चमी का बहु वचन है वह हेत्वर्थ में है उसमें प्रयोजक धर्म मूढ़ता है, इनके धारण करने का हेतु तो उद्धार करना ही है, नाश तो प्रथम ही सिद्ध है, 'सात्वत' यह सम्बोधन, वंश वा वैष्णव नाम के कारण दिया है, इससे यह सूचन किया है कि वैष्णव भाव से शङ्खचक्रादि धारण करना ही है,उसका निषेध हो नहीं सकता है, सतोगुण जिनमें प्रधान है वे सात्व है, सात्वत पद में तसिल् प्रत्यय है, वा विसर्ग पाठ अथवा लोप है यह देखना वा विचारना चाहिये, अथवा भक्त जनों के उद्धारार्थ धारण करते हो, इस प्रकार अपनी बुद्धि से विरुद्ध का निराकरण कह कर अपनी कृपालुता प्रकट करते हुए कहते हैं कि तू मेरी शरण आ, यदि लौकिक दृष्टि से सामर्थ्य नहीं देखी; इस कारण से नहीं आ सकता है तो मुझ से युद्ध कर, सर्वथा तू मुझे प्राप्त हो, मेरे पास आजा, जिससे निकट आने पर मेरी सायुज्य सिद्धि होगी । मैं यहां से आपके स्थान पर आने मे असमर्थ हूँ, यह भी कृपा का कार्य है, जो स्वयं आकर उद्धार करो यदि यों न कर सको, तो मुझे कह दीजिये कि तुझे इतना सुख दूंगा, तब निश्चित होने से और सन्देह के अभाव से आपके पास आने का यत्न करूंगा ॥६॥

आभास—एतद्वाक्याद्भगवद्भक्तानां क्रोधे उत्पन्ने तस्य परलोकसिद्धिरपि न भवतीति तेषां तच्छ्रवणेन कौतुकरस एव जात इत्याह **कत्थनं तदुपाकर्ण्येति** ।

आभासार्थ— इसके वचनों से यदि भगवत् भक्तों को क्रोध उत्पन्न होगा तो उसकी परलोक सिद्धि भी न होगी, किन्तु भक्तों को क्रोध के स्थान पर इन वाक्यों के श्रवण से कौतुक रस ही उत्पन्न हुआ जिसका वर्णन 'कत्थनं तदुपाकर्ण्य' श्लोक में श्री शुकदेवजी करते है—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—कत्थनं तदुपाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः ।
उग्रसेनादयः सभ्या उच्चकैर्जहसुस्तदा ॥७॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि अल्प बुद्धि पौण्ड्रक की अपनी की हुई प्रशंसा सुनकर, सभा में स्थित उग्रसेन आदि सब सदस्य जोर से हँस पड़े ।।७।।

सुबोधिनी – कत्थनं स्वश्लाघाम् । पौण्ड्रकमिति नाम्ना तस्य हीनत्वमुक्तमेव । पुण्ड्रा हीनाः चण्डालविशेषाः, तद्भावादुत्पन्नः पौण्ड्रः, कुत्सितार्थे क प्रत्ययः, अधमस्वभावोत्पन्नेष्वप्यधम इति । तत्रापि न देह एव तस्य दुष्टः, किन्त्वन्तःकरणमपीति ज्ञापयितुमाह अल्पमेधस इति । सभ्याः सभार्हाः । उग्रसेनो राजा येषामिति धर्मविचारो निरूपितः । सर्व एव विचारकाः प्रमेयमत्यन्तं बाधितमिति उच्चकैर्जहसुः । तदेति विचारात्पूर्वमेव ।।७।।

व्याख्यार्थ— 'कत्थन' शब्द जो श्लोक में आया है जिसका अर्थ है 'अपनी प्रशंसा' अपनी प्रशंसा वह करता है जो हीन, अर्थात् नीच श्रेणी का होता है यह नीचपन उसके पौंड्रक नाम से प्रकट हो रहा है, 'पुण्ड्र' जाति हीन चाण्डाल विशेष है, वैसे भाव से उत्पन्न पौण्ड्र भी वैसे ही हैं, जिसमें फिर 'क' प्रत्यय जुड़ने से विशेष हीनता आगई है, अधम स्वभाव वालो में उत्पन्न भी अधम ही होता है, जिसमें भी इसकी केवल देह दुष्ट नहीं किन्तु अन्ताकरण भी वैसा ही है, यह दिखाने के लिये 'अल्पमेधसः' विशेषण दिया है, अर्थात् उसकी बुद्धि भी नीच जैसी हुई, सभ्य अर्थात् सभा में बैठने के योग्य जिनका राजा उग्रसेन था, जिससे दिखाया कि उस सभा में धर्म विचार ही होता था, वहां जो सब ही विचारक बैठे थे वे ये वाक्य सुन कर जोर से हँसने लगे, क्योंकि ऐसे शब्दों से प्रमेय बाधित होता है 'तदा' पद का भावार्थ विचार करने से पूर्व ही हँसने लग गये अर्थात् वे शब्द अविचारणीय ही थे । ७।।

श्लोक—उवाच दूतं भगवान् परिहासकथामनु ।
उत्स्रक्ष्ये मूढ चिह्नानि यैस्त्वमेवं विकत्थसे ।।८।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार हँसी होने के अनन्तर भगवान् ने दूत को कहा कि हे मूढ! जिन चिन्हों के कारण तू यों बक रहा है. वे चिन्ह मैं छोड़ दूँगा ।।८।।

सुबोधिनी—ततः परिहासकथां कृतवन्तः । अज्ञा इव भूत्वा कीदृशोऽयं वासुदेवः, कथं भक्तपरायण इत्यादिप्रस्तोभनावाक्यैः । उपहासकथामुक्त्वा स्थितेषु तेषु भगवान् दूतमुवाच । भगवद्भावं प्राप्तो वदतीति तस्य वाक्याकरणे तस्याग्रे भगवत्त्वमपि न सेत्स्यतीति तद्वाक्यं यथाकथञ्चित्सत्यं करोति । उत्स्रक्ष्ये मूढ चिह्नानीति । यैर्धर्मैर्मौढ्यं प्रतीतं भवति, जीवत्व वा प्राकृतत्वं वा । मूढेति सम्बोधनम् । लोकप्रतीत्या यैः कृत्वा त्वमेवं विकत्थसे, आत्मानमेव बहु मन्यसे, यद्यहमज्ञत्वादिधर्मप्राकट्यं न कुर्याम्, तदा तवैवं विकत्थनं न भवतीति । अत एव प्रथमचिह्नानीति जीवधर्माणां ग्रहणं निरूपितम् । मद्धर्मपरित्यागद्वारा मामेव परित्यज्य मां शरणमेहि । शरणरूपं मां प्राप्नुहि । जीवाश्रयो भगवान् भवतीति जीवाश्रितश्च तिष्ठतीति । शिष्टमङ्गीकृतं न विरुद्धमिति ।।८।।

व्याख्यार्थ— दूत के शब्द श्रवण कर सभा में स्थित सभ्य जोर से हँसते हुवे अज्ञों (अज्ञानियों) की तरह यों कहने लगे, कि किस प्रकार का यह वासुदेव है ? कैसे भक्त परायण है ? इत्यादि उपहास के वाक्यों से टट्ठा करने लगे जिनके हो जाने के अनन्तर भगवान् दूत को कहने लगे कि भगवद्भाव को प्राप्त हो कर यों वह कहता है. अतः उसका कहना न मानने से उसके पास भगवत्व भी न रहेगा, इसलिये थोड़ा सा सत्य करते हैं, जिन धर्मों से मूढ़ता प्रतीत होती है. वा जीवपन अथवा प्राकृतपन को त्याग दूंगा, हे मूढ़ः ! इस सम्बोधन से उसकी मूढ़ता प्रकट की है, लोक प्रतीति से जिन धर्मों के कारण तू यों बक रहा है. अपने को बड़ा मानता है, जो, मैं अज्ञत्व आदि धर्मों को प्रकट न करूं तो तुम यों बकवास न कर सको. इसलिये ही तू ने हमारे चिन्ह कहे हैं अर्थात् जीव धर्म ग्रहण किया है. यों कहा है, मेरे धर्मों के त्याग द्वारा मुझे छोड़ कर मुझे शरण दे, शरण रूप मुझे प्राप्त हो भगवान् ही जीव का आश्रय हैं और जीव का आश्रय बन कर ही रहते हैं, शिष्ट जो अङ्गीकार करते है वह विरुद्ध नहीं है ॥८॥

आभास—यदुक्तमहं शरणार्ह इति, तज्जीवानां नाश्रयत्वम्, किन्तु ब्रह्मण एवेति प्रार्थितं च देयमिति शरणे निर्णयमाह मुखं तदपिधायेति ।

आभासार्थ— यह जो कहा. मैं शरण के योग्य हूँ. वह जीवों का आश्रय लेना नहीं है किन्तु ब्रह्म की ही शरण लेनी है, इसलिये जो प्रार्थना की है वह ही देने योग्य हैं, इसलिये 'मुखं तदपिधाय' श्लोक से शरण में निर्णय कहते है—

श्लोक—मुखं तदपिधायाज्ञ कङ्कगृध्रबकैर्वृतः ।
शयिष्यसे हतस्तत्र भविता शरणं शुनाम् ॥९॥

श्लोकार्थ—कङ्क, गीध और बक पक्षियों से घिरा हुआ मुख ढ़क कर, मरा हुआ सोवेगा, तब कुत्तों के शरण जाएगा ॥९॥

सुबोधिनी—तत्रैव काशीनिकटे त्वं शुनां शरणं भविता । अहोरात्रसमसङ्ख्याताः तद्देवताः यमालये श्वानः तिष्ठन्तीति प्रसिद्धिः । जीवाश्च श्वान इत्यपरे । 'गतिसामान्यात्' । 'क्षुत्परीतो यथा दीन' इति वाक्यात् । इन्द्रियाणि वा कुत्सिततरतानि । त एव हि तादृशं शरीरमाश्रयन्ति । कालावयवा जीवा इन्द्रियाणि वा । मुखपिधानकर्ता पुत्रादिर्भवति । सर्व एव मारणीया इति मुखस्यापिधानमेव । अज्ञेति । ज्ञानिनो ज्ञानेन देहो दग्धो भवतीति शेषप्रतिपत्तिः, यथाकथञ्चिदपि भवतीति अपिधानं 'तदा' न दूषणं भवेत् । अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं संबोधनम् । कङ्कास्तामसाः, गृध्रा राजसाः, बकाः सात्त्विका इति त्रिविधैरपि भक्षकैर्वेष्टितः । आधिभौतिकाद्यभिमानिन्यो देवताः सर्वाश्चातः परं न परिपालयिष्यन्तीति । शरणं हि तेषामनुद्वेजकं भवति, तज्जीवतो न भवतीति, हतः सन् यदा शयिष्यसे, तदा शुनां शरणं भवितेति सत्काराभावोऽप्युक्तः । देहस्य येयं प्रतिपत्तिरुक्ता, साऽस्मृता । अन्ते युद्धसमये तत्रासक्तो न भविष्यतीति बोधनार्था । तदैव तस्य मोक्षो भवेदिति मोक्षदात्रा तथैव वक्तव्यम् ॥९॥

व्याख्यार्थ - वहां ही काशी के समीप कुत्तों की शरण होगा दिन रात के समान सख्या वाले उसके देवता यमालय में कुत्ते रहते हैं यह प्रसिद्ध है, दूसरे कहते हैं कि वहां जीव कुत्ते कहे जाते हैं 'गति सामान्यात्' 'क्षुत्परीतो यथादीन' इस वाक्य से अथवा कुत्सित पदार्थ में रत इन्द्रियां, वे ही वैसा शरीर धारण करते है, जीव तथा इन्द्रियां काल के अवयव हैं मुख ढांकने वाला पुत्र आदि होते हैं, सर्व ही मारण योग्य हैं, इसलिये मुख को ढांकना ही है, ज्ञानी का लिङ्ग देह ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाता है, शेष की प्रतिपत्ति जैसे तैसे भी होती है, इसलिये तत्र न ढांकना दूषण नहीं है, अतः उसकी व्यावृत्ति के लिये 'मज्ञ' संबोधन दिया हैं, कङ्क पक्षी तामस हैं, गीध राजस हैं, बक सात्विक हैं यों तीनों प्रकार के भी भक्षकों से वेष्टित होंगे आधिभौतिकादि अभिमानी सत्र देवताएं इसके बाद पालन नहीं करेंगी, उनका शरण दुःखदायी नहीं होता है, यह जीते हुए नहीं होता है अतः मर कर जब शयन करेगा तब कुत्तों की शरण जायगा इससे यह बताया कि तुम्हारा संस्कार भी न होगा, देह की जो यह प्रतिपत्ति है, वह स्मरण न रहेगी, अन्त में युद्ध के समय उसमें आसक्ति न होगी इसके बोध कराने के लिये यह कहा है, तब ही उसका मोक्ष होवे इसलिये मोक्ष-दाता को इस प्रकार ही कहना चाहिये ॥९॥

आभास—स दूतस्तथैवोक्तवानिति दूतो गुरुस्थाने जात इत्याह इति दूत इति ।

आभासार्थ—उस दूत ने अपने स्वामी पौण्ड्रक को जैसा भगवान् ने कहा, वैसा ही आकर कहा, जिससे वह गुरु के समान हुआ, यह वर्णन 'इति दूत' श्लोक में करते है ।

श्लोक—इति दूतस्तदाक्षेपं स्वामिने सर्वमाहरत् ।
कृष्णोऽपि रथमास्थाय काशीमुपजगाम ह ॥१०॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने जो इस प्रकार तिरस्कार के वचन कहे, वे सब दूत ने अपने स्वामी को कह सुनाए, श्रीकृष्ण भी रथ में बैठ काशी को पधारे ॥१०॥

सुबोधिनी—तद्भगवतोक्तमाक्षेपं स्वामिने स पोषक इति तद्धितार्थं सर्वमेवाहरत्, नत्वन्यथाभावं न्यूनं वा कृतवानित्यर्थः। वाक्यं प्रेषयित्वा स्वयमपि प्रस्थित इत्याह कृष्णोऽपि रथमास्थायेति। यद्यपि भगवान् तत्रैव प्रादुर्भूतः तस्य मुक्तिं दातुं शक्तः, तत्रापि कृष्णः फलरूपः भक्तकृपालुर्वा। सोऽप्यभेदमार्गेण भक्तो भवतीति, तत्क्षीणां दुःखं भवतीति, यद्यपि भगवता न गन्तव्यम्, तथापि रथमास्थाय रथस्थितः सुस्थो भक्तकार्यं करोतीति काशीमुपजगाम। तामसस्थाने भगवदाविर्भावः सहसा न भवतीति स्वयमपि काश्यां न प्रविष्टः, अन्यथा काशीत्वमेव न स्यात्। अत एव उप समीप एव जगाम ॥१०॥

व्याख्यार्थ - भगवान् के कहे हुए तिरस्कार के सब वचन दूत ने स्वामि को उसके हित के लिये कह सुनाये, क्योंकि स्वामी दूत का पोषण करने वाला है, अतः दूसरी तरह का भाव वा किसी प्रकार की न्यूनता भी नहीं की। श्रीकृष्णचन्द्र इस प्रकार दूत द्वारा सदेश भेज कर आप भी रथ में बैठ काशी को पधारे, यद्यपि भगवान् होने से, वहां बिराजते हुए भी पौण्ड्रक के हृदय में प्रकट

होकर उस की मुक्ति करने में समर्थ थे इसलिये जाना उचित नहीं भासता है, तो भी पधारे, जिसका कारण आप कृष्ण होने से फलरूप तथा भक्तों पर कृपा करने वाले हैं अतः भक्तों के लिये जाना ही उचित समझ पधारे, वैसा करने से वह भी अभेद मार्ग से भक्त होता जिससे केवल मार्ग का भेद होता भगवत्प्राप्ति में भेद नहीं होता, किन्तु उसकी स्त्रियों को फलरूप कृष्ण के दर्शन न होने से दुःख होता अतः उनको भी दुःख न हो, इस प्रकार सर्व कार्य सुखपूर्वक हो, इसलिये रथ में बैठ सुस्थ हो भक्त कार्य करने के लिये काशी के समीप पधारे, किन्तु काशी में नहीं पधारे क्योंकि काशी तामस स्थान होने से वहां भगवान् का प्राकट्य सहसा नहीं हो सकता है, अतः स्वयं अपनी इच्छा से काशी में प्रवेश नहीं किया यदि प्रवेश करते तो काशीत्व न रहता, इसलिये काशी के समीप ही पधारे ॥१०॥

आभास—सोऽपि ग्रामाद्बहिर्भगवन्तं द्रष्टुमागत इत्याह **पौण्ड्रकोऽपीति** ।

आभासार्थ— 'पौण्ड्रकोऽपि' श्लोक से कहते हैं कि वह भी ग्राम से बाहर भगवान् को देखने आया—

श्लोक—पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगमुपलभ्य महारथः ।
अक्षौहिणीभ्यां संयुक्तो निश्चक्राम पुराद्द्रुतम् ॥११॥

श्लोकार्थ—महारथ पौण्ड्रक भी उनका उद्योग देखकर दो अक्षौहिणी सेना लेकर नगर से शीघ्र बाहर आ गए ॥११॥

सुबोधिनी—अन्यथा तस्य काश्यां किं वा भवेदिति तस्य भगवत उद्योगमेतावद्दूरं समागमनम् । महारथ इति युद्धाभिनिवेशात् शौर्यलक्षणः स्वधर्म उक्तः । अक्षौहिणीभ्यां सहितः, तस्य तावत् बलं सहजम् सर्वसामग्र्या सहितो भगवत्समीपं गच्छेदिति । द्रुतं पुरान्निश्चक्रामेति । भगवदिच्छया समागतः कालः तत्रैव शरीरं गृह्णीयादिति भयाद्द्रुतमेव पुरान्निर्गमनम् ॥११॥

व्याख्यार्थ— पौण्ड्रक काशी से शीघ्र दो अक्षौहिणी सेना लेकर बाहर इसलिये आया कि भगवान् का काशी में कोई कार्य नहीं है तो भी इतनी दूर से उद्यम कर आये हैं, तो मैं भी महारथ हूँ, मुझे भी युद्ध करने का साहस है इस प्रकार अपना शौर्य धर्म प्रकट करने के लिये बाहर आया। अक्षौहिणी के साथ आने से दिखाया, मेरा इतना सहज बल है, इसलिये सर्व सामग्री सहित भगवान् के समीप जाना चाहिये अतः शीघ्र नगर से निकले, भगवदिच्छा से आया हुआ काल वहां ही शरीर ग्रहण करे, यों भय से शीघ्र ही नगर से निकलना हुआ ॥११॥

आभास—काशिराजोऽपि तन्मित्रमिति तस्याप्यधर्गतिर्भविष्यतीति तस्याप्यागमनमाह ।

आभासार्थ— काशीराज भी इसका मित्र था अतः उसकी भी अर्थ गति होगी इसलिये वह भी आया—

श्लोक—तस्य काशिपतिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽन्वयान्नृप ।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिरपश्यत्पौण्ड्रकं हरिः ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! इसका मित्र काशीराज भी तीन अक्षौहिणी सेना ले, इसकी सहायता के लिए इसके पीछे आया, उस समय भगवान् ने पौण्ड्रक को देखा ॥१२॥

सुबोधिनी—तस्य काशिपतिरिति । मित्रत्वात्पार्ष्णिग्राहो भूत्वा अन्वयात् । नृपेति सम्बोधनम् । राजधर्मस्तथाविध इति ज्ञापयितुम् । तिसृभिरक्षौहिणीभिः सहित इति । तस्य तावदेव बलम् । तत्र भगवान् प्रथमं कृपया पौण्ड्रकं दृष्टवानित्याह अपश्यत्पौण्ड्रकमिति । भगवज्ज्ञानेन विद्धः स्वाभाविकं दोषं त्यजतीति । यतो हरिः । ॥१२॥

व्याख्यार्थ — काशीपति इसका मित्र था अतः इसकी सहायता के लिये हस्त में शस्त्र लेकर इसके पीछे आया 'नृप' संबोधन देकर यह भाव बताया है कि राज धर्म वैसा ही होता है, न केवल हस्त में शस्त्र लिया किन्तु तीन अक्षौहिणी भी साथ में ले आया था, उसके पास इतना ही बल था, वहाँ भगवान् ने कृपा कर पौण्ड्रक को देखा. भगवत्-ज्ञान से बीधे हुवे के सहज सर्व दोष नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि वे हरि होने से पापों को हरण कर लेते हैं ॥१२॥

आभास—तथा कृपायां तस्य जीवत एव सारूप्यं हेतुत्वेन वर्णयति शङ्खेति ।

आभासार्थ— उसको जीते ही सारूप्य मिला जिसका कारण भगवत्कृपा है, उसका वर्णन 'शङ्खार्यसि' श्लोक में करते है—

श्लोक— शङ्खार्यसिगदाशार्ङ्गश्रीवत्साद्युपलक्षितम् ।
बिभ्राणं कौस्तुभमणिं वनमालाविभूषितम् ॥१३॥

श्लोकार्थ— शङ्ख, चक्र, गदा और शार्ङ्गधनुष तथा श्रीवत्स आदि से उपलक्षित एवं कौस्तुभमणि को धारण किया हुआ वन मालाओं से सुशोभित था ॥१३॥

सुबोधिनी—कृत्रिमसहजभुजेषु शङ्खं अरिश्चक्रं च सहजयोर्धृतवान् । गदाशार्ङ्गौ कृत्रिमयोः । श्रीवत्सादिचिह्नान्यपि कृतवान् । कौस्तुभसमानाकृतिर्मणिं कृत्वा कण्ठे स्थापितवान् । अन्ये तु श्रीवत्सकौस्तुभौ चर्म छित्वा तत्र स्थापितवानित्याहुः । तथा सत्यकृत्रिमता स्यादिति । वनमालाविभूषितमिति । यथैव नित्यनूतना भवति, तथा वनमालां सम्पादयतीति ॥१३॥

व्याख्यार्थ— पौण्ड्रक की चार भुजाओं में दो कृत्रिम थीं और दो स्वभाविक थीं, स्वभाविक दो भुजाओं में शङ्ख और चक्र धारण किये थे, और कृत्रिम (बनावटी) भुजाओं में गदा और शार्ङ्ग धनुष धारण किये थे, श्रीवत्स आदि चिन्ह भी धारण किये हुवे थे कौस्तुभ के समान आकृति वाली मणि कण्ठ में पहनी थी, अन्य कहते हैं, कि चर्म का छेदन कर वहां श्रीवत्स और कौस्तुभ धारण की थी, वैसे सच्ची कृत्रिमता होवे, जिस प्रकार नित्य नवीनता देखने में आवे वैसे वनमाला का सम्पादन करता था ॥१३॥

श्लोक—कौशेयवाससी पीते वसानं गरुडध्वजम् ।
अमूल्यमौल्याभरणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—पीले पीताम्बरधारी, गरुड़ध्वज, अमूल्य मुकुट तथा आभूषणधारी और जिसके मकराकृति कुण्डल झलक रहे थे ॥१४॥

सुबोधिनी—कौशेयवाससी पीते, भगवानिव वसानः समागतः, न तु कञ्चुकादिकं परिधाय, अन्यथा अन्ते वेषवशादन्यथा गतिः स्यात् । गरुडध्वजमिति । चित्रमयीं दारुमयीं वा गरुड-मूर्ति ध्वजे स्थापितवानिति । भजनीयोऽन्यो नास्तीति, धर्मश्चान्यो न कर्तव्य इति, भक्तैः सह स्वयमात्मानमेव पूजयतीति, अमूल्यमेव मौलिमा-भरणानि च सम्पादितवान् । तथैव मकराकृति-कुण्डले । ध्यानेन भगवदावेशाच्च सर्व एव भगव-द्धर्मास्तत्राविष्टा इति स्फुरत्पदेन सूचितम् ॥१५॥

व्याख्यार्थ— पौण्ड्रक, भगवान् के सदृश पीले पट्ट के वस्त्र धारण कर आया, कञ्चुक आदि को धारण नहीं किया, यदि भगवत् समान वेश धारणकर न आते तो अन्त में अन्य प्रकार की गति हो जाय, अपनी ध्वजा में भी भगवत्सदृश गरुड़ का चिन्ह किया था वह मूर्ति चित्रित थी अथवा लकड़ी की थी अन्य भजन करने योग्य नहीं है यो, और अन्य धर्म नहीं करना चाहिये, भक्तों के साथ स्वयं अपने को ही पूजता है, मुकुट और आभरण भी अमूल्य धारण किये थे वैसे ही मकर समान आकृति वाले कुण्डल पहने थे, ध्यान करने से और भगवदावेश से भगवान् के सब धर्मों ने उसमें प्रवेश किया था, यह भाव स्फुरत् पद से सूचित किया है ॥१४॥

आभास—तस्य रूपं दृष्ट्वा भगवान् संतुष्टः अभिनन्दनं कृतवानित्याह ।

आभासार्थ— उसका वैसा रूप देख कर भगवान् प्रसन्न हुवे और उसका अभिनन्दन करने लगे—

श्लोक— दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यं वेषं कृत्रिममास्थितम् ।
यथा नटं रङ्गगतं विजहास भृशं हरिः ॥१५॥

श्लोकार्थ—जैसे नट स्वांग बनाकर रङ्गभूमि में आया हो, वैसे अपने सम वेष बनाकर सामने खड़े उस कृत्रिम वासुदेव को देखकर,

सुबोधिनी—दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यं वेषं कृत्रिममास्थितमिति। परं कृत्रिमम्। आस्थितमिति तत्रासक्तिर्महतीति वेषस्य न केनाप्यंशेन भङ्गः सूचितः। कृत्रिमत्वे गतिर्न भविष्यतीत्याशङ्क्य, रसोत्पादकत्वात् 'स्थाय्येव भावो रस' इति 'अधिकं तत्रानुप्रविष्ट'मिति निरूपयितुमाह यथा नटं रङ्गगतमिति। अतिहर्षात् भृशं विजहास। तस्य सर्वं भावं स्मृत्वा सर्वस्यैवाभिनन्दनं कृतवानित्यर्थः। यतो हरिः ॥१५॥

व्याख्यार्थ— सामने खड़े हुए उस कृत्रिम वासुदेव का अपने जैसा वेष देख कर, हरि अति हर्ष से बहुत हँसे 'आस्थित' पद का आशय प्रकट करते है कि इस वेष में उसको बहुत आसक्ति थी इस कारण वेष का कोई भी भाग भङ्ग नहीं था यह सूचन किया है, कृत्रिम था इस से गति न होगी ? इस शङ्का का निवारण करते हैं कि वह वेष कृत्रिम होते हुए भी रसोत्पादक था, रस स्थायी भाव ही होता है, विशेष उसमें उस रसरूप का प्रवेश हो गया था, यह निरूपण करने के लिये कहते हैं, कि जैसे नर स्वांग धारण कर रङ्गभूमि में आता है तो रस प्रकट करता है वैसे ही इसने भी रस प्रकट किया है इससे अति हर्षित हो बहुत हँसे, उसके सर्व भाव का स्मरण कर सर्व का ही अभिनन्दन किया, क्योंकि 'हरि' हैं ॥१५॥

आभास—ततः सेनायाः प्रथमं भगवत्यतिक्रममाह शूलैरिति।

आभासार्थ—'शूलैर्गदादिभिः' श्लोक से कहते हैं कि सेना ने पहले भगवान् पर आक्रमण किया—

श्लोक—शूलैर्गदाभिः परिघैः शक्त्यृष्टिप्रासतोमरैः।
असिभिः पट्टिशैर्बाणैः प्राहरन्नरयो हरिम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—अनन्तर सेना ने भगवान् पर त्रिशूल, गदा, परिघ, बरछी, ऋष्टि, पास, भाला, खड्ग, पट्टिश और बाणों से प्रहार किया ॥१६॥

सुबोधिनी—शिवप्राधान्यात् प्रथमं शूलग्रहणम्। दशभिरायुधैः सर्वप्रकारेण हरिं तूष्णीं स्थितं तान् गणयन्तं प्राहरन् ॥१६॥

व्याख्यार्थ— सेना में शिवजी का प्राधान्य था अतः प्रथम त्रिशूल ग्रहण किया, मौन धारण कर स्थित हरि पर उनको तुच्छ समझ कर दश आयुधों से प्रहार किया ॥१६॥

आभास—ततोऽक्लिष्टकर्मा भगवान् तां सेनां दूरीकृतवानित्याह कृष्णस्त्विति।

आभासार्थ— पश्चात् अक्लिष्ट कर्मा भगवान् ने उसे सेना से दूर कर दिया यह वर्णन 'कृष्णस्तु' श्लोक में करते है—

श्लोक—कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रककाशिराजयोर्बलं गजस्यन्दनवाजिपत्तिमत्।
गदासिचक्रेषुभिरार्दयद्भृशं यथा युगान्ते हुत पृथक्प्रजाः ॥१७॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णचन्द्र ने भी हाथी, घोड़े, रथ व प्यादों वाली चतुरङ्गिणी पौण्ड्रक और काशीराज की सेना को, जैसे प्रलय समय में अग्नि सब प्रजा का संहार करती है, वैसे गदा, खड्ग, चक्र और बाणों से नाश किया ।।१७।।

सुबोधिनी - तुशब्देन भगवतो जयमाह। तद्बलं प्रहरणकर्तृ। पौण्ड्रककाशिराजयोरिति सात्त्विकतामसभावापन्नयोरपि। राजसा एव हन्तव्या इति तयोरमारणमाशङ्क्य नामग्रहणम्। अङ्गानि गणयति गजेति तयोरराजसत्वात् सेनाव्यवस्था कदाचिन्न भवेदिति तदर्थं गणना। गदादिभिः चतुर्भिरेव आसमन्तादार्दयत् पीडितवान्। अस्त्रादिसहितैर्बाणैः कृत्वा दाहपर्यन्तं कृतवानिति वक्तुं दृष्टान्तमाह यथा युगान्त इति। प्रजानां क्षयो यस्मात् तादृशो हुतभुक् प्रलयाग्निः ।।१७।।

व्याख्यार्थ—'तु' शब्द भगवान् की जय का सूचक है, सात्विक तामस भाव को प्राप्त पौण्ड्रक और काशीराज की प्रहार करने वाली जो सेना थी, उसके अङ्ग हाथी, रथ, घोड़े और प्यादे थे जिनसे वह चार अङ्गों वाली थी, राजस ही मारने योग्य हैं इसलिये उनको नहीं मारना चाहिये, ऐसी शङ्का से उनके नाम कहे हैं, पौण्ड्रक और काशीराज सात्विक तामस थे इसलिये उनसे कदाचित् सेना की व्यवस्था न हो सके अतः नाम देकर उनकी गणना की है अस्त्रादि सहित बाणों से दाह पर्यन्त कार्य किया, यह सिद्ध कर बताने के लिये दृष्टान्त देते है, 'यथा युगान्ते' जैसे युग के अन्त में प्रलयाग्नि प्रजा का सम्पूर्ण क्षय करती है वैसे ही भगवान् ने इसकी सेना का नाश किया ।।१७।।

आभास—ननु महादेवः कथं तत्साहाय्यं न कृतवानित्याशङ्क्याह आयोधनमिति ।

आभासार्थ—महादेवजी ने उनकी सहायता क्यों न की ? इसका उत्तर 'आयोधन' श्लोक में देते है।

श्लोक—आयोधनं तद्रथवाजिकुञ्जरद्विपत्खरोष्ट्रैररिणावखण्डितैः ।
बभौ चितं मोदवहं मनस्विनामाक्रीडनं भूतपतेरिवोल्बणम् ।।१८।।

श्लोकार्थ—भगवान् के चक्र से टूक-टूक किए हुए रथ, घोड़े, हाथी, प्यादे, गधे और ऊँटों से व्याप्त हुई वह रण भूमि ढ़की सी हो गई और शोभा पाने लगी, जिससे शूरवीरों की आनन्द दायिनी हो महादेव के रमण की स्थली बन गई तथा साधारणों को भयङ्कर दीखने में आई ।।१८।।

सुबोधिनी—चक्रेण खण्डितैः रथादिभिः कृत्वा आयोधनं रणभूमिर्बभौ। तैश्चितं व्याप्तं प्रसारितम्। तर्हि तद्दृष्ट्वा मूलभूतो पलायितो भविष्यत इत्याशङ्क्याह मोदवहं मनस्विनामिति। मोदं वहतीति भूतपतेर्महादेवस्याक्रीडनं क्रीडास्थानं कृतवान्। तत्राप्युल्बणमत्युत्कटम्, येन भक्तोऽपि न स्पृतः ।।१८।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के चक्र से खण्डित रथ ग्रादि से रंगभूमि सुशोभित होने लगी ग्रौर उनसे व्याप्त थी, ऐसी रणभूमि को देख कर तो पौण्ड्रक ग्रौर काशीराज तो भाग गये होंगे ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि ऐसी रणभूमि शूरवीर मनस्वियों को तो ग्रानन्द देती है भगवान् ने भूमि को ऐसी बनाकर महादेवजी का क्रीड़ा-स्थान तैयार कर दिया ऐसा जबर्दस्त क्रीड़ा स्थान हो गया जिसमें खेलते हुए महादेव को, भक्त भी याद न रहा ॥१८।

ग्राभास—ग्रथ पौण्ड्रकवधार्थमुद्यतः स्वोपदिष्टोऽर्थस्तेन विस्मृतो मा भवत्विति पुनः स्मारयति ग्रथाहेति द्वाभ्याम् ।

ग्राभासार्थ—'ग्रथाह' इन दो श्लोकों से पौण्ड्रक के वधार्थ तैयार हुए, भगवान् पौण्ड्रक को फिर दूत से कहलाया हुग्रा उपदेश याद दिलाते हैं।

श्लोक—ग्रथाह पौण्ड्रकं शौरिर्भोभो पौण्ड्रक यद्भवान् ।
दूतवाक्येन मामाह तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते ॥१९॥
त्याजयिष्येऽभिधानं मे यत्त्वयाज्ञ मृषा धृतम् ।
व्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् पौण्ड्रक को कहने लगे कि ग्ररे रे पौण्ड्रक ! दूत के मुख से जो तूने मुझे कहलाया था, वे शस्त्र ग्रब छोड़ता हूँ (तुझ पर फेंकता हूँ), हे मूर्ख ! तूने जो मेरा नाम झूठा धारण कर लिया, वह ग्रभी छुड़ा दूँगा, यदि मैं युद्ध करना न चाहूँ तो तेरे शरण ग्राऊँ, मैं तो युद्ध को चाहता हूँ, इसलिए ग्राया हूँ ॥१९-२०॥

सुबोधिनी—शौरिरिति पितृपितामहनाम्ना भगवत उत्कर्षं पौण्ड्रकेति तस्यापकर्षं चाह भो भो पौण्ड्रकेति । तस्य सहजो दोषः भगवता कीर्तित इति तन्नाशो निरूपितः । यद्भवान् दूतवाक्येन मामाह, तान्यस्त्राणि सहजानि ते तुभ्यं त्वदर्थं उत्सृजामि, यैस्त्वं सहजंस्तादृशो भविष्यसि । मे ग्रभिधानं वासुदेवेति यत्त्वया मृषा धृतम्, भगवद्भावात् पूर्वमेव बालकवाक्येन स्थापितम्, तत्त्याजयिष्ये । सहजं तु दास्यामीति । यदि संयुगे न हनिष्यामि, तदा निकटे समागत्य सायुज्यं दास्यामि । इदानीं युद्धार्थमेवागत इति सारूप्यमेव प्रयच्छामि । ग्रयं दोषः दूतप्रेषणाज्जातः, ग्रन्यथा सायुज्यमेव भवेत् । यदि तूष्णीं तिष्ठेदित्यर्थः । ग्रनेनैवमपि सूचितम् । इदानीमपि चरणे चेत्पतति, सायुज्यमेव दास्यामीति ॥२०॥

व्याख्यार्थ—'शौरि' नाम, पितृ, पितामह का द्योतक है जिससे भगवान् का उत्कर्ष प्रकट किया है, पौण्ड्रक नाम से इसका ग्रपकर्ष दिखाया गया है, भो, भो, पौण्ड्रक ! कहने से भगवान् ने इसका सहज दोष वर्णन कर इसका नाश निरूपण किया है। भगवान् कहते हैं कि दूत द्वारा जो मुझे कहलाया था, वे सहज ग्रस्त्र तेरे लिये ग्रर्थात् तुझ पर छोड़ता हूँ, जिनसे तू जैसा सहज है वैसा बन

जायेगा, मेरा नाम जो वासुदेव है, वह तूने अपना धर लिया है, अर्थात् अपने को वासुदेव प्रसिद्ध कर रखा है, वह भी भगवद्भाव से, प्रथम ही बालकों के कहने से किया है, वह अब छुड़ाऊँगा जो सहज है, वह दिला दूंगा, जो लड़ाई में मारूंगा नहीं तो निकट आकर सायुज्य का दान दूंगा, इस समय युद्ध के लिये आया हूँ इसलिये सारूप्य ही देता हूँ, यह दोष दूत भेजने से तूने किया है, यदि दूत न भेजता तो सायुज्य ही मिलती, अर्थात् चुप रहता तो सायुज्य मुक्ति पाता, इससे यह भी सूचन कर दिया है अब भी यदि चरणों मे पड़ो तो सायुज्य ही दूंगा ॥२०॥

आभास—तथाप्यनिवृत्तं भगवान्मारितवानित्याह इति क्षिप्त्वेति ।

आभासार्थ—यों कहने पर भी, वह शरण न आया अतः भगवान् ने मारडाला यह 'इति क्षिप्त्वा' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—इति क्षिप्त्वा सितैर्बाणैर्विरथीकृत्य पौण्ड्रकम् ।
शिरोऽवृश्चद्रथाङ्गेन वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः ॥२१॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार तिरस्कार कर, तीक्ष्ण बाणों से पौण्ड्रक को विरथ कर, जैसे इन्द्र ने वज्र से पर्वत के पक्ष काट दिए, वैसे आपने चक्र से इसका सिर काट दिया ॥२१॥

सुबोधिनी—क्षेपो दोषस्मारणम्. सितैः तीक्ष्णैर्बाणैः अश्वान् हत्वा विरथीकृत्य चक्रेण शिरश्चिच्छेद । भक्तवधोऽनुचित इत्याशङ्क्य, परोपद्रवकारित्वात् मारितवानिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह वज्रेणेन्द्र इति । यद्यपि 'विष्णुः पर्वतानामधिपतिः' इति तेषां पक्षच्छेदोऽनुचितः, तथापि लोकेत्युपद्रवकर्तृत्वाद्धननमिन्द्रद्वारा । पक्षावेव शिरःस्थानीयौ ॥२१॥

व्याख्यार्थ—इस तरह उसको दोषों का स्मरण कराते हुए उसे अपमानित किया, अनन्तर तीखे बाणों से घोड़ों का नाश कर उसे बिना रथ वाला बना के, चक्र से शिर भी काटडाला, पौण्ड्रक भक्त था जिसका वध अनुचित था, इसका उत्तर देते हैं कि वह दूसरों को कष्ट देने वाला था इस कारण से मारा गया जिसमें दृष्टान्त देते हैं, जैसे विष्णु पर्वतों का स्वामी है, किन्तु वे पर्वत दूसरों के लिए उपद्रव कर्ता बन गये, तब इन्द्र रूप से उनके पक्षों को तोड़ डाला उनके पक्ष शिर के समान हैं ॥२१॥

आभास—सात्विकवधमुक्त्वा तामसवधमप्याह तथा काशिपतेरिति ।

आभासार्थ—सात्विक वध कह कर 'तथा काशिपतेः' श्लोक से तामस का वध कहते हैं ।

श्लोक—तथा काशिपतेः कायाच्छिर उत्कृत्य पत्रिभिः ।
व्यपातयत्काशिपुर्यां पद्मकोशमिवानिलः ॥२२॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार काशी के राजा का सिर जैसे वायु कमल कोश को उड़ाता है, वैसे उड़ाया, उसको बाण पर चढ़ाकर काशी में फेंक दिया ॥२२॥

सुबोधिनी विरथीकृत्य तमप्याक्षिप्य । चक्रेण हतो मुक्तो भविष्यतीति, छिन्नमपि शिरश्चेद्भगवान् पश्येत् तथापि मुक्तो भवेदिति कालावयवभूतैः पत्रिभिर्बाणैः शिर उत्कृत्य काशिपुर्यां व्यपातयत् । साहाय्यं शरीरेणैव कृतमिति शरीरांशः तस्य मुक्तः कृतः । तस्य मध्ये पतनादिकमाशङ्क्य दृष्टान्तमाह पद्मकोशमिवानिल इति। अनेन व्याजेन भगवान् महादेवे तच्छिरःकमलपूजां कृतवानिति द्योतितम् । २२॥

व्याख्यार्थ—विरथी कर, उसको भी दोषों का स्मरण कराया, वैसे चक्र से मारा जाएगा और यदि कटा हुआ उसका शिर भगवान् देखेंगे तो मुक्त हो जायेगा, इसलिये काल के अवयव रूप बाणों से शिर काट कर और उनके ऊपर चढ़ा के काशीपुरी में गिराया, काशीराज ने पौण्ड्रक की सहायता शरीर से की थी, इसलिये शरीरांश[1] ही मुक्त किया उसका मध्य में गिरने की शङ्का का उत्तर देते हैं कि जैसे वायु से उडाया हुआ कमल कोश बीच में गिर पड़ता है, वैसे यह भी मध्य में गिरा, इस मिष से भगवान् ने इसके शिर रूप कमल से महादेव की पूजा की यह भावार्थ प्रकट किया है ॥२२॥

आभास—युद्धमुपसहरन् भगवतो द्वारकागमनमाह एवं मत्सरिणं हत्वेति ।

आभासार्थ—युद्ध को पूर्ण करते हुए भगवान् द्वारका पधारने लगे जिसका वर्णन 'एवं मत्सरिणं हत्वा' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—एवं मत्सरिणं हत्वा पौण्ड्रकं ससखं हरिः ।
द्वारकामाविशत्सिद्धैर्गीयमानकथामृतः ॥२३॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जिसकी कीर्ति सिद्ध पुरुष गा रहे है, वैसे भगवान् मत्सरी पौण्ड्रक को सखा सहित मारकर द्वारका पधारे ॥२३॥

सुबोधिनी—भक्तस्यापि हनने मात्सर्यमेव हेतुः, काशिराजवधे तत्सखित्वं हेतुरिति । ततो भगवत्कृतं लोकशास्त्राविरुद्धमिति ज्ञापयितुं सिद्धैर्गीयमानकथामृत इत्युक्तम् । एवं सर्वदुःखहर्ता तेषां दुःखं दूरीकृत्य द्वारकामाविशत् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—पौण्ड्रक भक्त था तो भी उसको मारा, जिसका कारण मात्सर्य हो था, वैसे ही काशीराज को मारा, जिसका कारण वह मत्सरी पौण्ड्रक का मित्र था, यह भगवान् का कार्य लोक शास्त्र विरुद्ध नहीं है, यह दिखाने के लिये कहते हैं कि सिद्ध पुरुष इस कथामृत का गान कर रहे हैं

१—शरीर से मस्तक पृथक् किया, शरीर पौण्ड्रक के पास, मस्तक काशी में फेंका

जिससे सिद्ध है कि भगवान् का यह कार्य लोक शास्त्र विरुद्ध नहीं है अतः सिद्ध पुरुष इसका गुण गान करते हैं, इस प्रकार सर्व दुःख हर्ता प्रभु उनका दुःख दूर कर द्वारका में प्रविष्ट हुए ॥२३॥

आभास—पौण्ड्रकस्य हननानन्तरं या गतिर्जाता तामाह स नित्यमिति ।

आभासार्थ—पौण्ड्रक के मरने के अनन्तर जैसी गति हुई उसका वर्णन 'स नित्यं' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—स नित्यं भगवद्ध्यानप्रध्वस्ताखिलबन्धनः ।
बिभ्राणश्च हरे रूपं स्वरूपं तन्मयोऽभवत् ॥२४॥

श्लोकार्थ—वह पौण्ड्रक नित्य भगवान् का ही ध्यान करता रहता था, जिससे उसके सर्व बन्धन नष्ट हो गए थे और भगवान् का रूप भी धारण किया था, अतः भगवत् स्वरूपमय हो गया ॥२४॥

सुबोधिनी—स तन्मयोऽभवत्, तेन व्याप्तोऽभवत्। आत्मनि परमात्मा आविष्ट तेनावेशी जातः। शरीरेन्द्रियप्राणान्तःकरणसद्भावे आधिदैविकानि शरीरादीनि तत्राविष्टानि, अन्यथा तु स्वतन्त्रावेशीव भगवद्गणो जातः, तत्र च भगवत इव तस्यापि लीला भविष्यतीति मुख्यः पक्षः। विष्णुदेवतानुरूपत्वे तु वैष्णवलोके तथात्वमिति शङ्खचक्रादिभावस्यैव प्राधान्यादिति केचित्। तस्य तथात्वे हेतुमाह। नित्यं भगवद्ध्यानेन प्रध्वस्तानि अविद्याकामकर्मादीनि मात्सर्यादीनि च पश्चादुत्पन्नानि उभयविधान्यपि बन्धनानि यस्य। अनेन देहान्तरोत्पादकं कर्म निवर्तितम्। भगवदावेशे हेतुमाह बिभ्राणश्च हरे रूपमिति। हरिः रूप्यते अनेनेति शङ्खचक्रादिभावसमुदायः। तं बहिर्बिभ्रत्। स्वरूपं तु मनसा बिभ्रत्। चकारात्तत्क्रियादीनां सर्वेषामाधानमुक्तम्। एवं सर्वसामग्र्यां तन्मयत्वं युक्तमेव। पौण्ड्रकस्य गतिमुक्त्वा तेन सहागतस्य काशिराजस्यापि कथं सा न गतिरिति शङ्कां वारयितुं तदुत्पन्नानां तदीयानां सर्वेषामेव परम दोषमाह यावदध्यायपरिसमाप्ति। अर्थात्तेऽपि निरुद्धाः, तीर्थमपि निरुद्धं भवतीति निरूपितम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—वह भगवन्मय हो गया, अर्थात् भगवान् से व्याप्त हो गया, उसकी आत्मा में परमात्मा ने प्रवेश किया, इससे आवेशी हुआ, शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण के होते ही उनमें अधिदैविक शरीरादि प्रविष्ट हो गये, यों न हो तो स्वतन्त्र आवेशी के समान भगवद्गण हुआ, और वहां भगवान् की तरह उसकी भी लीला होगी, यह मुख्य पक्ष है, विष्णु देवता के अनुरूप होने पर तो वैष्णव लोक में ही तथात्व (वैसा पन) होता है, इसलिये वहां शङ्ख, चक्र आदि भाव का ही प्राधान्य है, इस प्रकार कोई कहते हैं, उसके वैसेपन मे हेतु कहते हैं, नित्य भगवान् के हो ध्यान करने से जिसके अविद्या काम कर्मादि, और पश्चात् उत्पन्न मात्सर्य आदि ये दोनों बन्धन नष्ट हो गये हैं इससे यह सिद्ध हुआ कि, अन्य देह को उत्पन्न करने वाले कर्म नष्ट हो गये हैं जिससे इसको दूसरी देह धारण करनी न पड़ेगी, ऐसा भगवदावेश क्यों हुआ ? जिसका कारण बताते हैं कि हरि का शङ्ख,

चक्र, गदापद्म वाला रूप उसने धारण किया था जिससे भगवदावेश उसमें हो गया, इन आयुधों को तो उसने बाहर से धारण किया था किन्तु स्वरूप को तो मन से धारण कर लिया था 'च' शब्द से उसकी क्रिया आदि भी उसमें प्रविष्ट हो गई थी, इस प्रकार सर्व सामग्री सिद्ध हो जाने पर 'तन्मय' पन होना योग्य ही है। पौण्ड्रक की गति कहकर, उसके साथ आये हुए काशिराज को भी वैसी गति क्यों न हुई ? इस शङ्का को मिटाने के लिये उससे उत्पन्न सब के ही परम दोष, अध्याय समाप्ति पर्यन्त कहते हैं अर्थात् वे भी निरुद्ध हुए, तीर्थ भी निरुद्ध हुआ, यह निरूपण किया है ॥२४॥

श्लोक—शिरः पतितमालोक्य राजद्वारे सकुण्डलम् ।
किमिदं कस्य वा वक्त्रमिति संशिश्यिरे जनाः ॥२५॥

श्लोकार्थ—राजद्वार में गिरा हुआ कुण्डल सहित मस्तक देख, काशी के निवासी संशयग्रस्त होकर कहने लगे कि यह क्या वा यह किसका मुख है ? ॥२५॥

सुबोधिनी—यद्भगवता पत्रिभिः शिरश्छिन्नम्, तद्राजद्वारि पतितम्, तदालोक्य। राजत्वज्ञापनाय सकुण्डलमिति। मुखं रुधिराविलमिति कुण्डले अभिज्ञापके निरूपिते। आदौ पतनसमये किमिदं पतितमिति बुद्धिरुत्पन्ना, ततः शिर इति ज्ञात्वा कस्येति, ततो राज्ञो भविष्यतीति ज्ञातेऽपि वक्तुमयुक्तत्वात्संशिश्यिरे। संशयं प्राप्ताः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने बाणों से जो शिर धड़ से अलग किया था वह काशिराज द्वार पर जाके गिरा, वह देख कर काशी निवासी संशय ग्रस्त हो गये, वह राजा है यह जताने के लिये 'सकुण्डलम्' पद दिया है, वह शिर कुण्डल सहित था, कुण्डल राजा धारण करते है मुख तो रुधिर से लिप्त होने से पहचानना कठिन था, अतः कुण्डल पहचान कराने वाले कहे, गिरने के समय, यह क्या गिरा ? ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई, बाद में यह है तो शिर किन्तु किसका है ? कुण्डल देखकर समझ गये कि राजा का होगा, यों समझ कर भी निश्चय से कह न सके, इस लिये कहा है कि काशी की जनता शङ्का शील हो गई ॥२५॥

आभास—ततोन्तरङ्गाः समागत्य निश्चयं चक्रुरित्याह राज्ञः काशिपतेरिति।

आभासार्थ—पश्चात् अपने अन्तरङ्ग सम्बन्धी आये, जिन्होंने पहचान कर निश्चय किया कि 'काशीपति' राजा का शिर है जिसका वर्णन 'राज्ञः काशिपते' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—राज्ञः काशिपतेर्ज्ञात्वा महिष्यः पुत्रबान्धवाः ।
पौराश्च हा हता राजन्नाथ नाथेति प्रारुदन् ॥२६॥

श्लोकार्थ—रानियाँ, पुत्र, बान्धव और सेवक आदि ने यह काशीपति राजा का सिर है, यह निश्चय किया, तब हे राजन् ! हे नाथ ! हाय हम मर गए, यों कह कर जोर से रोने लगे ॥२६॥

सुबोधिनी—महिष्यः स्त्रियः,बान्धवा गोत्रिणः, पौराः सेवकाः, चकारादन्येऽपि साधारणाः तथा वक्तुमनुचितमित्याशङ्क्य, तेषां तुल्यव्यसनत्वं निरूपयितुमाह हा हता राजन्निति। माहात्म्ये राजन्निति। स्नेहे नाथेति। यथा स्ववधे राजा बोध्यते, तद्वद्बोधयांचक्रुरित्यर्थः। चकारात्पितः स्वामिन्नित्याद्यपि। स्ववधे यथा क्लेशेन रोदनम्, तथा मुखतो वदन्त एव रोदनं कृतवन्तः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—'महिष्यः' रानियां, बान्धवा' गोत्र वाले, 'पौराः' सेवक 'च' पद से दूसरे भी, साधारणजन वैसा कहना अनुचित है,यह शङ्का कर उनका समान व्यसनपन कहा है 'हा हता राजन्:' हे राजन् आप के जाने से हम मारे गये हैं, राजन् पद कहने से उसका माहात्म्य वर्णन किया, 'नाथ' पद से स्नेह प्रकट किया है, जैसे अपने वध पर राजा को सूचित किया जाता है वैसे सूचित करने लगे, 'च' शब्द से 'पित' 'स्वामिन्' हे पिता हे स्वामी आदि शब्द भी कह दिये, अपने वध होने पर जैसे क्लेश से रोना आता है, वैसे ही इस समय मुख से कहते हुए ही रोदन करने लगे ॥२६॥

आभास—ततः क्षत्रिय इति मानभङ्गार्थं भगवतैवं प्रदर्शितमिति वैरं सिसाधयिषुः विष्णोः समानौ ब्रह्मशिवौ ज्ञात्वा तयोराराधनार्थं प्रवृत्त इत्याह सुदक्षिणस्तस्य सुत इति।

आभासार्थ—पश्चात् वह[1] क्षत्रिय है, उसने समझा कि मानभङ्ग करने के लिये भगवान् ने इस प्रकार प्रदर्शन किया है, इस लिये, वैर लेने वाले विष्णु के ही समान ब्रह्मा व शिव हैं यो समझ उनकी आराधना के लिये प्रवृत्त हुआ, जिसका वर्णन 'सुदक्षिणस्तस्य सुतः' श्लोक में करते है।

श्लोक—सुदक्षिणस्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पितुः।
निहत्य पितृहन्तारं यास्याम्यपचितिं पितुः ॥२७॥

श्लोकार्थ—उसका पुत्र 'सुदक्षिण' था, वह पिता की उत्तर क्रिया कर, पिता के हत्यारे को मार, पिता का वैर लूँगा तथा पितृ ऋण से उऋण हो जाऊँगा ॥२७॥

सुबोधिनी—ब्रह्ममहादेवौ पितृहन्ता तस्य सहजो देहादिदोष इति तद्वधार्थं प्रयत्नं करोतीति तूष्णीं स्थितौ। जातश्चार्थस्तथैव। बहुदक्षिणयज्ञादुत्पन्नः। सुदक्षिण इति वैदिकप्रकारे तस्य श्रद्धा, अन्यथा राज्ञामनुवृत्तिमेव लौकिकीं कुर्यात्। संस्थाविधिः पारलौकिकी क्रिया। पितृत्वात्तदावश्यकम्। ततोऽपि क्षत्रियो न निष्कृतो भवतीति पितृहन्तारं स्वादृष्टशरीरादिकं हत्वैव अपचितिं यास्यामीति ॥२७॥

व्याख्यार्थ—पिता के मारने वाला, पिता का ही सहज देहादि दोष है; इसलिये उसको मारने के लिये सुदक्षिण प्रयत्न करता हैं, जिस कारण से ब्रह्मा महादेव मौन कर

१—सुदक्षिण, काशिराज का पुत्र,

स्थित हैं, वैसे ही अर्थ[1] सिद्ध हुआ, अर्थात् सुदक्षिण मारा गया, यह सुदक्षिण जिस यज्ञ में बहुत दक्षिणा दी गई थी उस यज्ञ से उत्पन्न हुआ है जिससे इसका नाम सुदक्षिण है और इसकी वैदिक प्रकार की क्रिया में श्रद्धा है, यदि ऐसा न हो तो जैसे राजा लोग वैर लेने के लिये लौकिक क्रिया अर्थात् युद्ध करते हैं वैसे यह भी करता था किन्तु सुदक्षिण होने के कारण वैदिक प्रकार में श्रद्धा होने से यों नहीं किया, पिता की उत्तर क्रिया की, कारण कि पुत्र को यों करना आवश्यक है काशी पति इसका पिता था जिससे प्रथम उत्तर क्रिया की, केवल उत्तर क्रिया करने से क्षत्रिय इस प्रकार मरे हुए पिता के ऋण से उऋण नहीं होता है, इसलिये उसने निश्चय किया कि पिता के हन्ता, अपने अदृष्ट शरीरादि को मारकर ही उऋण बनूंगा तथा पिता का वैर लिया यों समझूंगा ॥२७॥

आभास—स्वबुद्धचै विचारितवानित्याह **इत्यात्मनाभिसंधायेति** ।

आभासार्थ—'इत्यात्मनाभिसंधाय' श्लोक में अपने विचारों का वर्णन करते है ।

श्लोक—**इत्यात्मनाभिसंधाय सोपाध्यायो महेश्वरम् ।**
सुदक्षिणोऽर्चयामास परमेण समाधिना ॥२८॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार मन में निश्चय कर ब्राह्मण को साथ में लेकर, चित्त एकाग्र कर महादेव की पूजा करने लगा ॥२८॥

सुबोधिनी—सोपाध्यायो ब्राह्मणसहितः । महेश्वरमिति । ब्राह्मणादपि महादेवं महान्तं मन्यते । कदाचिद्ब्राह्मणाः, ब्रह्मण्यो भगवानिति पक्षपातं कुर्युरिति । परमेण समाधिनेति । योगेन महादेवस्तुष्यतीति । परमः साक्षान्महादेवप्रीतिजनकः । समाधि. चित्तैकाग्रचम्, तेन तुष्यतीति शैवतन्त्रसिद्धत्वात्तथा कृतवान् ॥२८॥

व्याख्यार्थ - पूजा कराने वाला ब्राह्मण साथ में ले महादेव की पूजा करने लगा, ब्राह्मण (ब्रह्मा) से भी महादेव को विशेष मानता है कदाचित् ब्राह्मण (ब्रह्मा) भी उत्तम हैं, किन्तु भगवान् ब्रह्मण्य होने से उसका पक्षपात करे, इसलिये महादेव का ही अर्चन किया, परम समाधि से अर्थात् योग द्वारा पूजन किया, क्योंकि महादेव योग से प्रसन्न होता है, परम शब्द का भावार्थ है कि इस प्रकार की समाधि से साक्षात्-महादेव प्रीति जनक है 'समाधि का आशय चित्त की एकाग्रता है, यह विषय शैव तन्त्र से सिद्ध होने से वैसे ही किया । २८।

आभास—ततः प्रीतो महादेवः । ननु भगवत्सान्निध्य एव समाधिः फलसाधक इत्याशङ्कयाह **अविमुक्त** इति ।

१—अर्थ–मनोरथ. अन्तःकरण भाव

आभासार्थ—यों करने से महादेवजी प्रसन्न हुवे, समाधि तो भगवान् के सान्निध्य में ही फल दायिनी होती है तो यह सान्निध्य के बिना फलीभूत कैसे हुई इस शङ्का का 'प्रीतोऽविमुक्ते' श्लोक में निराकरण करते हैं।

श्लोक—प्रीतोऽविमुक्ते भगवांस्तस्मै वरमदाद्भव: ।
पितृहन्तृवधोपायं स वव्रे वरमीप्सितम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—अविमुक्त क्षेत्र में काशी विश्वनाथ ने प्रसन्न होकर वर दिया, उसने जिससे पिता के हन्ता का वध हो, ऐसा इच्छित वर पाया ॥२६॥

सुबोधिनी—तत्र हि पूर्वं महादेव: पञ्चमं शिरो ब्रह्मणश्छित्वा, ब्रह्महत्यया व्याप्त:, नारायणाश्रमं गत्वा, पृष्टो बदरीनाथ:, कथं ब्रह्मवधाद्विमोक इति, तदाह भगवान्, स्वस्थानं गच्छ, यत्र चास्य कपालस्य पतनम्, ततश्चाव्यावृत्ति: कर्तव्येति। तत: काश्यामागतस्य तथा जातमिति, तत:प्रभृति महादेवेन न तद्विमुक्तम्। अतो नित्यसान्निध्यात् महादेवस्तत्र प्रसन्न:, स च भगवान् भवति। तामसकल्पेषु तद्रूप एव भगवानिति। यत उद्भवरूप:। अतस्तस्मै वरं दत्तवान्। वरं ब्रूहि, दास्यामीत्युक्तवानित्यर्थ:। तत: स्वाभिलषितमाह पितृहन्तुरिति। ननु कथमस्य वरत्वम्, दु:खाभावसुखरूपत्वाभावात्, तत्राह ईप्सितमिति। न हि वरो नाम कश्चिन्नियतोऽस्ति। य एव कश्चन मनस्यभिलषितो भवति, स एव वर इति ॥२६॥

व्याख्यार्थ—पूर्व समय में, महादेव ने ब्रह्मा का पांचवां शिर काटा था, जिससे महादेव को ब्रह्महत्या लगी थी इस हत्या के निवारणार्थ नारायणाश्रम में जाकर बदरीनाथ से पूछा कि यह ब्रह्महत्या कैसे मिटेगी ? तब नारायण भगवान् ने कहा कि अपने स्थान पर जाके रहो, जहां यह कमल गिरेगा वहां से बाहर न निकलना, पश्चात् महादेव काशी में आये, वैसे ही हुआ, उस दिन से महादेव ने उस स्थान को नहीं छोड़ा है अर्थात् काशी का त्याग नहीं किया जिससे इसको 'अविमुक्त' क्षेत्र कहा जाता हैं, अत: वहाँ नित्य सान्निध्य होने से ही महादेव प्रसन्न हुवे और वह भगवान् है, तामस कल्पों में वह ही भगवान् है क्योंकि उद्भवरूप हैं अत: उसको वर दिया अर्थात् कहा कि वर मांग, मैं दूंगा, इन वचनों को सुनकर उसने, जिससे मेरे पिता के हन्ता का वध हो ऐसा उपाय करो, इस प्रकार का वर मांगा, जो वर महादेव ने दिया, जिस वर से दु:ख का अभाव नहीं और सुख की प्राप्ति नहीं वह वर, वर कैसे समझा जावे ? इस शङ्का का निवारण 'ईप्सित' पद से करते हैं कि उसको ऐसा ही चाहिये था 'वर से कोई निश्चित पदार्थ नहीं मिलता है, किन्तु सेवक जो कुछ अपनी इच्छा से चाहता है वह उसको इच्छानुसार दिया जाता है, वह ही 'वर' है ॥२६॥

आभास—तदा महादेव: उभयथाप्यनिष्टमिति ज्ञात्वा, भक्तहितार्थं व्याजेन साधनमुपदिशति अन्यथा न निवृत्तो भवतीति। शिववाक्यमाह त्वं दक्षिणाग्निं परिचरेति।

आभासार्थ—तब महादेवजी ने दोनों तरह अनिष्ट समझ, भक्त के हित के लिये, बहाने से

साधन का उपदेश दिया, नहीं तो निवृत्त न होता 'दक्षिणाग्नि' श्लोक में शिव ने जो कहा वह कहता है।

श्लोक—दक्षिणाग्निं परिचर ब्राह्मणैः सममृत्विजम् ।
अभिचारविधानेन स चाग्निः प्रमथैर्वृतः ॥३०॥
साधयिष्यति सङ्कल्पमब्रह्मण्ये प्रयोजितः ।

श्लोकार्थ—महादेवजी ने सुदक्षिण को कहा कि तूँ ब्राह्मणों के साथ ऋत्विज के समान दक्षिणाग्नि की अभिचार विधि से पूजन कर, वह प्रमथों के सहित तेरा मनोरथ पूर्ण करेगा, यदि वह प्रयोग अब्रह्मण्य पर किया जाएगा, तो पूर्ण होगा ॥३०½॥

सुबोधिनी—'अग्नये रुद्रवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेदभिचरन् एषा वास्य घोरा तनूर्यद्रुद्रतस्मा एवैनमावृश्चति ता जगतिमाच्छंति'ति श्रुतेः। दक्षिणाग्नावेवाभिचारहोमः। अत आह त्वं दक्षिणाग्निं परिचरेति। तत्राप्येकाकिना न कर्तव्यमिति ब्राह्मणैः सममित्युक्तम्। ऋत्विजां मध्ये ऋत्विजां सम्बन्धी वा। तेन चातुर्होत्रविधानेन कर्तव्यमिति, तत्राप्यभिचारविधानेन, इष्टिप्रकृतिकश्चेत्, न शरमयादि। पशुप्रकृतिकत्वे तु तूपरः। पशुः स्फयो यूपः शरमयं बर्हिः वैभीतिक इध्मः। अत्र तु पुरोडाश एव। यतोऽग्निरेव देवः। स च प्रमथैर्वृतः। अतो रुद्रवानेवाग्निः। अभिचारसामान्यात् शरमयादिर्वा। ततो यद्भविष्यति, तदाह स चाग्निरिति। तव कः प्रसाद इति चेत्। अग्निरपि प्रसन्नो मत्कृपया, अन्योऽपि प्रसाद इति वक्तुं प्रमथैर्भूतगणैर्वृत इत्युक्तम्। ततस्ते सङ्कल्पं साधयिष्यति। यदि अब्रह्मण्ये प्रयोजितो भविष्यति, अन्यथा विपरीतो भूत्वा त्वामेव भक्षयिष्यतीति भावः। 'तस्मादग्निचिद्धाभिचरितवै प्रत्यगेनमभिचारस्तृणुत' इति श्रुतेः। सुदक्षिणस्तु भगवन्तं ब्रह्मण्य न जानाति। चकारात्तदङ्गदेवता अपि कार्यं करिष्यन्तीति सूचितम् ॥३०½॥

व्याख्यार्थ—'अग्नये रुद्रवते' श्रुति के अनुसार दक्षिणाग्नि में ही अभिचार होम किया जाता है, इसलिये महादेवजी ने कहा है कि दक्षिणाग्नि की परिचर्या कर, वह भी अकेले नहीं करनी, किन्तु ब्राह्मणों के साथ करनी। ऋत्विक् ब्राह्मणों के मध्य में वा उनका सम्बन्धी हो कर करनी, अर्थात् चातुर्होत्र विधि से करनी चाहिये यों कहा, उसमें भी अभिचार विधान से करनी, यदि इष्टि प्रकृतिक हो तो शरमयादि विधि से नहीं करनी पशु प्रकृतिक होने पर तो, 'तू पर' करता, जैसे कि कहा है, 'पशुः स्फयो यूपः शरमयं बर्हिर्वैभीतिक इध्मः' यहां तो 'पुरोडाश' ही है, क्योंकि यहाँ अग्नि ही देव है और वह प्रमथों से घिरा हुवा है अतः रुद्रवान् ही अग्नि है, अथवा अभिचार की समानता से शरमयादि है, उससे जो होगा वह कहते हैं कि वह तो अग्नि है, जो करना है वह करेगो आपकी कृपा कौनसी हुई ? इस पर कहते है कि मेरी कृपा से ही अग्नि देव प्रसन्न होगा इसके सिवाय दूसरी कृपा यह है. कि वह अग्नि मेरे भूतगणों से घिरी हुई है, उनके द्वारा ही तेरा सङ्कल्प सिद्ध करेगो, यदि वह अब्रह्मण्य पर काम में लायेगा तो लाभ होगा, नहीं तो विपरीत हो कर तेरा ही भक्षण होगा, यों

'तस्मादग्निचिन्हाभिचरित' श्रुति में कहा है, सुदक्षिण तो भगवान् को ब्रह्मण्य है यों नहीं जानता है, 'च' पद से वह जताया है कि उसके जो अङ्ग देवता हैं वे भी कार्य करेंगे ।।३०।।

आभास--एवं महादेवेनाज्ञप्तस्तथैव चक्रे, परमुद्देश्यो न तदुक्त इति ज्ञापयितुमाह कृष्णायाभिचरन्निति ।

आभासार्थ—इस प्रकार महादेव से आज्ञा प्राप्त कर वैसे ही करने लगा किन्तु उद्देश्य महादेव का कहा हुआ तथा, यह बताने के लिये कहते हैं कि वह ब्रह्मण्य कृष्ण पर करने लगा ।

श्लोक—इत्यादिष्टस्तथा चक्रे कृष्णायाभिचरन् कुधीः ।।३१।।

श्लोकार्थ—महादेवजी ने इस प्रकार आज्ञा की, किन्तु कुबुद्धि सुदक्षिण वह अभिचार का महादेवोपदिष्ट प्रयोग कृष्ण के ऊपर करने लगा ।।३१।।

सुबोधिनी—कृष्णो ब्राह्मणानां फलरूपः, ब्राह्मणहितश्च । अतः कुधीः ।।३१।।

व्याख्यार्थ श्रीकृष्ण ब्राह्मणों के फल रूप है और ब्राह्मणों के हितकारी हैं, ऐसे ब्रह्मण श्री-कृष्ण पर सुदक्षिण अभिचार करने लगा, ऐसा क्यों किया ? इस पर कहते हैं कि 'कुधीः' कुबुद्धि है इस कारण से यों किया ।।३१।।

आभास--उत्पादने वैगुण्याभावात् अग्निरुत्थित इत्याह अग्निरुत्थितः कुण्डादिति ।

आभासार्थ—उत्पादन में विगुणता के अभाव से अग्नि उत्पन्न हुई, यों 'अग्निरुत्थितः' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—ततोऽग्निरुत्थितः कुण्डान्मूर्तिमानतिभीषणः ।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रुरङ्गारोद्गारिलोचनः ।।३२।।

श्लोकार्थ—तब कुण्ड में से अतिभयानक मूर्तिमान् अग्नि निकली, जिसके तपे ताँबे के समान शिखा, दाढ़ी और मूँछ हैं, जिसके नेत्रों में से अङ्गारे बरस रहे हैं ।।३२।।

सुबोधिनी--दक्षिणाग्निकुण्डात् । ज्वालारूपतां वारयति मूर्तिमानिति । प्रसन्नदेवतारूपतां वारयति अतिभीषण इति । मृत्युरूपतां वक्तुं तं वर्णयति तप्तताम्रेति द्वयेन । तप्तताम्रसदृशानि श्मश्रूणि यस्य । अङ्गारानेवोद्गिरन्ति लोचनानि यस्य । यथा कालीयादेः । अङ्गारोद्गारिलोचनः ।।३२।

व्याख्यार्थ – दक्षिणाग्नि कुण्ड में से जो अग्नि निकली वह ज्वालारूप नहीं थी अतः 'मूर्तिमान्' पद दिया है, अर्थात् स्वरूप धारण कर प्रकट हुई, अग्निदेव प्रसन्न होने से स्वरूप धारण कर उद्भूत हुए होंगे ? इसकी प्रसन्नता का निवारण करने के लिये कहा है कि अति भयानक रूपधारी प्रकट होने से प्रसन्नता का अभाव प्रकट किया है मृत्युरूपता[1] का वर्णन करने के लिये दो विशेषण दिये हैं १-तपे हुए तांबे के समान शिखा, दाढ़ी और मूछ वाली और दूसरा जिसके आंखों से कालीयादि की भाँति अंगार बरस रहें हैं ॥३२॥

श्लोक—दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदण्डकठोरास्यः स्वजिह्वया ।
आलिहन्सृक्किणी नग्नो विधुन्वंस्त्रिशिख ज्वलन् ॥३३॥

श्लोकार्थ—दाढ़ें और उग्र भृकुटि दण्ड से बिकराल मुखवाली वह अग्नि, अपनी जीभ से गलफरों को चाटती थी, नग्न होकर देदीप्यमान त्रिशूल को घुमा रही थी ॥३३॥

सुबोधिनी - दंष्ट्रया उग्रः, भ्रुकुटी च दण्डरूपा. एताभ्यां स्वरूपतोऽपि कठोरमास्यं यस्य । स्वजिह्वया सृक्किणी आलिहन्निति कार्याभिनिवेशो निरूपितः । नग्न इति स्वदेहमपि न जानातीत्युक्तम् । तेनाविचार्यैव क्रूरं करिष्यतीति । साधनमपि तथाविधमाह विधुन्वंस्त्रिशिखमिति । ज्वलन्निति क्रोधादिना ॥३३॥

व्याख्यार्थ – दाढ़ों से उग्र, भृकुटी दण्डरूप थी, इन दोनों से यह भान होता था कि स्वरूप से भी इसका मुख कठोर है, अपनी जिह्वा से गलफरों को चाटने से यह जताता था कि मेरा अपने कार्य करने में अभिनिवेश है 'नग्न' पद से जताया कि अपनी देह का भी इसको भान नहीं है, जिसको अपनी देह का भान नहीं है वह बिना विचार के ही क्रूर कर्म करेगी, जिसके पास साधन भी इसी प्रकार का है, त्रिशूल घुमा रही थी, वह त्रिशूल क्रोध आदि से चमक रहा था ॥३३॥

आभास—अग्नित्वात् स्वभावतोऽपि गतिसामर्थ्यमाह पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यामिति ।

आभासार्थ—अग्नि होने से स्वभाव से भी गति सामर्थ्य उसमें होती है,जिसका वर्णन 'पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन्नवनीतलम् ।
सोऽभ्यधावद्वृतो भूतैर्द्वारकां प्रदहन् दिशः ॥३४॥

---

१ – संस्कृत सुबोधिनी के पुस्तक में यहां टीप्पणी में लिखा है कि 'मृत्युरूप तां वारयति' तप्तताम्रेति पाठः इस पाठ से अर्थ और भाव बदलता है, अतः विचारणीय है-अनुवादक

श्लोकार्थ—ताल जितने लम्बे पाँवों से पृथ्वी तल को कम्पाता हुआ, भूतगणों से घिरा हुआ, दिशाओं को जलाता हुआ द्वारका के सामने दौड़ा ॥३४॥

सुबोधिनी—अग्रे कार्यं भविष्यतीति ज्ञापयितुमिदानीं तस्य महत्सामर्थ्यमाह कम्पयन्नवनीतलमिति। तस्योद्योगमाह सोऽभ्यधावदिति। भूतैः प्रमथगणैर्वृतः ॥३४॥

व्याख्यार्थ – आगे कार्य होगा यह जताने के लिये, उसका महान् सामर्थ्य कहते हैं–कम्पयन् अवनीतलं' पृथ्वी तल को कम्पाता था, उसके उद्यम का वर्णन करते हैं कि प्रथम गण भूतों से घिरा हुआ द्वारका के सामने दौड़ता था ॥३४॥

आभास—ततो द्वारकायामपि तद्दर्शनेन भयं जातमित्याह तमाभिचारदहनमिति।

आभासार्थ—उसके देखने से द्वारका को भी भय हुआ, जिसका वर्णन 'तमाभिचारदहनं' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—तमाभिचारदहनमायान्तं द्वारकौकस.।
विलोक्य तत्रसुः सर्वे वनदाहे मृगा यथा ॥३५॥

श्लोकार्थ—उस अभिचार की अग्नि को आती देख सब द्वारकावासी जैसे वन में आग लगने पर पशु डरते हैं, वैसे ही ये भी डरने लगे ॥३५॥

सुबोधिनी—यतो दिश प्रदहन् समागतः। अतस्तं दृष्ट्वा उत्पत्तिविचारेणापि आभिचारदहन इति। तत्राप्यायान्तम्। द्वारकौकस इति पूर्वमेव स्थानं त्यक्त्वा यथाकथञ्चिदत्र स्थितम्। अत्रापि भये किं कर्तव्यमिति विलोक्यैव तत्रसुः। अहन्यमाना अपि। तत्र बलिष्ठाः शूरा न तथा भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह सर्वे इति। उपजीव्यनाशात् प्रतिक्रियायामसामर्थ्यात् महतोऽपि भयमिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह वनदाहे यथा मृगा इति। ॥३५॥

व्याख्यार्थ—डरने का कारण बताते है, कि वह अग्नि दिशाओं को जलाती हुई आ रही थी, अतः उसको देख डरे और इसकी उत्पत्ति का विचार किया तो यह 'अभिचार' की अग्नि थी तथा वह यहां आरही है। द्वारकावासी विचारने लगे कि पहले ही अपना स्थान छोड़ कर जैसे तैसे यहां स्थित हुवे हैं, यदि यह आकर जला देगी तो हम कहां जायेंगे ? अब क्या करना चाहिये यों विचार करते थे इतने में वह पास में आ गई, उसको देखते ही डर गये, मारे नहीं गये थे तो भी डर गये, वे बलिष्ठ और शूरवीर थे तो क्यों डरे ? वीर और बलिष्ठ तो कभी डरते नहीं फिर भी सब डर गये, कारण जो द्वारका हमारी रक्षा कर रही है, यदि वह जल गई तो, हमारे लिये आपत्ति हो जायेगी। आप डरते क्यों हो ? उसकी रक्षा कर लेना, इस पर कहते हैं कि प्रतिक्रिया करने की हम लोगों में सामर्थ्य नहीं है, जैसे वन में आग लगती है तो पशु डर जात हैं, क्योंकि वे उस वन की आग को बुझाने में असमर्थ होते हैं वैसे ही हम भी हैं ॥३५॥

आभास—अन्यत्रालब्धशरणाः निश्चिन्तं भगवन्तं विज्ञापयामासुरित्याह अक्षैः सभायां क्रीडन्तमिति ।

आभासार्थ—दूसरा कोई रक्षक देखने में नहीं आया इसलिये निश्चित् भगवान् की शरण जाकर प्रार्थना करने लगे उस समय भगवान् सभा में पासों से खेल रहे थे ।

श्लोक—अक्षैः सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं भयातुराः ।
पाहि पाहि त्रिलोकेश वह्नेः प्रदहतः पुरम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—वे सब भय से आतुर हो गए, अतः सभा में पासों से खेलते हुए भगवान् के समीप जाकर प्रार्थना करने लगे कि हे त्रिलोकीनाथ ! पुरी को जलाने-वाली इस अग्नि से रक्षा करो ॥३६॥

सुबोधिनी—अनेनान्तर्बहिः चिन्ताभावो निरूपितः । सभ्याधानार्थं क्रीडयतीति ज्ञापयितुं सभायामित्युक्तम् । यत उत्थानं न सम्भवति । भगवन्तमिति सर्वथा समर्थम् । भयातुरा इति न तेषामवसरानवसरपरिज्ञानमिति सूचितम् । भीतानां वाक्यमाह पाहि पाहि इति । त्राहि त्राहीति क्वचित्पाठः । तत्रापि परस्मैपदं छान्दसमिति केचित् । उभयपदी धातुरित्यपरे । त्रिलोकेशेति । महादेवादिनिराकरणेऽपि सामर्थ्यं सूचितम् । पुरं प्रदहतो वह्नेः सकाशात् पालयेति, यथा पुरदाहो न भवति, तथा यत्नं कुर्विति ।३६।

व्याख्यार्थ—भगवान् उस समय पासों से सभा में खेल रहे थे, इससे यह जताया, कि प्रभु अन्दर और बाहर निश्चिन्त होने से आनन्द मग्न है, भगवान् सभा मे खेलने से सभा के सभ्य है, जिस कारण से, सभा से उठ भी नहीं सकेंगे, इस विचार के अनन्तर कहने लगे, कि भगवान् होने से सर्व समर्थ हैं, वहां बैठे हुए ही कार्य पूर्ण कर देंगे, वे तो भय से आतुर हो गये थे, आतुरों को प्रार्थना करने का वह अवसर है वा नहीं, इसका ज्ञान नहीं रहता है । डरे हुओं के वे वचन कहते है, जो भगवान् को कहे हैं, हे त्रिलोकीनाथ अग्नि से जलने वाली इस पुरी की पालना करो, जैसे पुर का दाह न हो, वैसा यत्न करो मूल में 'पाहि पाहि' पाठ है किसी पुस्तक में 'त्राहि त्राहि' पाठ भी है, यहां त्राहि परस्मैपद दिया है, इस शङ्का के निवारण के लिये कितने ही कहते हैं, कि यह पद छान्दस है दूसरे कहते हैं कि यह धातु 'उभयपदी' है, त्रिलोकीनाथ पद से यह सूचित किया है, कि महादेवादि के निराकरण करने की आप में सामर्थ्य है ॥३०॥

आभास—क्षणं चेत्तो न वदेयुः, तदा भगवान् तूष्णीं स्थितः दाहप्रारम्भपर्यन्तम् । पश्चादतिक्रोधे पक्षान्तराणां मूलच्छेदमेव कुर्यात् । यथा न कदापि भगवद्विपक्षाणामुद्गमः स्यात् । तावद्विलम्बं लोका न सहन्त इति भगवान् भक्तकृपालुः तद्वैक्लव्यात् सामिकार्यमेव कृतवानित्याह श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यमिति ।

आभासार्थ—यदि वे द्वारकावासी एक क्षण भी प्रार्थना करने में विलम्ब करते तो भगवान् तब तक चुप रहते जब तक नगर को आग न लगती, आग लग जाने पर, भगवान् को विशेष क्रोध आता, जिससे शत्रुओं की जड़ ही काट डालते, जैसे कभी भी भगवान् के विपक्षी पैदा न होते। आग लगने पर्यन्त सहने की शक्ति लोकों में नहीं थी, इसलिये पहले ही आकर रक्षा के लिये प्रार्थना की, भगवान् तो भक्तों पर कृपा करने वाले है,उनकी विक्लवता देख आधा कार्य ही किया, जिसका वर्णन 'श्रुत्वा तज्जन' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यं दृष्ट्वा स्वानां च साध्वसम् ।
शरण्यः सम्प्रहस्याह मा भैष्टेत्यवितास्म्यहम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—अपने भक्तों की व्याकुलता और भय देख, शरणागत की रक्षा करने में प्रवीण परमात्मा ने हँस कर कहा कि डरो मत, मैं आपका रक्षक हूँ ॥३७॥

सुबोधिनी—तत्प्रसिद्धं जनानां वैक्लव्यं दृष्ट्वा च निमित्तं तेषां साध्वसं भयं च दृष्ट्वा स्वयं शरणार्हः प्रहस्याह स्वनाशार्थं कृतवानिति । मा भैष्टेत्याह । हेतुवाक्यव्यतिरेकेण भयस्यानिवृत्ताह अवितास्म्यहमिति ॥३७॥

व्याख्यार्थ—भक्तों की प्रकट व्याकुलता देख और उसका कारण तथा भय भी देख, स्वयं शरण के योग्य भगवान् हंसकर कहने लगे कि इसने यह सब अपने नाश के लिये किया है, आप डरो मत, क्योंकि मैं आपका रक्षक बैठा हूँ ॥३७॥

आभास—निदानापरिज्ञानेऽपि सुदर्शनं सर्वार्थमिति सुदर्शनावलम्बनेनैव कदाचित्प्रतीकारं कुर्यादित्याशङ्क्याह सर्वस्यान्तर्बहिःसाक्षीति ।

आभासार्थ—कारण, कि न जानने पर भी, 'सुदर्शन चक्र' सब के लिये है, इसलिये सुदर्शन के आश्रय से ही कदाचित् उपाय करे, यों शङ्का कर रहे थे इतने में भगवान् ने जो किया इसका 'सर्वस्यान्तर्बहिः' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—सर्वस्यान्तर्बहिःसाक्षी कृत्यां माहेश्वरीं विभुः ।
विज्ञाय तद्विघातार्थं पार्श्वस्थं चक्रमादिशत् ॥३८॥

श्लोकार्थ—अन्दर और बाहर सबके साक्षी विभु भगवान् ने महादेव की कृत्या को जानकर, उसके कार्य को नष्ट करने के लिए पास में स्थित चक्र को आज्ञा दी ॥३८॥

सुबोधिनी— माहेश्वरीं कृत्यां विभुत्वाद्विज्ञाय तद्वधार्थं पार्श्वस्थं चक्रमादिशत्, चक्रं हि सचेतनं चक्ररूपेणैव। विभुत्वान्न चक्रसामर्थ्येन किञ्चित्, किन्तु स्वसामर्थ्येनैवेत्युक्तम्। तस्य विघातः अग्नेः कार्यप्रतिघातः, न तु स्वरूपनाशः। पार्श्वस्थ इति स सर्वथा हृदयाभिज्ञः ॥३८॥

व्याख्यार्थ— आप विभु हैं, इसलिये जान गये कि यह महादेव की कृत्या है; उसके वध के लिये पास में रहे हुए सुदर्शन चक्र को आज्ञा दी, चक्र, चक्र रूप से ही चेतनोंवाला था, श्रीकृष्ण विभु अर्थात् सर्व प्रकार समर्थ हैं, अतः जो कुछ कार्य हुआ जैसे पुर को न जला सकना और सुदक्षिण का नाश वह अपनी अर्थात् प्रभु की सामर्थ्य से ही हुआ न कि चक्र की सामर्थ्य से, उसका विघात पद का आशय है उसके कार्य पुर को जलाना जिसका नाश चक्र ने किया न कि कृत्या का स्वरूप से नाश किया, चक्र समीप में स्थित होने से भगवान् का हृदय सर्व प्रकार से जानता था ॥३८॥

आभास—ततो भगवदिच्छानुसारेण चक्रकृत्यमाह तत्सूर्यकोटिप्रतिममिति।

आभासार्थ— 'तत्सूर्य कोटि प्रतिमं' श्लोक में भगवान् की इच्छानुसार जो किया वह चक्र का कृत्य कहते है।

श्लोक— तत्सूर्यकोटिप्रतिमं सुदर्शनं जाज्वल्यमानं प्रलयानलप्रभम्।
स्वतेजसा खं ककुभोऽथ रोदसी चक्रं मुकुन्दास्त्रमथाग्निमार्दयत् ॥३९॥

श्लोकार्थ—करोड़ सूर्य के समान, प्रलय की अग्नि के सदृश कान्तिवाला, अपने तेज से आकाश, दिशा, स्वर्ग और पृथ्वी को पीड़ा करता हुआ, वह मुकुन्द का चक्र कृत्या के पीछे पड़ा ॥३९॥

सुबोधिनी— सूर्यकोटिसमानतेजस्त्वं स्वाभाविकी शक्तिः। जाज्वल्यमानमिति तस्योत्साहो निरूपितः। प्रलयानलप्रभमिति तस्य क्रोधावेशः। ततः क्रोधवशादुक्तदृष्टान्तसधर्मा जातं इत्याह स्वतेजसा खं ककुभो रोदसी च अर्दयदिति। अन्तरिक्षं दश दिशः द्यावापृथिव्यौ च ज्वालयतीव। एतत्सामर्थ्यं न स्वस्य, किन्तु भगवत इति वक्तुं मुकुन्दास्त्रमित्युक्तम्। एवं सर्वं दग्ध्वेव, पश्चाद्भिन्नप्रक्रमेण अग्निमार्दयत्। आ सर्वतः सर्वथैव भग्नसङ्कल्पं कृतवान् ॥३९॥

व्याख्यार्थ— चक्र का करोड़ सूर्य के समान जो तेज था वह उसकी स्वाभाविकी शक्ति थी, चमक रहा था इससे उसका उत्साह प्रदर्शित किया है, उसकी प्रभा प्रलय की अग्नि के समान थी जिससे दिखाया है, कि वह क्रोध पूर्ण है, पश्चात् क्रोध पूर्ण होने से दिये हुए दृष्टान्तों के समान धर्म इसमें भी प्रकट है, यह बताया है, जैसा कि कहते हैं, अपने तेज से आकाश, दिशा, स्वर्ग और पृथ्वी को पीड़ा करने लगा, मानो उनको जलाने लगा यह सामर्थ्य चक्र की अपनी नहीं थी, किन्तु (वह) भगवान् की है, इसलिये 'मुकुन्दास्त्र' पद दिया है, जिसका आशय है कि 'चक्र' साधारण अस्त्र नहीं है किन्तु मोक्षदाता भगवान् का अस्त्र है जिससे इसमें इतनी सामर्थ्य हुई है, इस प्रकार सब को

दग्ध कर पश्चात् भिन्न प्रकार से अग्नि को पीड़ा देने लगा अर्थात् अग्नि के सब सङ्कल्प नष्ट कर दिये ॥३९॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह कृत्यानल: प्रतिहत इति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन 'कृत्यानल: प्रतिहत:' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—कृत्यानल: प्रतिहत: स रथाङ्गपाणे-
रस्त्रौजसा स नृप भग्नमुखो निवृत्त: ।
वाराणसीं परिसमेत्य सुदक्षिणं तं
सर्त्विग्जनं समदहत्स्वकृतोऽभिचार: ॥४०॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! भगवान् के तेज से प्रतिहत, भग्न मुख वह अग्नि पीछी लौटती हुई काशी में आकर, अभिचार करने वाले सुदक्षिण तथा ऋत्विज आदि जनों को भस्म करने लगी ॥४०॥

सुबोधिनी – स स्वतन्त्रोऽपि कृत्यानल: श्रुत्या साधितोऽपि । रथाङ्गपाणेरिति तस्य लौकिकवैदिकसामर्थ्यनाशकत्वमुक्तम् । तत्रापि अस्त्रत्वात् अप्रतिहतरूपमेव । तत्रापि तस्य ओज: तेन हत: सन् भग्नमुखो भूत्वा निवृत्तो जात: । ततो वाराणसीमपि महानिति प्रति समेत्य व्याघुट्य समागत्य स्वस्थाने समागत्य सुदक्षिणं तं स्वोत्पादकं सर्त्विग्जनं ऋत्विग्जनसहितं सम्यगदहत् । अनेन ब्राह्मणा हता इति न भगवद्दोष: कोऽपि । यत: स्वकृत एवाभिचार:,आत्मीयश्च दुबाण: स्वात्मानं विध्यति, तदा न कस्यापि दोष इति ते सर्वे कृत्यानलेन भस्मसात्कृता इत्यर्थ: ॥४०॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि वह कृत्यानल स्वतन्त्र तथा श्रुतियों से सिद्ध की हुई है, तो भी, भगवान् के सुदर्शन चक्रास्त्र के सामने उसका तेज निर्बल पड़ गया, क्योंकि वह अस्त्र भगवान् का था, भगवान् के होने के कारण लौकिक वैदिक सामर्थ्य को नाश करने में समर्थ है और अस्त्र होने से उसके रूप को कोई दमन नहीं कर सकता, इस प्रकार के होते हुवे भी उसका तेज ऐसा था जिससे मारा हुआ एवं भग्न मुख ही निवृत्त होने लगा और लौटते २ वाराणसी को घेर लिया, वहां पहुँच कर उस सुदक्षिण को तथा उसके उत्पादक ऋत्विग्जन सहित सब को पूर्ण रीति से जला दिया, इस प्रकार ब्राह्मण आदि जल गये जिसका दोष भगवान् पर कुछ भी नहीं है, क्योंकि यह अभिचार सुदक्षिण के कहने पर इन ब्राह्मणों ने किया था, अत: अपना छोड़ा बाण अपने को लगे, जिसमें दूसरे का दोष नहीं, वैसे यहां अभिचार करने वालों का ही दोष है इसलिये वे अपने उत्पादन किये हुए कृत्यानल से भस्म हुवे हैं ॥४०॥

आभास—तत: सुदर्शनं भगवद्धृदयं जानातीति काशीमपि पीडितवदित्याह चक्रं च विष्णोरिति ।

आभासार्थ—अनन्तर भगवान् के हृदय को जाननेवाले सुदर्शन ने काशी को भी पीड़ित किया, जिसका वर्णन 'चक्रं' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—चक्रं च विष्णोस्तदनुप्रविष्टं वाराणसीं साट्टसभालयापणाम्।
सगोपुराट्टालककोष्ठसंकुलां सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालाम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—उस कृत्यानल के पीछे भगवान् का चक्र भी गया, जिसने मंच, सभा, घर, हाट, दरवाजे, अट्टालिकाएँ, भण्डार, हस्तीशाला, अश्वशाला, रथशाला, अन्न के कोठे आदि सबको जला दिया ॥४१॥

सुबोधिनी—तदनु कृत्यानलमनुप्रविष्टं सत् वाराणसीं समदहदिति सम्बन्धः। विष्णोश्चक्रत्वान्न तस्य भयम्। छदींष्येव दग्धानि इति शङ्कां वारयितुं साट्टसभालयापणामित्युक्तम्। अट्टादयः सौधगृहाः। सभास्थानान्यपि। तथा आपणः पण्यवीथी। एते अद्यापि लोके सुधाधवलिता भवन्ति। साधारणा एत इति विशिष्टानामपि दाहं निरूपयति सगोपुरेति। पुरद्वारसहिताम्, अट्टालकाः हर्म्याः धनिनां गृहाः। कोष्ठानि दुर्गादावन्नसंग्रहस्थानानि। सगोकुलाट्टालसगोष्ठसंकुलामिति पाठे गोष्ठादीनां गोकुलस्य। तत्रापि प्रसिद्धगोपानां अट्टालकसहितस्य कदाचिद्दाहं न कुर्यादिति शङ्का स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थमेवमुक्तम्। लक्ष्म्या आयतनं न पीडयिष्यतीत्याशङ्क्याह सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालामिति। कोशा भाण्डारगृहाः। हस्त्याद्यन्नान्तानां च शालाः। रथनिर्माणं यत्र क्रियते, सा रथशाला। स्थापिता अपि रथा गृहेष्वेव तिष्ठन्ति। अन्यथा धर्माद्युपद्रवो भवतीति ॥४१॥

व्याख्यार्थ - उस कृत्यानल के पीछे प्रविष्ट सुदर्शन ने वाराणसी को जला दिया, वह विष्णु का चक्र है, इसलिये निर्भय है, अल्प ही जलाये होंगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिये हो 'साट्टसभालयापणांम्' कहा है, राजभवन, सभास्थान, तथा बाजार जहां दुकानें लगी रहती हैं ये सब जला दिये, ये इस समय भी, लोक में सुधा से धवलित अर्थात् स्वच्छ किये जाते हैं, ये जो जलाये वे तो साधारण थे, अब जो विशेष बड़े स्थान जलाये उनका वर्णन करते हैं, नगर के जो भीतर जाने के बड़े दरवाजे थे वे साहूकारों के सुन्दर महल, कोठे, दुर्ग आदि में जो अन्न के सङ्ग्रह के स्थान थे, किसी पुस्तक में 'सगोकुलाट्टाल सगोष्ठसंकुलां' यह पाठ है गोकुल जहां गौ आदि के रहने के स्थान हैं, जिसमे प्रसिद्ध गोपों के अट्टालकों (बड़े २ सुन्दर घर) के साथ सब को कदाचित् जलावें, इस शङ्का के मिटाने के लिये यों कहा है लक्ष्मी के निवास स्थान तो नहीं जलाये होंगे ? इस शङ्का का निवारण करने के लिये कहते है कि 'सकोशहस्त्यस्वरथान्नशालां' अर्थात् लक्ष्मी के निवास स्थान भी जलाये जैसे कोषागृह (खजाने) जहां थे वे स्थान, हस्ती, घोड़े रथ और अन्न आदि के गृह भी जला दिये, जहाँ रथ बनाये जाते है, वे रथ शालाएँ होती हैं। बनाए गये रथ तो घरों में स्थापित किये जाते है, वहाँ ही पडे रहते हैं, यों नहीं करे तो धर्मादि उपद्रव हो जाता है ॥४१॥

आभास—एवं सामान्यविशेषप्रकारेण दाहमुक्त्वा सर्वदाहो न भविष्यतीत्याशङ्क्य, विशेषं वदन्नुपसंहरति दग्ध्वा वाराणसीं सर्वामिति।

आभासार्थ—यों सामान्य तथा विशेष प्रकार से जलाने को कहा, जिससे यह शङ्का होती है कि इससे समग्र काशी नहीं जली अतः विशेष 'दग्ध्वा वाराणसीं' श्लोक में कह कर विषय का उपसंहार करते हैं।

श्लोक—दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णुचक्रं सुदर्शनम् ।
भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत्कृष्णस्याक्लिष्टकर्मणः ।।४२।।

श्लोकार्थ – विष्णु का सुदर्शन चक्र इस प्रकार समग्र वाराणसी को जलाकर फिर अक्लिष्टकर्मा श्रीकृष्ण के पास शीघ्र ही आ गया ।।४२।।

सुबोधिनी—विष्णुचक्रत्वात् कार्यसिद्धिः । सुदर्शनमिति । एवं कर्तुरपि दोषाभावः । पुनरग्रेऽपि कार्यं एतादृशं भविष्यतीत्याशङ्क्या कृष्णस्यैव पार्श्वमुपातिष्ठत् । ननु भगवान् स्वयमेव करिष्यति, किं सुदर्शनेनेत्याशङ्क्याह अक्लिष्टकर्मण इति । न हि भगवान् क्लिष्टं करोति, कदाचिन्न तथा कर्तव्यं भवति, तदा गतः, अनेन सुदर्शनस्यापि निरोधो निरूपितः ।।४२।।

व्याख्यार्थ—द्वारकावासियों की इच्छित कार्य-सिद्धि हो गई अर्थात् कृत्यानल तथा उसके उत्पादक सब जल कर नष्ट हो गये, यह कार्य-सिद्धि इसलिये हुई कि सुदर्शन विष्णु का चक्र है, यों कर्त्ता को भी दोष न लगा. फिर आगे भी ऐसा कार्य होगा ? इस शङ्का निवारण के लिये कहते हैं कि फिर नहीं होगा, क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्र के पास लौट आया, भगवान् स्वयं करेंगे, सुदर्शन की क्या आवश्यकता है ? भगवान् क्लिष्टकर्म नहीं करते हैं और कदाचित् वैसा कर्त्तव्य होता है, यह कार्य पूर्ण किया तब सुदर्शन भगवान् के पास गया जिससे सुदर्शन का भी निरोध निरूपण किया ।।४२।।

आभास—कदाचिदियं कथा काशीदाहं प्रतिपादयतीति स्वधर्महेतुभिः न श्रोतव्या भवेत्, तदर्थमाह य एतच्छ्रावयेन्मर्त्यं इति ।

आभासार्थ—यह कथा काशी के दाह का वर्णन करती है, जिससे अपने धर्म के हेतु वालों को अर्थात् काशी के भक्तों को यह कथा नहीं सुननी चाहिये, इस शङ्का का निवारण 'य एतच्छ्रावयेन्मर्त्यं' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—य एतच्छ्रावयेन्मर्त्य उत्तमश्लोकविक्रमम् ।
समाहितो वा शृणुयात्सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।४३।।

श्लोकार्थ—जो मनुष्य भगवान् के पराक्रम का यह चरित्र सुनाता है और जो एकाग्र हो सुनता है, वे दोनों सर्व पापों से छूट जाते हैं अर्थात् उनके सर्व पाप नष्ट हो जाते हैं ।।४३।।

सुबोधिनी - हेत्वपेक्षायामाह उत्तमश्लोकस्य विक्रममिति । उत्तमैः श्लोक्यते इति स्वभावत एव भगवच्चरित्रं श्रोतव्यम् । तत्रापि विक्रमः पराक्रमोऽयम् । यः श्रावयेत्, यो वा समाहितः शृणुयात्, अवहेलां न कुर्यात्, स सर्वपापैः प्रमुच्यत इति । भक्तैरिव धर्मपरैरपि श्रोतव्यमिति निरूपितम् ॥४३॥

व्याख्यार्थ – ये भगवान् उत्तम श्लोक हैं, जिसकी उत्तम पुरुष, भक्त, ज्ञानी सदैव प्रशंसा करते है अतः स्वभाव से ही भगवान् के चरित्र श्रवण करने योग्य हैं, जिसमें भी फिर यह चरित्र तो पराक्रम का है इसलिये जो मनुष्य यह चरित्र अन्य को सुनाता है और जो यह चरित्र एकाग्र होकर सुनता है, और जो तिरस्कार नहीं करते हैं, वे दोनों सर्व पापों से छूट जाते हैं, अर्थात् उनके पाप नष्ट हो जाते है, इससे यह निरूपण किया है कि जैसे यह चरित्र भगवद्भक्त सुनते हैं, वैसे ही, धर्म परायणों को भी सुनना चाहिये ॥४३॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ६३वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का तीसरा अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय के वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

"पौराड्रक वध"

राग बिलावल

हरि हरि हरि सुमिरो सब कोइ। हरि कें सत्रु मित्र नहिं होइ ॥
ज्यों सुमिरें त्यों ही गति होइ। हरि हरि हरि सुमिरो सब कोइ ॥
पौंड्रक अरू कासी के राइ। हरि कौं सुमिरचौ बैर सुभाइ ॥
अह निसि रहे यहे लवलाइ। क्यों करि जीतों जादवराइ ॥
द्वारावति तिनि दूत पठायौ। ताकौं ऐसौ कहि समुझायौ ॥
चारि भुजा मम आयुध चारि। बासुदेव मैं ही निरधारि ॥
यौं ही कहि जदुपति सौं जाइ। कपट तजौ कै करौ लराइ ॥
दूत आइ हरि सौं यह कह्यौ। हरि जू तिहिं यह उत्तर दयौ ॥
जो तैं कही सो सब हम जानी। पौंड्रक की आयुस नियरानी ॥
कहौ जाइ करै जुद्ध बिचार। सांच झूठ ह्वै है निरधार ॥
दूत आइ निज नृपहिं सुनायौ। तब उन मन मैं जुध ठहरायौ ॥
जहाँ तहाँ तैं सैन बुलाई। तब लगि जदुपति पहुँचे जाई ॥
पौंड्रक सुनि तब सन्मुख आयौ। पाँच छोहिनी दल सँग ल्यायौ ॥
सेना देखि सस्त्र संभारे। जदुपति के लोगनि परहारे ॥
हरि कह्यौ तू अजहूँ संभारि। सांच झूठ जिय देखि बिचारि ॥
ताकी मृत्यु आइ नियरानी। जो हरि कही सो मन नहिं आनी ॥
तब जदुपति निज चक्र संभारचौ। ताकी सेना ऊपर डारचौ ॥
सैन मारि पुनि ताकौं मारचौ। तासु तेज निज मुख मैं धारचौ ॥
ऐसे हैं त्रिभुवनपति राइ। जिनकी महिमा वेदनि गाइ ॥
कोउ भजौ काहू परकार। सूरदास सो उतरे पार ॥

"सुदक्षिण वध"

राग मारू

नृप सुदच्छिन महादेव ध्यायौ।
नाथ तुव कृपा पितु बैर लीयौ चहौं, पाइँ परि बहुरि यौं कहि सुनायौ ॥
अगिनि के कुण्ड तैं असुर परगट भयौ, द्वारिका देस ताकौं बतायौ।
आइ उन दुंद जब कियौ हरि पुरी मैं, चक्र ताकौ ह्वां तैं भगायौ ॥
हति सुदच्छिन दई जारि बारानसी, कह्यौ ते मोहिं ह्वाँ क्यों पठायौ।
सूर के प्रभु सौं बैर जिन मन धरयौ, आपुनौ कियौ तिन आपु पायौ ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६७वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६४वां अध्याय

उत्तरार्ध का १८वां अध्याय

सात्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

"४था अध्याय"

द्विविद का उद्धार

कारिका—**बलस्य चरितं वक्ष्यन् तदभावात्तु पौण्ड्रकः ।**
तथोक्तवानिति ह्युक्तं अर्थादेतद्बलस्य हि ॥१॥

कारिकार्थ—पूर्वाध्याय १७वें में जो यह चरित्र वर्णन हुआ है, वह बलरामजी का ही है; पौण्ड्रक ने जो कहा, वह बलरामजी का वहाँ न होना समझकर ही कहा; बलदेवजी के वहाँ प्रकट स्थिति के अभाव में जो कुछ चरित्र हुआ, वह वास्तव में बलरामजी का ही माहात्म्य है ॥१॥

कारिका—**बलरूपहरेः कार्यं न समाप्तमिति स्थितिः ।**
अतो विशेषतो वक्तुं प्रश्नो राज्ञो निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ--कारण कि बलाविष्ट हरि का कार्य अभी तक सम्पूर्ण नहीं हुआ है, इसलिए पूर्वाध्याय में कहा हुआ माहात्म्य भी बलाविष्ट हरि का ही है, यह मर्यादा अर्थात् स्थिति है, इस कारण से अर्थात् पूर्वाध्याय में सामान्य प्रकार से कहा, अब विशेष प्रकार से कहने के लिए राजा के प्रश्न का निरूपण किया जाता है; क्योंकि बलरामजी के कार्य की समाप्ति नहीं हुई है ।।२।।

कारिका--**अष्टादशे तु द्विविदवधः सम्यङ् निरूप्यते ।**
गोपिकानामिवात्रापि स्त्रीणां माहात्म्यबोधने ।।३।।

कारिकार्थ--यहाँ अठारहवें अध्याय में भी बलराम की स्त्रियाँ जो गोपियाँ हैं, उनकी भाँति माहात्म्य ज्ञान की सिद्धि के लिए द्विविद के वध का सम्यक् प्रकार से निरूपण किया जाता है ।।३।।

कारिका--बलस्त्रियोऽन्यथा त्वत्र निरुद्धा न भवन्ति हि ।
तदा विभागो व्यर्थः स्यान्निरोधानुपयोगतः ।।४।।

कारिकार्थ--यहाँ दूसरे प्रकार से अर्थात् आवेशी स्वरूप के बिना केवल साक्षात् भगवत्स्वरूप से बल की स्त्रियों का निरोध होना सम्भव नहीं था, यदि निरोध सिद्ध न होवे तो शक्ति का विभाग प्रथम किया हुआ है, वह व्यर्थ किया, यों सिद्ध होगा अर्थात् निरोध का न होना स्कन्ध के अर्थ से विरुद्ध होगा, यह बताने के लिए ही 'वि' उपसर्ग दिया है ।।४।।

कारिका--**ततः सर्वजनीनं च चरित्रं हि करिष्यति ।**
यस्यावेशस्य चरितमेवं तस्य किमद्भुतम् ।।५।।

कारिकार्थ--ऊपर गुप्त चरित्र कहा, उसके बाद लक्ष्मणा के प्रसङ्ग में सर्वजनीन चरित्र करेंगे, इसी तरह विशेष निरोध के प्रकरण में ४ अध्यायों से बलदेवजी के चरित्र का वर्णन किया है, जिसके आवेश स्वरूप का चरित्र ऐसा है तो आवेशी का स्वरूप कैसा अद्भुत होगा ? यह इससे ही समझा जा सकता है, कैमुतिक न्याय से यह भगवच्चरित्र ही है, यह भाव है ।।५।।

— इति कारिका समाप्त —

आभास—पूर्वाध्याये 'नन्दव्रजं गते राम' इति रामे विद्यमाने नैवं पौण्ड्रको वक्तुं शक्त इति प्रतिभातम् । अतो बलस्य विशेषं (चरित्रं) पृच्छति भूयोऽहमिति ।

आभासार्थ—पूर्वाध्याय में 'नन्दव्रजं गते रामे' से बलरामजी का व्रज में जाना कहा, जिससे द्वारका में बलरामजी विद्यमान नहीं थे अतः पौण्ड्रक यों कहने में शक्तिमान् हो सका, यों भासने से 'भूयोऽहमिति' श्लोक से बल का विशेष चरित्र पूछता है ।

श्लोक—राजोवाच-भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि रामस्याद्भुतकर्मणः ।
अनन्तस्याप्रमेयस्य यदन्यत्कृतवान् प्रभुः ॥१॥

श्लोकार्थ—राजा ने कहा कि मैं, अद्भुतकर्मा अनन्त और अप्रमेय बलरामजी ने समर्थ होने से जो अन्य चरित्र किए हैं, वे भी सुनना चाहता हूँ ॥१॥

सुबोधिनी—यमुनाकर्षणादि माहात्म्यं श्रुतम्। अन्यदपि श्रोतुमिच्छामि। अद्भुतकर्मण इति। अलौकिकचरित्रं तस्य वर्तत एव तद्वक्तव्यमिति प्रश्नः। यथा भगवतः कार्यकरणार्थं गते तस्मिन् वह्वेव कार्यं भगवत आपतितम्, तथान्यदपि भविष्यतीत्याशयेन अद्भुतकर्मत्वमुक्तम्। अनन्तस्येति। चरित्राणामप्यनन्तता, तेन तादृशचरित्रबाहुल्यम्। अप्रमेयस्येति। स्वतः कल्पयितुमशक्यम्। अत एव तादृशस्य अन्यदपि चरित्रं श्रोतुमिच्छामि। तच्च चरित्रं दैवाज्जातं न वक्तव्यम्, किन्तु समर्थो भूत्वा यत् कृतवान्, तदेव वक्तव्यमिति ॥१॥

व्याख्यार्थ—यमुना का आकर्षण आदि माहात्म्य वाले चरित्र सुने हैं, दूसरे भी सुनना चाहता हूँ, क्योंकि बलरामजी के चरित्र अद्भुत है, उनके चरित्र अलौकिक ही हैं वे कहने योग्य हैं इस कारण से राजा ने प्रश्न किया है, जैसे भगवान् के कार्य करने के लिये जाने के अनन्तर भगवान् के ऊपर बहुत कार्य आपड़े अर्थात् भगवान् को बहुत कार्य करने पड़े, वैसे दूसरे भी होंगे ? इस आशय से बलराम को अद्भुत कर्म कहा है, चरित्र एक नहीं अनन्त हैं, कारण कि आप अनन्त हैं, इसलिये उनके वैसे अद्भुत चरित्र भी बहुत हैं आप अप्रमेय हैं, जिससे उनके चरित्रों की भी कल्पना नहीं हो सकती है, अतएव वैसे बलरामजी के अन्य चरित्र सुनना चाहता हूँ और वे चरित्र दैव से हुवे न कहने चाहिये, किन्तु स्वयं समर्थ हो कर जो किये हैं वे ही कहने चाहिये ॥१॥

आभास—निरोधे स्त्रिय एव मुख्या इति तदर्थमेवान्यदिति निरूपयन् द्विविदवधमाह नरकस्य सखा कश्चिदिति ।

आभासार्थ—निरोध में स्त्रियाँ ही मुख्य है, इसलिये उनके लिये ही दूसरा चरित्र किया है यों निरूपण करते हुए द्विविद वध का चरित्र 'नरकस्य सखा कश्चित्' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-नरकस्य सखा कश्चिद्द्विविदो नाम वानरः ।
सुग्रीवसचिवः सोऽथ भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान् ॥२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि नरकासुर का मित्र कोई द्विविद नाम वाला वानर था, वह रामावतार में सुग्रीव का सचिव था और मैन्द का भ्राता था तथा शूरवीर था ॥२॥

सुबोधिनी—नरकासुरो भगवता हत इति, स्त्रीणामेवार्थ इति च, तत्सखाप्येवमेव मारणीय इति. वध्योऽपि स एतावत्कालमुपेक्षित इत्युक्तम्। कश्चिदिति विशेषतः दैत्यत्वेन वा देवत्वेन वा न निर्वक्तव्यः। द्विविद इति। द्विधा वित् ज्ञानं यस्येति द्विःस्वभावोऽयम्। तेन रामावतारे भक्तोऽप्ययं सांप्रतमन्यथा जात इति। अनेन द्वि स्वभावा अपि वध्या एवेति निरूपितम्। वानर इत्युपेक्षायां हेतुः। भगवतैवार्धनराः कृताः, पुनः किमर्थं वध्या इति। तर्हि तद्वधे रामस्य किं माहात्म्यमित्याशङ्क्य माहात्म्यमाह। अथ भिन्नप्रक्रमेण। सुग्रीवसचिवः। चत्वारो मन्त्रिणस्तस्य हनुमदादयः, तन्मध्ये परिगणनात् तत्तुल्यतापि निरूपिता। स इति। स्वभावतोऽपि रामायणे प्रसिद्धः। मैन्दस्य भ्रातेति रामायणे मैन्दशौर्यं निरूपितम्। तद्भ्रातापि तत्तुल्य इति। ततोऽपि विशेषमाह वीर्यवानिति ॥२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने नरकासुर को मारा वह भी स्त्रियों के लिये ही, उसका मित्र भी उसी तरह मरना चाहिये, वह मारने योग्य होते हुए भी इतने समय तक उसकी उपेक्षा की, यों कहा 'कश्चित्' पद कहा, स्पष्ट नही कहा कि दैत्य था वा देव था, जिसका नाम 'द्विविद' कहा जिससे यह जताया है कि उसका स्वभाव दो प्रकार का था क्योंकि उसको दो प्रकार का ज्ञान था, इसी कारण से रामावतार मे भक्त होने पर भी इस जन्म में अभक्त हो गया, इससे यह बताया कि जो दो स्वभाव वाले हों वे मारने योग्य ही है। इतना समय उपेक्षा करने का कारण उसका वानर पन था, भगवान् ने ही उनको आधा मनुष्य बना दिया है तो फिर वे किस लिये मारने योग्य है ? उसका यदि वध किया जावे तो फिर रामचन्द्र का क्या माहात्म्य रहेगा ? यों उनके न मारने से राम का माहात्म्य बताया है, अब दूसरे प्रकार से कहते हैं, सुग्रीव के हनुमान् आदि ४ सचिव थे जिनमें एक द्विविद भी था जिससे इसकी उनसे समानता बताई, स्वभाव से भी रामायण में प्रसिद्ध है मैन्द का भ्राता था, रामायण मे मैन्द की शूरवीरता निरूपण की गई है, उसका भ्राता भी उसके समान है उससे भी विशेष होने से 'वीर्यवान' विशेषण दिया है। २॥

आभास—तर्ह्येतादृशो महान् प्रसिद्धश्च कथं विरुद्धो जात इति चेत्, तत्राह सख्युः सोऽपचितिमिति।

आभासार्थ—यदि कहो, कि ऐसा महान् और प्रसिद्ध विरुद्ध कैसे हो गया ? इसका उत्तर 'सख्युः सोऽपचिति'श्लोक में देते हैं।

श्लोक—सख्युः सोऽपचितिं कुर्वन् वानरो राष्ट्रविप्लवम्।
पुरग्रामाकरान् घोषानदहद्वह्निमुत्सृजन् ॥३॥

श्लोकार्थ – वह बन्दर अपने मित्र का बदला लेने के लिए राष्ट्र में उत्पात करने लगा, जैसे कि पुर, गाँव, खान, घोष इनको जला देता था ॥३॥

सुबोधिनी—नरको भगवता मारित इति अपचितिं कुर्वन् क्षुद्रः केनापि न प्रतिपक्षतया विचार्यत इति राष्ट्रविप्लवं कृतवान्। यथा सर्वमेव राष्ट्रं नष्टं भवति। नाशमेवाह पुरग्रामेति। राष्ट्रविप्लवो यथा भवति, तथेति सर्वक्रियासु सम्बध्यते। पुराणि नगराणि। ग्रामा अल्पाः। आकरा रत्नादिस्थानानि। घोषा आभीरग्रामाः। लौकिकास्त्रिविधा निरुक्ताः। वैदिकातिदोषसिद्ध्यर्थं घोषा उक्ताः। वह्निना वह्निदाहेन। अनेन चौर्येण दाहो निरूपितः। अन्यथा वह्निपदं व्यर्थं स्यात् ॥३॥

व्याख्यार्थ – नरक को भगवान् ने मारा था वह द्विविद का मित्र था इसलिये उसका बदला लेने लगा, क्षुद्र (नीच) बदला लेते समय यह विचार नहीं करता है, कि किस प्रकार बदला लेना चाहिये, जैसा मैं बदला लेता हूँ वह योग्य है कि नहीं। तुच्छ होने से, इसका कुछ भी ध्यान नहीं करता है, शत्रु होने से जैसा भी भावे वैसा अयोग्य रीति से बदला लेने लगता है, अतः यह द्विविद भी तुच्छ होने से, राष्ट्र का विनाश करने लगा। किस प्रकार किया ? जिसका वर्णन करते है, बड़े नगर, छोटे ग्राम, रत्न आदि की खान, गोपालों के ग्राम, जहाँ गोधन आदि रहता है। तीन प्रकार के लौकिक कहे, घोष जो कहे उससे वैदिक दोष की सिद्धि बताई। इन सब को छुप कर आग लगादी, नहीं तो वह्नि पद व्यर्थ हो जाता ॥३।

आभास —अग्निना उपद्रवमुक्त्वा पर्वतैराह क्वचित्स शैलानुत्पाट्येति।

आभासार्थ – वह्नि से किये हुए उपद्रव का वर्णन कर, अब क्वचित्स शैलानुत्पाट्य श्लोक से पर्वतादि से किये हुए उपद्रवों का वर्णन करते है।

श्लोक—क्वचित्स शैलानुत्पाट्य तर्देशस्थानचूर्णयत्।
आनर्तान्सुतरामेव यत्रास्तेऽमित्रहा हरिः ॥४॥

श्लोकार्थ— कहीं बड़े पर्वतों को उखाड़ कर देशों में स्थित मनुष्यादि को चूर्ण-२ कर देता था, आनर्त (देश) में तो विशेष उपद्रव करता; क्योंकि इसके मित्र का हन्ता हरि यहाँ विराजते हैं ॥४॥

सुबोधिनी—स्थानादुत्पाट्य देशोपरि पातयित्वा देशस्थानचूर्णयदिति। सुतरामेव भगवदीयानित्याह आनर्तान् सुतरामेवेति। तत्र हेतुः। यत्रास्ते नरकघाती गोविन्दः ॥४॥

व्याख्यार्थ—पर्वतों को स्थान से उखाड़ कर देश के ऊपर फेंक देशस्थों को चूर्ण कर देता था, अधिकतर तो भगवदीय अर्थात् जो आनर्त देश में रहते थे, (उनको) कारण कि, आनर्त देश में इसके मित्र नरकासुर का हन्ता हरि का निवास है ॥४॥

आभास—जलकृतोपद्रवमाह क्वचित्समुद्रमध्यस्थ इति ।

आभासार्थ—'क्वचित् समुद्र मध्यस्थ' श्लोक जल से किये हुए उपद्रवों को कहते हैं ।

श्लोक—क्वचित्समुद्रमध्यस्थो दोर्भ्यामुद्धृत्य तज्जलम् ।
देशान्नागायुतप्राणो वेलाकूलानमज्जयत् ॥५॥

श्लोकार्थ—कभी समुद्र के बीच में जाकर दोनों हाथों से उसके जल को उछाल-उछाल कर तीर पर स्थित देशों को डूबा देता, यों इसलिए कर सकता था; क्योंकि इसमें दस हजार हस्तियों का बल था ॥५॥

सुबोधिनी—दोर्भ्यामुद्धृत्येति बाह्वोः स्थूलता निरूपिता । देशान् समुद्रतीरस्थान् । आपाततः केनापि मारयितुं न शक्य इति वक्तुं नागायुतप्राण इत्युक्तम् । दशसहस्रहस्तिबलः । वेलाकूले यस्येति मज्जने सौकर्यमुपपत्तिश्चोक्ता ॥५॥

व्याख्यार्थ 'दोर्भ्यामुद्धृत्य' इससे भुजाओं की स्थूलता दिखाई है, 'देशान्' पद से समुद्र के किनारे पर स्थित देशों को कहा है 'नागायुतप्राणः' पद से दश हजार हस्तियों के समान बल वाला था जिससे कोई भी उसको मार नहीं सकता, किनारे पर स्थित कहने से डुबाने में सरलता कही है ।५।

आभास—साधारणानामुपद्रवमुक्त्वा वैदिकानामप्युपद्रवमाह आश्रमानृषिमुख्यानामिति ।

आभासार्थ—साधारणों का उपद्रव कहकर 'आश्रमान्' श्लोक से वैदिकों का भी उपद्रव कहते हैं ।

श्लोक—आश्रमानृषिमुख्यानां कृत्वा भग्नवनस्पतीन् ।
अदूषयच्छकृन्मूत्रैरग्नीन् वैतानिकान् खलः ॥६॥

श्लोकार्थ—ये खल, इतने उपद्रवों से तृप्त न हुआ, फिर मुख्य ऋषियों के आश्रमों के वृक्ष, वनस्पतियों को तोड़ डालता और आश्रम में जाकर विष्टा, मूत्र आदि से उनकी यज्ञ सामग्री तथा अग्नि को अपवित्र करता ॥६॥

सुबोधिनी—तेषां पूर्तस्येष्टस्य च नाशं करोतीति वक्तुं भग्नवनस्पतीन् कृत्वा वैतानिकान् वैदिकान् अग्नीन् गार्हपत्यादीन् अदूषयत् । नन्वेवं कृते स्वस्य कः पुरुषार्थः, न हि ब्राह्मणा नरकस्यान्यस्य वा द्विष्टा भवन्ति, तत्राह खल इति । दुरात्मायम् । अतो निष्प्रयोजनमपि परोपतापार्थं करोतीति ॥६॥

व्याख्यार्थ—ऋषियों के यज्ञ का नाश करता था. जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि वनस्पति को तोड़ता था, गार्हपत्य जो वैदिक अग्नि को मुत्रादि से अपवित्र करता था. यों करने से उसका कौनसा पुरुषार्थ सिद्ध होता था ? कारण कि ब्राह्मण तो नरक वा दूसरे किसी के शत्रु नहीं होते हैं ? फिर इसने ऐसों को क्यों कष्ट दिया ? जिसके उत्तर में कहते है 'खल' दुष्ट अन्तःकरणवाला था, इसलिये विना प्रयोजन भी दूसरों को दुःख देने के लिये यों करता है ॥६॥

आभास—देशोपद्रवं पृथिव्यप्तेजोभिरुक्त्वा, वैदिकान् देशस्थानपि निरूप्य, अन्यान् स्त्रीपुरुषसाधारण्येन तदुपद्रुतान् निरूपयति पुरुषान्योषितो दृप्त इति ।

आभासार्थ—पृथ्वी, जल और तेजों से किये हुए देश के उपद्रवों को और देशस्थ वैदिकों से किये हुए उपद्रवों को कह कर, अब स्त्री पुरुषादि अन्य साधारणों को जो दुःख दिये, उनका वर्णन 'पुरुषान् योषितो दृप्तः' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—पुरुषान् योषितो दृप्तः क्ष्माभृद्द्रोणीगुहासु सः ।
निक्षिप्य चाप्यधाच्छैलैः पेशस्कारीव कीटकम् ॥७॥

श्लोकार्थ—वह अभिमानी वानर फिर स्त्री और पुरुषों को पर्वतों की गुफा और दरारों में डालकर बड़ी-२ शिलाओं से वैसे बन्द कर देता, जैसे मकड़ी कीड़े को घर में डालकर रोक रखती है ॥७॥

सुबोधिनी—सहस्थितान् तत्सङ्गभङ्गार्थं रसं च बीभत्सयितुम् । दृप्त उच्छृङ्खलः । क्ष्माभृतः पर्वतस्य द्रोणीगुहासु द्रोण्यां उभयपर्वतमध्ये गुहासु च 'अत्र रमध्व'मिति उपहसन्निक्षिप्य अप्यधात् । शैलैस्तदुपरि पर्वतान् आरोपयति । तथाकरणे हेतुमाह पेशस्कारीव कीटकमिति । स हि स्वस्मरणेन स्वतुल्यः कीटो भवत्विति तथा करोति, तथायमपि विश्वस्यैव मदात्मकता भवतु, न भगवदात्मकतेति तथा कृतवान् ॥७॥

व्याख्यार्थ—वह उच्छृङ्खल मनमानी करने वाला (उद्दंड) साथ में रहने वाले स्त्री पुरुषों के सङ्ग का भङ्ग करने के लिये तथा रस में विघ्न डालने के लिये, एवं उनको डराने के लिये, पर्वत के गुफाओं में और दरारों में फेंक कर कहता था, कि अब यहां रमण करो यों हंसी करता हुआ शिलाओं से बंद कर देता, यों करने का कारण बताते है कि जैसे मकड़ी कीड़े को अपने जैसा बनाने के लिये बंद करती है, वैसे इसने भी सारे विश्व को अपने समान बनाने के लिये यों किया है । यों न समझा कि विश्व भगवदात्मक स्वरूप है, वह मदात्मक कैसे होगा ? क्यों न समझा ? जिसका हेतु है कि उच्छृङ्खल था इसलिये 'दृप्त' विशेषण दिया है ।७॥

आभास—एवं सह्यमुपद्रवं निरूप्य, तदुपसंहरन् असह्यं निरूपयति एवं देशान्विप्रकुर्वन्निति ।

आभासार्थ—इस प्रकार कहने योग्य उपद्रव कह कर उनका उपसंहार करते हुए 'एवं देशान्' श्लोक से असह्य उपद्रवों का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**एवं देशान् विप्रकुर्वन् दूषयंश्च कुलस्त्रियः।**
श्रुत्वा सुललितं गीतं गिरिं रैवतकं ययौ ॥८॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार देशों में उपद्रव करता हुआ और कुल-स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करता हुआ, सुन्दर गीत सुनकर रैवतक पर्वत पर गया ॥८॥

सुबोधिनी--असह्यमेतत् दूषयंश्चेति। इतरदूषणं न दोषायेति कुलपदम्। अनेन नरकगृहाद्भगवता समानीतास्ता इति तथा करोतीति सूचितम्। एवमुत्कृष्टे पापे तेनैव मरणार्थं स्वयमेव समुद्यत इत्याह श्रुत्वा सुललितं गीतमिति। यथा सर्वे विषयास्तेन निराकृताः सर्वेषाम्, तथा सुललितमपि गीतम्। मयि स्थिते को वा गायतीति तन्निराकरणार्थं रैवतकं ययौ। तेनैव गीतानुमानात् ॥८॥

व्याख्यार्थ—उसका कुल की स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करने वाला कार्य असह्य था, सामान्य स्त्रियों को दूषित करे तो इतना दोष नहीं. किन्तु ये स्त्रियाँ कुल की थीं, जिनको यह दूषित करता था, उन स्त्रियों को भगवान् नरक के गृह से लाये थे, इसलिये यों करता है, यह सूचन किया है। इस प्रकार कार्य करने से इसके पाप बढ़ गये अर्थात् पाप का घड़ा पूर्ण भर गया जिससे स्वयं ही मरने के लिये उद्यत होने लगा। उस समय इसने सुन्दर गीत सुना यद्यपि पशु होने से गाने के स्वर आदि का ज्ञान न था, तो भी सुन्दरता के कारण प्रत्येक मन का आकर्षक होने से गीत कहा है, जैसे इसने सर्व के सर्व विषयों का निराकरण किया है वैसे इस सुललित गीत का भी निराकरण करने के लिये रैवतक पर गया क्योंकि मेरे उपस्थित होते हुए अन्य कौन है ? जो गान कर रहा है, अतः इसका निराकरण करना ही चाहिये, यों निश्चय कर पर्वत पर गया ॥८॥

आभास—ततो गीतकर्तारं दृष्टवानित्याह तत्रापश्यदिति।

आभासार्थ—वहाँ जाकर गानेवाले को देखा, जिसका वर्णन 'तत्रापश्यद्यदुपति' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**तत्रापश्यद्यदुपतिं रामं पुष्करमालिनम्।**
सुदर्शनीयसर्वाङ्गं ललनायूथमध्यगम् ॥९॥

श्लोकार्थ—वहाँ तो कमलों की मालावाले, सुन्दर अङ्गवाले स्त्रियों के यूथ के मध्य में स्थित यदुपति राम को इसने देखा ॥९॥

सुबोधिनी तस्य मात्सर्योत्पत्त्यर्थं रामस्य दशगुणान्वर्णयति। एतावन्त एव गुणा इति। तत्रादावैश्वर्यं दृष्टवानित्याह यदुपतिमिति। यादवानां स्वामी। स्वामिचिह्नानि बिभर्तीति। तथा

ज्ञानं परिचयोऽप्यस्तीति वा। अनेन कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यमुक्तम्। इदं लौकिकम्। अलौकिकमाह राममिति। विभक्तवीर्यत्वात्। सर्वलोकानुरञ्जनमपि तस्यासाधारणो गुणः। स्वरूपतः कार्यतश्चोत्कर्ष उक्तः। पुष्करमालिनमिति। कमलमालया लक्ष्म्या वृत इति ज्ञापयन् भूषितत्वमाह इत्यैश्वर्यादयस्त्रय उक्ताः। सुष्ठु दर्शनीयानि सर्वाण्यङ्गानि यस्येति। सौन्दर्येण शारीरकीर्तिरुक्ता। ललनायूथमध्यगमिति। बहिः कीर्तिरुक्ता। शोभाजनितेयं कीर्तिरिति ॥९॥

व्याख्यार्थ—उनको मात्सर्य उत्पन्न हो जिसके लिये श्री बलरामजी के दश गुणों का वर्णन करते हैं इतने ही गुण है, उनमें प्रथम ऐश्वर्य गुण को देखा, वह कहते हैं कि यादवों के स्वामी है, स्वामी के चिन्ह धारण किये हुवे थे जिनसे ज्ञान हुवा तथा परिचय भी है ही, इससे कर्तुं अकर्तुं और अन्यथा कर्तुं, सामर्थ्य इनमें है यों कहा, यह लौकिक है, अब अलौकिक गुण कहते है 'राम' राम है, वीर्य के विभक्त होने से, सर्व लोकों को रमण से प्रसन्न करना इनका असाधारण गुण है, जिससे स्वरूप और कार्य से उत्कर्ष कहा, कमलों की माला से आवृत थे, जिससे अलङ्कृतत्व दिखाया, इस प्रकार ऐश्वर्य आदि तीन गुण कहे, जिनके सर्व अङ्ग देखने योग्य है, इस सौन्दर्य से शरीर की कीर्ति कही 'स्त्रियों' के यूथ के मध्य में स्थित कहने से बाहिर की कीर्ति बताई (जो) यहां की शोभा से उत्पन्न हुई है ॥९॥

श्लोक—गायन्तं वारुणीं पीत्वा मदविह्वललोचनम्।
विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—वारुणी मदिरा पीकर गान करते, मद से घूर्णित नेत्रवाले, मद झरते हुए हाथी के समान श्रीअङ्ग से शोभते हुए बलरामजी को देखा ॥१०॥

सुबोधिनी - गायन्तमिति। स्वानन्दपूर्णता ज्ञानफलरूपा निरूपिता। वारुणीं पीत्वेति। देहविस्मरणं ज्ञानफलं द्विविधमप्युक्तम्। मदेन विह्वले लोचने यस्येति बहिर्ज्ञानदृष्टिः। विह्वला वैराग्यफलरूपा निरूपिता। विभ्राजमानं वपुषेति। विगतभ्राजनं वा विशिष्टभ्राजनं वा विकलतया उभयमपि वैराग्यकार्यं भवति। शरीरेण विराजमानम्। ततो वैराग्यस्वरूपमाह प्रभिन्नमिव वारणमिति। स ह्यमर्यादो भवति, यः प्रकर्षेण भिन्नः स्रवन्मदः। एवं कारणफलसहिताः षड्गुणा भगवति निरूपिताः ॥१०॥

व्याख्यार्थ—'गायन्त' विशेषण से ज्ञान की फल रूप स्वानन्द की पूर्णता दिखाई 'वारुणी पीत्वा' वारुणी पीकर गा रहे थे, इससे ज्ञान का फल जो देह की विस्मृति है, यह दिखाया, इसी प्रकार दो प्रकार का ज्ञान फल कहा, मद से लोचन विह्वल हो रहे थे, वैराग्य की फलरूप बाहर की ज्ञान दृष्टि निरूपण की है। विभ्राजमानं वपुषा' इस पद से शरीर से पूर्ण शोभायमान कह कर यह बताया है कि दोनो वैराग्य के कार्य है, पश्चात् वैराग्य का स्वरूप वर्णन करते है 'प्रभिन्नमिव-वारणम्' वह हस्ति जिसका मद जल स्रव रहा है अमर्यादित होता है, इसी भांति आप भी अमर्यादित थे, ऐसे बलरामजी में कारण फल सहित छः गुण निरूपण किये ॥१०॥

आभास—एतादृशमपि दृष्ट्वा स्वदौष्ट्यं प्रकटितवानित्याह दुष्टः शाखामृग इति ।

आभासार्थ—ऐसे बलरामजी को देख कर भी अपनी दुष्टता प्रकट करने लगा जिसका वर्णन 'दुष्टः शाखामृगः' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—दुष्टः शाखामृगः शाखामारूढः कम्पयन् द्रुमान् ।
चक्रे किलकिलाशब्दमात्मानं सम्प्रदर्शयन् ॥११॥

श्लोकार्थ—दुष्ट वानर शाखा पर चढ़कर वृक्षों को कम्पाने लगा और अपना गुप्त अङ्ग दिखाता हुआ किलकिला ध्वनि करने लगा ॥११॥

सुबोधिनी—भगवन्तं दृष्ट्वा किलकिलाशब्दं चक्रे । तज्जातीयशब्दः तादृशः । यदा स्वस्मिन्महत्वबुद्धिर्भवति,तदा स्वजातिशब्द कुर्वन्ति । प्रकृते तु भगवन्तमपि दृष्ट्वा तथाकरणे हेतुर्दुष्ट इति । दोषस्तस्य सहज इति ख्यापयितुं शाखामृग इति । भूमि भूरुहं वा नाश्रयति, किन्तु शाखा एव । शाखां चारूढ इति स्वल्पः स्वस्थाने स्थितो मत्तो भवतीति सूचितम् । द्रुमान् कम्पयन्निति । स्वाश्रयाश्रयाणामप्यवगणना निरूपिता । तादृशस्येश्वरावगणना युक्तेति । निलीय रसजननार्थमपि तथा कुर्यादिति पक्षं व्यावर्तयितुमाह आत्मानं सम्प्रदर्शयन्निति । स्वस्वरूपं गुह्यदेशं वा ॥११॥

व्याख्यार्थ—भगवान् राम को देख कर किल किला शब्द करने लगा यह किल किला शब्द उसकी जातीय ध्वनि है जब अपने को वे महान् समझते हैं तब इस प्रकार ध्वनि करते है, प्रकृत विषय में तो भगवान् को भी देख कर वैसे ही करने का कारण इसकी दुष्टता है, इसलिये इसको 'दुष्ट.' दुष्ट विशेषण दिया है, यह इसका स्वाभाविक दोष है इसलिये इसको शाखा मृग कहा हैं, पृथ्वी वा वृक्ष का आश्रय नहीं करता है. किन्तु शाखा का आश्रय लेता है, इसलिये शाखा पर बैठा, क्योंकि तुच्छ, छोटे स्थान पर स्थित होकर भी मदवाला हो जाता है, यों कहने से यह सूचन किया है, पेड़ों को कम्पाने लगा, इससे यह सूचित् किया है कि दुष्ट जो होते हैं अपने आश्रय देने वालों को भी जो आश्रय देते है उनका भी तिरस्कार करते हैं अर्थात् उनकी भी अवगणना करते हैं-ऐसे को ईश्वर की अवगणना करना योग्य ही है, अर्थात् उसने अपनी योग्यतानुसार कार्य किया हैं, छिप कर रस पैदा करने के लिये भी वैसा करे वा करना चाहिये इस पक्ष को बदलने के लिये कहते हैं 'आत्मानं सम्प्रदर्शयन्' अपना स्वरूप अथवा गुह्य (गुप्त) भाग दिखाता हुआ यों करने लगा ॥११॥

आभास—अल्पस्यैवंकरणमयुक्तमिति भण्डमिव तं दृष्ट्वा केवलेन तेन क्षोभो न भवेदपीति स्त्रीणां हास्यमाह तस्य धाष्टर्यं कपेर्वीक्ष्येति ।

आभासार्थ—तुच्छ जीव को यों करना योग्य नहीं है, उसको भण्ड समझ कर केवल इस कार्य से श्री राम को क्षोभ न भी होवे, इसलिये स्त्रियों से हास्य करने लगा, जिससे राम को क्षोभ होवे जिसका वर्णन 'तस्य धाष्टर्य श्लोक में करते हैं।

श्लोक—तस्य धाष्टर्यं कपेर्वीक्ष्य तरुण्यो जातिचापलाः ।
हास्यप्रिया विजहसुर्बलदेवपरिग्रहाः ॥१२॥

श्लोकार्थ—स्वभाव से चपल वे तरुण स्त्रियाँ उस कपि की धृष्टता देखकर हँसने लगीं; क्योंकि उनको हास्य प्रिय था एवं बलरामजी की स्वीकृत स्त्रियाँ थीं ॥१२॥

सुबोधिनी—तस्यापराधकरणाद्वध्यस्य । कपेस्तुच्छजीवस्य । धाष्टर्यं तथाकरणम् । वीक्ष्य । तरुण्यो जात्यैव चपलाः, वयोऽपि स्वभावोऽपि तासामस्थिरतां सम्पादयतीति । हास्यमेव प्रियं यासामिति इन्द्रियान्तःकरणधर्मोऽपि तादृश इति। बलदेवस्य निर्भयस्य पूर्वोक्तस्य वा परिग्रहाः विवाहिताः स्त्रियः सर्वथा निर्भयाः । अनियामकानां चतुर्विधगुणानां विद्यमानत्वात् विजहसुः । रामस्तु न किञ्चिदुक्तवान्, गणनाया एवाभावात्। ॥१२॥

व्याख्यार्थ—अपराध करने से, वधार्ह उस तुच्छ जीव कपि का यों करना देख कर, तरुण स्त्रियां जो जाति से ही चञ्चल होती हैं, और उनका वय तथा स्वभाव भी अस्थिरता पैदा करता है, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण का धर्म भी उनका वैसा ही हैं. जिससे उनको हास्य ही प्रिय है और वे निर्भय अथवा पूर्वोक्त बलदेवजी की विवाहित स्त्रियां होने से, सर्व प्रकार से निर्भय थीं, नियम को उल्लङ्घन करनेवाले चार प्रकार के गुण उनमें विद्यमान थे, जिससे वे अच्छी तरह हँसने लगीं, श्री राम ने तो कुछ भी नहीं कहा क्योंकि वानर के इस कार्य को ध्यान के योग्य न समझ उपेक्षा करदी ॥१२॥

आभास—उभयमपि स्वस्य हीनत्वापादकमिति तासामवगणनां कृतवानित्याह ता हेलयामासेति ।

आभासार्थ—स्त्रियों का यों करना एवं अपने कार्य की श्री बलदेव ने उपेक्षा की ये दोनों अपनी हीनता के द्योतक हैं, यों समझ उन स्त्रियों की अवगणना करने लगा, जिसका वर्णन 'ता हेलयामास' श्लोक में करते है ।

श्लोक—ता हेलयामास कपिर्भ्रूक्षेपैः सम्मुखादिभिः ।
दर्शयन् स्वगुदं तासां रामस्य च निरीक्षतः ॥१३॥

श्लोक—वह वानर श्रीराम के देखते हुए उन स्त्रियों को अपनी गुदा दिखाकर भौंह चढ़ाने और सन्मुख आने आदि क्रियाओं से उनका अपमान करने लगा ॥१३॥

सुबोधिनी—अवहेला मुखतः जातिचेष्टाभिरपीत्याह । भ्रूक्षेपैः तिर्यक् निरीक्षणयुक्तैः । सम्यक् मुखं यत्रेति सम्मुखादिभिर्विकारैः । परितोऽग्रतश्च हेलनमुक्त्वा पृष्ठतोऽप्याह दर्शयन्स्वगुदं तासामिति । तूष्णींभावेनावगणित इति रामस्याप्यवहेलनं कृतवानित्याह रामस्य च निरीक्षत

इति । निरीक्षतः सतस्तासामपि निरीक्षतीनां सतीनाम् । दर्शने सर्वेषां साधारणस्यापि सङ्कोचो भवति । अस्य तु तथात्वेऽपि न जातमिति दोषं वक्तुं वर्णितम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ - उन स्त्रियों का तिरस्कार वा अपमान मुख से तथा जाति की चेष्टा से करने लगा, जैसे कि भौंह चढ़ाने से सन्मुख आकर विकृत चेष्टाओं से, इस प्रकार का सन्मुख अपमान कह कर, अब पीठ से भी करने लगे वह कहते है कि उनको अपनी गुदा दिखाने लगा, जिससे राम का भी मानो तिरस्कार किया क्योंकि यह सब चेष्टाएँ राम देख रहे थे और वे भी इस प्रकार की अयोग्य चेष्टाएँ देख रही थी, ऐसी चेष्टाओं के देखने से साधारण जीव को भी सङ्कोच (लज्जा, हिचक) होता है, इसको तो यों करने में किसी प्रकार हिचक न आई इसलिये इसका अपराध दिखाने के लिये ऐसी क्रिया का वर्णन किया । १३॥

आभास--ततो विचारमकृत्वैव अल्पदोषे अल्पैव शिक्षेति वा ज्ञापयितुं पाषाण-प्रक्षेपमात्र कृतवानित्याह तं ग्राव्णेति ।

आभासार्थ—श्री राम विचार करने के बिना अपने अल्प अपराध के लिये अल्प ही शिक्षा देनी चाहिये, इसलिये वानर पर पाषाण फेंकने लगे, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते है ।

श्लोक— तं ग्राव्णा प्राहरत्क्रुद्धो बलः प्रहरतां वरः ।
स वञ्चयित्वा ग्रावाणं मदिराकलशं कपिः ॥१४॥
गृहीत्वा हेलयामास धूर्तस्तं कोपयन् हसन् ।
निर्भिद्य कलशं धृष्टो वासांस्यास्फोटयद्बलम् ॥१५॥

श्लोकार्थ--प्रहार करनेवालों में उत्तम क्रुद्ध बलरामजी ने उस पर पाषाण से प्रहार किया, वह धूर्त वानर अपने को पत्थर प्रहार से बचाकर श्रीराम का मदिरा का कलश ले गया और यों करने से बलराम का अपमान कर यों हँसने लगा, जैसे बलरामजी को क्रोध उत्पन्न हो, फिर उस कलश को तोड़ डाला और स्त्रियों के वस्त्र फाड़ने लगा एवं बलदेवजी के सामने मल्लों के समान भुजाओं पर थपेड़ करता हुआ लड़ने के लिए उनको बुलाने लगा ॥१४-१५॥

सुबोधिनी— वानराः कृतोपकारा दयाविषया-श्चेति उपेक्षां परित्यज्य किमिति ग्राव्णा प्राहरत्, तत्राह क्रुद्ध इति । क्रोधे तस्याल्पस्य महदतिकर्म हेतु । अनावेशात् हलमुशलस्मरणात्पूर्वं सर्वं कृतवान् । तेन नाविचारकृतो दोषः । बल इति । तस्य माहात्म्यं ज्ञात्वापि स्वस्य बलिष्ठत्वादेव तथा कृतवान् । काकादिष्विव केवलं निवारणार्थतां प्रहरणस्य निवारयति प्रहरतां वर इति । ततस्तेनैव व्यथितो भवेदिति तथा प्रकार कृतवान् स तु पूर्वं परमेश्वरस्य भक्त आसीदिति भगवत्कृपयैव तस्य जातं सामर्थ्यमनुवदति स वञ्चयित्वेति । तस्माद्धतस्य स्वत एव मरणार्थं

प्रवृत्तस्य अपराधे असह्ये क्रोधान्मारणमिति वक्तुं तादृशमतिक्रममाह ग्रावाणं वञ्चयित्वा मदिराकलशं गृहीत्वा हेलयामासेति । यतो धूर्तः । पानव्यसनिनां तदपहारे महान् क्रोधो भवतीति जानाति । अपकारार्थं नेदं करणम्. किन्तु कोपयन् । केवलं कोपार्थताप्रदर्शनार्थं हसन् । तर्हि पानार्थं नयन भविष्यतीत्याशङ्क्य अग्रे तत्कृत चरित्रमाह निर्भिद्येते । कलशं निर्भिद्य । तथा कृते जीवनमपि गमिष्यतीति शङ्काभावाय ह । ततः स्थापितानि जलक्रीडोत्तर परिधेयानि स्त्रीणां बलस्य च वासांसि च निर्भिद्य, बहुधा छित्वा. ततो बलमास्फोटयत् । मल्ल इव युद्धाकारणार्थं बाहुस्फोट कृतवान् ॥१४॥१५॥

व्याख्यार्थ—वानरों ने तो राम का बहुत उपकार किया है और जाति से दया के पात्र हैं इस लिये उनके दोषों की तो उपेक्षा करनी चाहिये. वह न कर, उस पर पाषाण से प्रहार करने लगे, इस पर कहते हैं, कि उसके इस प्रकार के अयोग्य काय देख क्रोध में आ गये छोटा होकर बड़े का अपमान करना ही क्रोध होने का कारण है. उस समय आवेश न होने से हल मुसल को स्मरण करने से प्रथम यह सर्व किया, जिससे बिना विचार से किये हुए कार्य का दोष नहीं, क्योंकि स्वयं बलदेव हैं, उसका माहात्म्य जान कर भी आपने उससे बलिष्ठ होने से ही यों किया, जैसे काकों को भगाने के लिये केवल पाषाण फेंकना ही अल (काफी) है वैसे आप प्रहार करनेवालों में श्रेष्ठ होने से पाषाण प्रहार ही किया, यह इसलिये भी किया कि इससे ही थकित हो जाय तो अच्छा है विशेष दण्ड न देना पड़े । वह तो पहले भगवान् का भक्त था, इसलिये भगवत्कृपा से उसमें उत्पन्न सामर्थ्य का वर्णन करते हैं, वह उस सामर्थ्य से उद्गत हो गया था, जिससे मरण के लिये ही वह ऐसे दूषित कार्य करने मे प्रवृत्त हुवा है जिससे वह ऐसा अपराध करने लगा जो असह्य हो । उससे उत्पन्न क्रोध से मार डाले, यह कहने के लिये उसके ऐसे कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं-कि पाषण के प्रहार से अपने का बचा कर श्रीबलदेवजी के मदिरा का कलश लेकर उनका उपहास करने लगा क्योंकि धूर्त है, जो मदिरा पान करते है, वे मदिरा को चुराने वाले पर बहुत क्रोध करते हैं इस बात को वह धूर्त जानता है अपने अपकार के लिये यों नहीं किया, किन्तु क्रोधित करने के लिये अर्थात् चिढ़ाने के लिये यों किया है, बलरामजी क्रोध प्रदर्शित करे इसलिये ही हँसने लगा. तो मदिरा पीने के लिये वह कलश लिया होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, वह घड़ा तो फोड़ दिया जिससे मदिरा बह गई, यों करने से जीवन भी जायगा ? इस शङ्का के मिटाने के लिये कहते है कि ऐसा विचार उस वानर को नहीं आया जिससे वह अन्य अपराध करने लगा । बलराम और स्त्रियों ने जल क्रीड़ा के अनन्तर पहनने के लिये जो वस्त्र रखे थे वे उठा कर फाड़ डाले, पश्चात् मल्लों के समान भुजाओं पर थपकी करता हुआ बलरामजी को युद्ध के लिये आह्वान करने लगा ॥१४-१५॥

आभास—नन्वल्पः कथमेवं करोतीत्याशङ्क्याह बलवानिति ।

आभासार्थ—अल्प होकर इस प्रकार कैसे करता है ? इस शङ्का की निवृत्ति बलवान् कह कर करते है ।

श्लोक—कदर्थीकृत्य बलवान् विप्रचक्रे मदोद्धतः ।
तं तस्याविनयं दृष्ट्वा देशांश्च तदुपद्रुतान् ॥१६॥

श्लोकार्थ—वह वानर अपने को बलवान् समझकर मद से उद्धत हो गया, जिससे बलदेवजी का अपमान करने लगा उसका यह अविनय (घमंड) देख और देशों में किये उपद्रवों का भी स्मरण कर विचार किया ॥१६॥

सुबोधिनी—ननु बलोऽपि बलवान्, नहि तुल्येऽप्येवं क्रियते, तत्राह कदर्थीकृत्येति । तुच्छीकृत्य । तदपि स्वमनस्येवेति वक्तुमाह मदोद्धत इति । विप्रचक्रे अपकार कृतवान् । ततो बलः विचारपूर्वकं भगवदाविष्टः तद्वधार्थं यत्नं कृतवानित्याह तं तस्याविनयमिति । वस्तुतस्त्विदं द्वारमात्रम्, मुख्यस्तु अपराधः तदुपद्रुतान् देशान् विलोक्येति । यद्यपि पूर्वं दृष्टम्, तथापीदानीं स्मृतमित्येके । इदानीमेव भगवदावेश इति । तस्य चापरोक्षज्ञानमेव सर्वत्रेति इदानीमेव दृष्ट्वेति युक्तम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ— यदि यह बलवान् है तो बलदेवजी भी तो बलवान हैं, अतः समान बल वालो में भी इस प्रकार अवहेलना नहीं की जाती है, इस पर कहते हैं कि वह वानर मद से उद्गत हो गया था जिससे अन्तःकरण में बलदेवजी को मन में ही तुच्छ समझ, अपमान करने लगा, यों होने के अनन्तर बलराम भगवान् से आविष्ट हो विचारपूर्वक उसके वध के लिये प्रयत्न करने लगे. उसकी अनम्रता देखी, किन्तु यह अपराध तो द्वार मात्र है, मुख्य अपराध तो वह है, जो इसने देशों में उपद्रव किये थे, 'ये देश द्रोह तो पहले हो देखे थे अब तो स्मरण हो आये यों कोई कहते हैं' इस काल में ही बलराम मे भगवदावेश हुआ है, उनको तो सर्वत्र अपरोक्ष ज्ञान है ही, इसलिये 'इदानीमेव दृष्टवा' कहना उचित ही है ॥१६॥

आभास—भगवता सहैव मुसलादीनामप्यागमनात् मुसलं हलं च तज्जिघांसया आधत्त । आयुधवच्चिह्नार्थमग्रहणमाह क्रुद्ध इति ।

आभासार्थ—भगवान् के आवेश होने के साथ ही मुसल आदि भी आ गये, इसके मारने की इच्छा से उनको धारण किया । आयुध की तरह चिन्ह के लिये ये धारण नहीं किये, जिसका वर्णन 'क्रुद्धो मुसलमाधत्त' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**क्रुद्धो मुसलमाधत्त हलं चारिजिघांसया ।**
द्विविदोऽपि महावीर्यः शालमुत्पाट्य पाणिना ॥१७॥

श्लोकार्थ—क्रोधित श्री बलरामजी ने शत्रु को मारने की इच्छा से मुसल और हलको धारण किया, द्विविद ने भी एक हस्त से शाल वृक्ष को उखाड़ कर यह दिखाया कि मैं भी महान् पराक्रमी हूं और लड़ने के लिये उसको ले लिया ॥१७॥

सुबोधिनी—भक्तत्वशङ्काव्यावृत्त्यर्थमरीति । चकारात् अन्येऽपि धर्मा भगवता आविष्कृता इति अलौकिकं बलमपि ज्ञातव्यम् । तावतापि न निवृत्त इति अक्लिष्टकर्मत्वं भगवतो वदन्नाह

द्विविदोऽपीति । युद्धं वक्तुं तस्य प्रसिद्धनामग्रहणम् । महावीर्यं इति । रामायणादौ तत्पराक्रमो निरूपितः स्मार्यते, युद्धस्मरणाभिनिवेशाय । एकेन पाणिना शालवृक्षमुत्पाट्येति बलस्य कार्यम्. न तु केवलं प्रशंसापरमिति ज्ञापयितुम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'अरि' शब्द देकर यह सूचित किया है कि द्विविद इस समय भक्त नहीं है किन्तु शत्रु है, 'च' पद से यह बताया है कि भगवान् ने अपने अन्य धर्म भी प्रकट किये हैं इसलिये अलौकिक बल भी है यों समझना चाहिये, इतने से भी वह निवृत्त न हुआ, इस प्रकार भगवान् का अक्लिष्ट कर्मत्व बताते हुए कहते हैं कि 'द्विविदोऽपि' द्विविद भी बली है, उसको युद्ध करना है, इसलिये उसका प्रसिद्ध नाम कहा है, रामायण आदि में उसके पराक्रम कहे गये हैं उनका स्मरण कराने के लिये 'महावीर्यः' विशेषण दिया है, अर्थात् यह महान् पराक्रमी बलवान् है, युद्ध का स्मरण हो आने से यों कहा है-एक हस्त से शाल वृक्ष को उखाडना बल का कार्य है, यह कहना वास्तविक है न कि प्रशंसा के लिये है ॥१७॥

श्लोक—अभ्येत्य तरसा तेन बलं मूर्धन्यताडयत् ।
तं तु सङ्कर्षणो मूर्ध्नि पतन्तमचलो यथा ॥१८॥

श्लोकार्थ—उस द्विविद ने शीघ्र निकट आकर वह वृक्ष बलरामजी के मस्तक पर पटका, मस्तक पर पटके हुए वृक्ष को बलदेवजी ने यों समझा जैसे पर्वत पर वृक्ष गिरा ॥१८॥

सुबोधिनी—अभ्येत्य निकटे समागत्य, तरसा रामोद्यमात्पूर्वमेव तेन शालेन मूर्ध्नि प्रदेशे अताडयत्, गृहीत्वैव लकुटेनेव ताडितवान् । बलपदाच्छ्रोतुर्भयाभावः सूचितः । ततस्तन्निराकरणमाह तं तु सङ्कर्षण इति । पर्वते वृक्षप्रक्षेपः न पर्वतस्य भयजनक इति । मूर्ध्नि पतन्तमपि वृक्षं यथा अचलः पर्वतो गृह्णाति ॥१८॥

व्याख्यार्थ—पास आकर राम के उद्यम करने से प्रथम ही उस शाल से बलदेवजी के मस्तक पर चोट की, शाल को लकड़ी की तरह लेकर प्रहार किया, राम का नाम बल इसलिये दिया है कि श्रोता को भय न हो, पश्चात् उसके निराकरण के लिये कहा कि 'तं तु सङ्कर्षण' उस प्रहार को बलदेवजी ने यों समझा जैसे पर्वत पर वृक्ष गिरे तो पर्वत को किसी प्रकार भय पैदा नहीं करता है वैसे सङ्कर्षण को भी इससे कुछ भी भय न हुआ ॥१८ ।

श्लोक— प्रतिजग्राह बलवान् सुनन्देनाहनच्च तम् ।
मुसलाहतमस्तिष्को विरेजे रक्तधारया ॥१९॥

श्लोकार्थ—द्विविद के इस वृक्ष को बलदेवजी ने हाथ से पकड़ लिया, और अपने सुनन्द नामक मुसल से उस पर प्रहार किया, जिससे उसके मस्तक की अस्थि भी टूट गई इसलिये रक्त की धारा से वह सुशोभित हो गया ॥१९॥

सुबोधिनी - तस्य हि वृक्षा लोमप्रायाः तं हस्तेन गृहीतवान्, वञ्चनेऽपि भूमिस्ताडिता भवतीति । ततः सुनन्देन मुसलेन समाहनत् हतवान् । चकारात् वृक्षमपि तेनैव हत्वा तदुपरि प्रक्षिप्तवान् । तस्य वृक्ष इव मुसलमपि कार्यव्यभिचारि भविष्यतीत्याशङ्क्याह मुसलाहतमस्तिष्क इति । मस्तिष्कं मस्तकास्थि । ततो रुधिरप्रवाहोऽपि जातः । तेनापि विरेजे, न तु मूच्छितः, हतो वा ॥१६॥

व्याख्यार्थ - उसके वृक्ष प्रायः रोवांवाले थे, उनको बलरामजी ने हाथ से थाम लिया, यदि न थामते तो भूमि ताडित होती, भूमि भी ताड़ित न हो इसलिये थामना ही उचित था, पश्चात् सुनन्द मुसल से उसको पीटा, 'च' शब्द का आशय है कि वृक्ष को भी तोड़कर उस पर फेंका, उसके वृक्ष की तरह मुसल भी कार्य व्यभिचारी होगा ? यह शङ्का मिटाने के लिये कहते हैं कि मुसल ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया जिससे वह कार्य व्यभिचारी नहीं, जैसे की द्विविद के मस्तिष्क की अस्थि तोड़ डाली, उस से रुधिर की धारा भी बहने लगी, उस धारा से वह द्विविद शोभा पाने लगा, न मूर्छित् हुआ और न मरा ॥१६॥

आभास—ननु प्रहारेण सकार्येण कथं शोभेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह गिरिर्यथा गैरिकयेति

आभासार्थ—जिस प्रहार ने अस्थि प्रहार कर रक्त धारा बहायी उससे शोभा कैसे ? जिसके उत्तर में 'गिरिर्यथा गैरिकया' श्लोक मे दृष्टान्त देकर समझाते है ।

श्लोक—गिरिर्यथा गैरिकया प्रहारं नानुचिन्तयन् ।
पुनरन्यं समुत्क्षिप्य कृत्वा निष्पत्रमोजसा ॥२०॥

श्लोकार्थ—जैसे पर्वत गेरु की धारा से शोभा देता है वैसे यह भी शोभित हुआ, कपि ने प्रहार पर ध्यान न देकर दूसरा शाल का वृक्ष उखेड़, पराक्रम से उसके पत्ते तोड़ डाले ॥२०॥

सुबोधिनी—नन्वाकृतिसाम्येऽपि अन्तर्दुःखानुभवात् म्लानतैव युक्ता, न तु शोभेति चेत्, तत्राह प्रहारं नानुचिन्तयन् रेज इति पूर्वेण सम्बन्धः । उत्तरत्र वा पुनरन्यं समुत्क्षिप्येति । 'त्रिपत्या देवा' इति समानमपि युद्धं वारत्रयमुच्यते । त्रियंजुषेतिवत् । अन्य मूलात्समुत्क्षिप्य निष्पत्रं च कृत्वा, अन्यथा सर्वाः शाखा अग्रभागे हस्ते धर्तुं न योग्या भवन्तीति मूलभागेन च ताडयितुं निष्पत्रकरणम् । ओजसेति शीघ्रम् । ॥२०॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि पर्वत और मस्तक की साम्यता से शोभा कही जा सकती है तो भी अन्तःकरण में दुःख के अनुभव से म्लानता ही कहना उचित था, न कि शोभा, यदि यों कहते हो तो इसका यह उत्तर है, कि वानर ने प्रहार पर कुछ भी ध्यान न दिया जिससे उसको अन्तःकरण में दुःख का

अनुभव हुवा ही नहीं, इसलिये कहा कि 'रेजे' शोभावान् हुआ, पश्चात् फिर दूसरा वृक्ष मूल से उखाड़कर उसके पत्तों को तोड़ कर हाथ में ले लिया, यदि पत्र न तोड़ता तो सर्व शाखाओं को हस्त में ले नहीं सकता, वृक्ष को शाखाओं से पकड़ने का आशय यह था कि मूल भाग से प्रहार करना था, वह प्रहार भी शीघ्र किया, 'त्रिषत्या देवाः' के अनुसार, समान भी युद्ध तीन वार कहा जाता है ।२०।

श्लोक—तेनाहनत् सुसंक्रुद्धस्तं बलः शतधाभिनत् ।
ततोऽन्येन रुषा जघ्ने तं चापि शतधाभिनत् ॥२१॥

श्लोकार्थ—वानर ने वृक्ष की जड़ से बलदेव पर प्रहार किया जिससे बलराम बहुत क्रोधित हो गये अतः उसके सैंकड़ों टुकड़े किये, पश्चात् उस वानर ने क्रोध में आकर दूसरे पेड़ से उनको मारा, बलदेवजी ने उसके भी सैंकड़ों टुकड़े बना दिये ।२१।

सुबोधिनी—सुतरां सम्यक् क्रुद्ध । प्रहार-वीर्ययोराविर्भूतत्वात्तस्य प्रतिग्रहो न पौरुषायेति दलस्तं शतधाभिनत् विदीर्णं कृतवान् । तृतीय-पर्याये पुनराह ततोऽन्येनेति ॥२१॥

व्याख्यार्थ - विशेष क्रुद्ध हुए, यह क्रोध, प्रहार तथा वीर्य दोनों से आविर्भूत होने के कारण से उसका प्रतिग्रह पौरुष के लिये नही था इसलिये बलरामजी ने उसके सैंकड़ों टुकड़े किये, तीसरी वार भी क्रोध से दूसरे पेड़ से मारने लगा, उसके भी सैंकड़ों खण्ड बनाये ॥२१॥

आभास—ततोऽनन्तयुद्धमतिदिशति एवं युध्यन्निति ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर 'एवं युध्यन्' श्लोक से अनन्त युद्ध कहते है ।

श्लोक—एवं युध्यन् भगवता भग्ने भग्ने पुनः पुनः ।
आकृष्य सर्वतो वृक्षान्निर्वृक्षमकरोद्वनम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार लड़ते हुए भगवान् फिर फिर पेड़ तोड़ देते थे, जिससे उस वानर ने चारों ओर से वृक्षों को उखाड़ सम्पूर्ण वन पेड़ों से शून्य कर दिया ॥२२॥

सुबोधिनी—भगवता सह युध्यन् भगवतैव वृक्षे भग्ने क्रमेण सर्वेष्वेव वृक्षेषु पुनः पुनराकृष्य इक्षुदण्डमिव मूलादुत्पाट्य सर्वत्र एवकरणेन वनं वनभूमि निर्वृक्षमकरोत् । लतागुल्मादीनां विद्यमानत्वात् वृक्षमात्रमेव गतम्, न तु वनमेव ।२२।

व्याख्यार्थ - भगवान् से लड़ना था, इससे भगवान् ने ही क्रम से वृक्ष तोड़ डाले, जिससे उस वानर ने ईख के समान बार बार वृक्षों को जड़ से उखाड़ दिये, सब जगह यों करने से वन भूमि को वृक्ष रहित कर छोड़ा, लता गुल्म आदि के विद्यमान होने से वन तो रहा किन्तु पेड़ एक भी नही रहा ॥२२॥

आभास—ततः पाषाणवृष्टिं भग्नोद्यमः सन् कृतवानित्याह ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षमिति।

आभासार्थ—यों उद्यम के निष्फल होने पर पाषाण वृष्टि करने लगा, जिसका वर्णन 'ततोऽमुञ्चत्' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षं बलस्योपर्यमर्षितः।
तत्सर्वं चूर्णयामास लीलया मुसलायुधः ॥२३॥

श्लोकार्थ—पश्चात् वह बलराम पर चट्टानों की वर्षा करने लगा, मुसलायुधधारी बलरामजी ने उन सब चट्टानों को खेल से चूर्ण कर दिया ॥२२॥

सुबोधिनी—तत् प्रक्षिप्तं सर्वमेव चूर्णयामासेति तस्य साधनस्य भगवत्प्रतिकूलस्य पुनः साधनतां निवारयति। तत्र क्लेशमाशङ्क्याह लीलयेति। अलौकिकप्रकारं वारयितुमाह मुसलायुध इति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—वे फेंकी हुई सब चट्टानें चूर्ण कर दी, भगवत्प्रतिकूल उस साधन की, साधनता ही न रही, उनको साधन हीन बनाने में क्लेश तो हुआ होगा? जिसके उत्तर में कहते है कि 'लीलया' खेल से, अर्थात् जैसे खेल किया जाता है उसमें क्लेश नहीं होता है, वैसे ही चूर्ण करने में भी आपको क्लेश नहीं हुआ, तो, क्या अलौकिक प्रकार से यों किया? तो कहते हैं कि नहीं, 'मुसलायुध.' मुसल आयुध धारण किया था, जिससे यह खेल खेला है ॥२३॥

आभास—ततो भग्नसाधनो बाहुयुद्धार्थमागत इत्याह स बाहू इति।

आभासार्थ—अनन्तर जब सब साधन निष्फल हो गये तब भुजाओं से युद्ध करने के लिये आया, जिसका वर्णन 'स बाहू' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—स बाहू तालसाङ्काशौ मुष्टीकृत्य कपीश्वरः।
आसाद्य रोहिणीपुत्रं ताभ्यां वक्षस्यरूरुजत् ॥२४॥

श्लोकार्थ—उस कपिराज ने ताल वृक्ष के समान अपने भुजाओं के हस्तों को मुट्ठी बान्ध बलदेवजी के समीप आकर उनसे उनके वक्षःस्थल पर प्रहार किया ॥२४॥

सुबोधिनी—तालसङ्काशाविति दीर्घस्थौल्यपरुषत्वान्युक्तानि। मुद्गरवन्मुष्टीकरणम्। तथोद्यमे मोहितत्वं शङ्कितं व्यावर्तयितुमाह कपीश्वर इति। मारणपर्यन्तं तूष्णीं स्थित इति रोहिणीपुत्रमित्युक्तम्। ताभ्यां हस्ताभ्यां मिलिताभ्यां वक्षसि अरूरुजत्। पीडां कारितवान् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—ताल के समान भुजा कहने का आशय यह है कि उसके सदृश भुजाएँ स्थूल, दीर्घ और कठोर थी, मुद्गर की तरह मुट्ठी बांधी, उद्यम करने में,उसको कुछ भी श्रम न हुआ, क्योंकि वानरों का राजा है, मारने तक (बलदेवजी) शान्त रहे, इसलिये रोहिणी पुत्र कहा है, बान्धे हुए मुक्के से छाती पर प्रहार किया, जिससे उनको पीडा होवे ।।२४।।

आभास—ततः स्वयमपि, अशस्त्रेण सह सशस्त्रो न युध्येदिति, स्वयममि त्यक्त्वा मुसललाङ्गल दोर्भ्यां जत्रावभ्यर्दयत्,तया सामर्थ्ये धर्मज्ञाने च लौकिकमेव साधनमित्याह **यादवेन्द्र** इति ।

आभासार्थ—बलदेवजी को धर्म का ज्ञान है, इसलिये वे जानते थे कि जिसके पास शस्त्र न हो उससे शस्त्र वाले को शस्त्र से नहीं लड़ना चाहिये, वानर के पास शस्त्र नहीं था इसलिये आपने भी मुसल और हल त्याग दिये, सामर्थ्य होने पर विना शस्त्र लड़ने लगे, जिसका वर्णन 'यादवेन्द्रोऽपि' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां त्यक्त्वा मुसललाङ्गले ।
जत्रावभ्यर्दयत्क्रुद्धः सोऽपतद्रुधिरं वमन् ।।२५।।

श्लोकार्थ—बलरामजी ने भी हल मुसल त्याग, क्रोधकर, दोनों हाथों से हँसलियों को तोड़ डाला, जिससे वह रक्त उगलते हुए गिर पड़ा ।।२५।।

सुबोधिनी—यतः पूर्वमपि स रामभक्त इति तया करणम् । जत्रुः कण्ठाधःस्थितमस्थि । तस्मिन्भग्ने म्रियत एवेति । अतो रुधिरं वमन् पतितः ।।२५।।

व्याख्यार्थ – क्योंकि पहले भी वह राम भक्त था यों करना पड़ा, 'जत्रु' कण्ठ के नीचे स्थित अस्थि (हँसली को कहते हैं उसके टूटने पर प्राणी मरता ही है, अतः रुधिर उगलता हुआ गिर पड़ा ।।२५।।

आभास—तस्य पराक्रममुक्त्वा देहस्यापि महत्त्वमाह **चकम्प** इति ।

आभासार्थ—उसके पराक्रम को कह कर उसके देह का भी महत्व 'चकम्पे' श्लोक में कहते हैं ।

**श्लोक—चकम्पे तेन पतता सटङ्कः सवनस्पतिः ।
पर्वतः कुरुशार्दूल वायुना नौरिवाम्भसि ।।२६।।**

श्लोकार्थ—हे कुरुशार्दूल ! वह गिरने लगा, तब जैसे जल में वायु से नाव काम्पती है, वैसे ही शिखर और वनस्पतियों के साथ पर्वत काम्पने लगा ।।२६।।

सुबोधिनी—सटङ्कः प्रसिद्धः पर्वतः वनस्पतिभिः। सम्यक् परिज्ञानार्थमेतदुक्तम् सर्वतश्चकम्पे। टङ्कशब्देन उपरितनो भागः वल्भीसदृशः शिखरपर्यायः। तत्सहितः पर्वत एव भवति। स पर्वत इति पाठस्तु सुगमः। विश्वासार्थं सम्बोधनम्। अधिकदोलनार्थं दृष्टान्तः। तत्रत्यानां भयोत्पादनार्थं वा। तेन तस्मिन् पतिते सर्वाः स्त्रियो रामभालिङ्गितवत्य इति कामरसेन मध्ये न विघ्नः, किन्तु तत्पोषक एव जात इति फलति। ॥२६॥

व्याख्यार्थ—वनस्पति सहित वह प्रसिद्ध पर्वत, उसका पूर्ण परिज्ञान हो, इसलिये यों कहा है, चारों तरफ काम्पने लगा टङ्क शब्द ऊपर का भाग शिखरादि समझना, शिखरादि होने पर ही पर्वत कहा जाता है, 'स पर्वत' यह पाठ तो सरल है. 'कुरुशार्दूल' यह सम्बोधन विश्वास के लिये दिया है, जैसे जल मे वायु से नौका काम्पती है यह दृष्टान्त, वहां स्थिति करने वालों को भय उत्पादन करने के लिये दिया है अथवा पर्वत बहुत काम्पने लगा इसलिये दिया है उसके गिरने से जब पर्वत काम्पने लगा, तब डर कर सब स्त्रियों ने राम का आलिङ्गन किया. यों करने से काम रस से मध्य में विघ्न न पड़ा, किन्तु वह भय रस का पोषक ही हुआ यो फलितार्थ निकला ॥२६॥

आभास— भक्तत्वादल्पत्वाच्च कदाचिदयुक्तो भवेदिति देवानां सम्मतिमाह जयशब्द इति ।

आभासार्थ - भक्त होने से तथा अल्प होने से कदाचित् यह कार्य अनुचित हो, तो दिखाते हैं कि अनुचित नहीं है, क्योंकि देवताओं की इस कार्य मे सम्मति है, वह 'जयशब्दो' श्लोक से स्पष्ट वर्णन करते है ।

श्लोक—जयशब्दो नमःशब्दः साधु साध्विति चाम्बरे ।
सुरसिद्धमुनीन्द्राणामासीत्कुसुमवर्षिणाम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—उस समय आकाश में देवता, सिद्ध और मुनि श्रेष्ठ जय शब्द, नमः शब्द और साधु साधु शब्द करने लगे और उन्होंने पुष्प बरसाये ॥२७॥

सुबोधिनी—उत्कृष्टानां जयशब्दः, मध्यमानां नमःशब्दः, शिष्टः साधुशब्द इति त्रिविधानामपि सम्मतिरुक्ता। पूर्वं जयशब्दः आशीरूपः, पश्चान्मारणार्थं प्रार्थनारूपो नमःशब्दः, साधु साध्विति मारणानन्तरम्। द्वितीयस्यान्यथावचने ततः पात एव भवेदिति सूचितम्। सुरसिद्धमुनीन्द्राणामिति त्रिविधानामपि तथात्वम्। कुसुमवर्षिणामिति। कायिको व्यापारः। एवं सर्वात्मना देवानामनुमोदनमुक्तम् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—बलदेवजी के द्विविद को मारने में देव आदि सर्व की सम्मति है जिससे उत्कृष्टों ने जय शब्द का उच्चारण किया. मध्यमों ने नमः शब्द कहा शेष साधु साधु कहने लगे प्रथम जो जय शब्द कहा वह आशीर्वादरूप है, अर्थात् देवता आदि ने आशीर्वाद दी है, अनन्तर जो नमः शब्द कहा उसने वानर को मारने के लिये बलदेवजी को प्रार्थना की है और मरने के बाद साधु साधु शब्द

बधाई एवं हर्ष का द्योतक है, 'ग्राकाश' में यदि ग्रसत्य बोलें तो पात हो जाय देव, सिद्ध ग्रौर मुनि-वर तीनों का भी वैसा ही है, तीनों ने ही कुसुम बरसाये, यह उनका कायिक[1] व्यापार था, इस तरह सब प्रकार से देवों ने ग्रनुमोदन किया, यह कहा है ।।२७।।

ग्राभास—भूमिष्ठानामप्याह एवं निहत्य द्विविदमिति ।

ग्राभासार्थ—भूमि पर स्थितों का भी ग्रनुमोदन एवं निहत्य' श्लोक से कहते हैं

श्लोक—एवं निहत्य द्विविदं जगद्वचतिकरावहम् ।
संस्तूयमानो भगवान् जनैः स्वपुरमाविशत् ।।२८।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब लोक नाश करने वाले द्विविद को मार कर ग्रपनी पुरी की तरफ ग्राते थे तब जनता ने ग्रापके यश का गान किया, उसको सुनते हुए पुरी में प्रवेश किया ।।२८।।

सुबोधिनी—हनने हेतुर्जगतो व्यतिकरं नाशमावहतीति । ग्रत एव जनैः संस्तूयमानः । एतावत्त्वोपपत्तिर्भगवानिति । पूर्वं तस्य प्रत्यापत्तिरनुक्तेति । मध्ये भगवतः कार्यं पतितम् । ग्रग्रेऽपि तथा पतिष्यतीत्याशङ्कच तस्य द्वारकाप्रवेश उच्यते स्वपुरमाविशदिति ।।२८।।

व्याख्यार्थ-द्विविद के मारने का कारण दिखाते है कि जगत् को पीड़ा करने वाला तथा नाशकर्ता था इस कारण से जनता ने स्तुति की है, इतना ऐसा कार्य करने में उपपत्ति यह है कि 'भगवान्' हैं प्रथम उसकी प्रत्यापत्ति नहीं कही है, मध्य में भगवान् का कार्य ग्राके पड़ा, ग्रागे भी पड़ेगा, यह शङ्का कर, उसकी निवृत्ति के लिये कहा है कि ग्रापने ग्रपनी पुरी द्वारका में प्रवेश किया ।।२८।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे सप्तदशोध्यायः ।।१८।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ६४वें ग्रध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय
ग्रवान्तर प्रकरण का चौथा ग्रध्याय हिन्दी
ग्रनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

१—शरीर से यह कार्य हुग्रा, ऊपर जय शब्द ग्रादि वाणी का व्यापार है ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

"द्विविद वध"

राग मारू —

द्विविद करि क्रोध हरिपुरी आयौ ।
नृप सुदच्छिन जरचौ, जरी बारानसी,
धाइ धावन जबै कहि सुनायौ ।
द्वारिका माहिँ उतपात बहु भाँति करि,
बहुरि रैवत अचल गयौ धाई ॥
तहाँ हूँ देखि बलराम की सभा कौँ,
करन लाग्यौ निडर ह्वै ढिठाई ॥
लख्यौ बलराम यह सुभट बलवंत कोउ,
हल मुसल सस्त्र अपनौ सँभारचौ ।
द्विविद लै साल कौ वृच्छ सनमुख भयौ,
फुरति करि राम तन पटकि मारचौ ॥
राम हल मारि सो वृच्छ चुरकुट कियौ,
द्विविद सिर फूटि गयौ लागत ताकैं ।
बहुरि तरु तोरि पाषान फेंकन लग्यौ,
बल मुसल करत परहार वाकैं ॥
वृच्छ पाषान कौ नास जब ह्वाँ भयौ,
मुष्टिका जुद्ध दोऊ प्रचारी ॥
राम मुष्टिक लगैं गिरचौ सो धरनि पर,
निकसि गए प्रान सुधि बुधि बिसारी ॥
सुरनि आकास तैं पुहुप बरषा करी,
करि नमस्कार जै जै उचारे ।
देवता गए सब आपनें लोक कौँ,
सूर प्रभु राम निज पुर सिधारे ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६८वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६५वां अध्याय

उत्तरार्ध १९वां अध्याय

सात्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

"पञ्चम अध्याय"

कौरवों पर बलरामजी का कोप और साम्ब का विवाह

कारिका—अत्यलौकिकमाश्चर्यचरित्रमधुनोच्यते ।
एकोनविंशे रामस्य सर्वलोकातिशायिनः ॥१॥

कारिकार्थ—अब इस उन्नीसवें अध्याय में सर्व लोकातीत श्रीराम का अति अलौकिक और आश्चर्य उत्पन्न करने वाला चरित्र कहा जाता है ॥१॥

कारिका—एवं रामस्य कृष्णस्य त्रितयं त्रितयं द्वयोः ।
चरित्रमीरितं च स्यात् षड्गुणानां विभागकृत् ॥२॥

कारिकार्थ—इस प्रकार राम और कृष्ण दोनों के षड्गुणों के विभाग करने वाले तीन-तीन प्रकार के चरित्र कहे हुए हैं ॥२॥

कारिका—धर्मः सिद्धो भगवति कामः सिद्धस्तथापरे ।
अद्वितीयहरित्वं तु कृष्णे सिद्धं फलत्वतः ॥३॥

कारिकार्थ—भगवान्[1] में धर्म सिद्ध है, जैसे अन्य[2] में काम सिद्ध है, फलत्व से अद्वितीय हरित्व तो कृष्ण में सिद्ध है ॥३॥

कारिका—जगद्दोषनिवृत्तिस्तु रामे सिद्धा हि साधने ।
अलौकिकं साधनस्थं रामे कृष्णे फलं तथा ॥४॥

कारिकार्थ—साधन द्वारा जगत् के दोष की निवृत्ति राम में ही सिद्ध है, जैसे साधन में स्थित अलौकिकत्व राम में है, वैसे कृष्ण में अलौकिक फल स्थित है ॥४॥

कारिका—अत्रावान्तरभेदानां धर्मिणः पृथगीरिताः ।
विभागज्ञापनार्थाय यथैवं विनिरूप्यते ॥५॥

कारिकार्थ—यहाँ अवान्तर भेदों के विभागों को समझाने के लिए जैसे धर्मी पृथक् कहे हैं, वैसा विशेष प्रकार निरूपण किया जाता है ॥५॥

कारिका—यमुनायां पर्वते च कृतं पूर्वं निरूपितम् ।
गङ्गायामपि यत्कार्यं तदत्र स्फुटमुच्यते ॥६॥

कारिकार्थ—यमुनाजी और पर्वत पर जो किया, वह पहले निरूपण किया है, गङ्गा पर जो कार्य किया है, वह अब स्पष्ट कहा जाता है ॥६॥

कारिका—लक्ष्मणोद्वहने बद्धः साम्बो रामेण मोचितः ।
निगृहीता विपक्षाश्च तदत्र विनिरूप्यते ॥७॥

कारिकार्थ—लक्ष्मणा को ले आने पर साम्ब का जो बन्धन हुआ, उससे उसको राम ने छुड़ाया और शत्रुओं को पकड़ा, वह चरित्र यहाँ वर्णन किया जाता है ॥७॥

—: इति कारिका सम्पूर्ण :—

१—बलराम में,   २—श्रीकृष्ण में

आभास—पूर्वाध्याये दुष्टनिवारणलक्षणं चरित्रमुक्त्वा शिष्टशिक्षणरूपं चरित्रमाह। तत्र साम्बाहृतलक्ष्मणा प्रसङ्गभूता निरूप्यते **दुर्योधनसुतामिति**।

आभासार्थ - पूर्व अध्याय में दुष्टों का निवारण किया, ऐसे चरित्र को कहा, अब शिष्टों को शिक्षा दी है वह चरित्र कहते हैं उस प्रसङ्ग में साम्ब ने जो लक्ष्मणा का हरण किया जिसका निरूपण 'दुर्योधन सुतां' श्लोक में करते हैं

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**दुर्योधनसुतां राजन्लक्ष्मणां समितिंजयः।**
स्वयंवरस्थामहरत्साम्बो जाम्बवतीसुतः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन्! युद्ध में विजय पाने वाले जाम्बवती के पुत्र साम्ब ने स्वयंवर में स्थित दुर्योधन की कन्या लक्ष्मणा का हरण किया ॥१॥

सुबोधिनी—राजन्निति राजकन्यायाः स्वयंवर एव धर्म इति ज्ञापयति। लक्षणैर्विशिष्टेति लक्ष्मणा। सर्वत्र भगवदीयाः स्वयंवरे गच्छन्ति, तत्र सकामामकामां वा बल विचार्याविचार्य वा हरन्ति। तथायमपि अविचार्यैव स्वयंवरस्थाने तूष्णीं स्थितामहरत्। समितिंजय इति तस्य धाष्टर्ये हेतुः। जाम्बवतीसुत इत्यविचारे ॥१॥

व्याख्यार्थ—राजन्! इस सम्बोधन से यह सूचित किया कि राजकन्या का स्वयवर ही धर्म है, अतः उत्तम लक्षणों से युक्त होने से लक्ष्मणा नाम वाली दुर्योधन की कन्या भी स्वयवर स्थान पर आकर मौन हो के स्थित थी, सब स्थानों पर जो भगवदीय क्षत्रिय है वे स्वयंवर में जाते हैं, वहां जाकर चाहने वाली अथवा न चाहने वाली को, अथवा बल और अबल का विचार किये बिना उसका हरण करते है, वैसे इस साम्ब ने भी बिना विचार के ही स्वयंवर स्थान में जो लक्ष्मणा चुप खड़ी थी उसका हरण किया, इस धृष्टता का कारण यह है कि सेना को जीतने वाला है, किन्तु विचार क्यों नहीं किया? इस पर कहते हैं कि जाम्बवती ऋक्ष की पुत्री थी जिसका यह पुत्र है ऋच्छ जाति अविचारी होती है ॥ १ ॥

आभास—एवं हरणे निमित्ते जाते **कौरवाणां** भगवन्मार्गोल्लङ्घनजातं अपराधं निरूपयति **कौरवाः कुपिता ऊचुरिति** त्रिभिः।

आभासार्थ—साम्ब ने लक्ष्मणा का हरण किया, इस निमित्त से कौरवों ने भगवन्मार्ग उल्लङ्घन-रूप अपराध किया है, जिस का निरूपण 'कौरवाः कुपिता' से तीन श्लोकों में करते है—

श्लोक—**कौरवाः कुपिता ऊचुर्दुर्विनीतोऽयमर्भकः।**
कदर्थीकृत्य नः कन्यामकामामहरद्बलात् ॥२॥

श्लोकार्थ—कौरव कुपित होकर कहने लगे कि यह बालक बहुत अविनीत है, हमको ध्यान में भी न लाकर बलपूर्वक उस कन्या का हरण कर गया है, जो इसको नहीं चाहती है ॥२॥

सुबोधिनी - पाण्डवा अपि कौरवाः, तथापि ते न तत्र तिष्ठन्ति यद्यपि भीष्मादयः भगवद्भक्ताः, तथापि मर्यादास्थिता इति शास्त्रव्यतिरेकेण भगवदीयानपि न मन्यन्ते । वरणानन्तरमेव कन्या तदीया भवतीति बलाद्धरणं सम्भाव्य कुपिता जाताः । कौरवा महान्तः कुलकर्मभ्यां श्रेष्ठाः । ऊचुः स्वगोष्ठ्यामेव । दुर्विनीतोऽयमर्भक इति । महतो बालकस्य विनयोऽपेक्ष्यते, तदत्र नास्तीति बन्धनेऽपि न दोष इति । अथवा । कैश्चिदुक्तं दुर्विनीतोऽयमिति, कैश्चिदर्भक इति । दोषाभावार्थमनेन हृतापि न दुष्यतीत्यपि सूचितम् । नहि बालकस्पृष्टा दुष्यति । ननु को दोषः, कुतो निवार्यत इति चेत्, तत्र दोषमाह कदर्थीकृत्येति । अस्मान् तिरस्कृत्य, क्षत्रियाणां मानं हृत्वा, नोऽस्माकं कन्या कुलीनानाम् । अनेन ऋक्षनप्ता न कुलीन इति सूचितम् । किञ्च । कन्याप्यकामा । वरणं दूरे, इच्छापि तस्या नास्ति । नन्ववश्यं केनचिन्नेया, देयैव च कन्या, तत्राह बलादिति । क्षत्रियाभासेभ्य एव बलिष्ठैर्नीयते बलात् ॥२॥

व्याख्यार्थ—पाण्डव भी कौरव है किन्तु वे वहाँ नहीं थे, यद्यपि भीष्म आदि भगवद्भक्त हैं, तो भी मर्यादा में स्थित हैं, इसलिये बिना शास्त्र मर्यादा के भगवदीयों को भी नहीं मानते हैं स्वीकार करने के बाद ही कन्या उसकी होती है, इस कारण बलात् हरण देख कर वे भी क्रोध में आ गये। कौरव महान् पुरुष है, कुल तथा कर्म दोनों से श्रेष्ठ हैं, अपनी ही भाषा में बोलने लगे, कि यह बालक अविनीत है। महान् बालक में विनय चाहिये, वह नम्रता इसमें नहीं है, इसलिये इसको बान्धने में दोष नहीं है, अथवा कोई इसको दुर्विनीत कहने लगे तो कोई कहने लगे कि यह बालक है। यों कहने से, यह सूचित किया, कि बालक होने से, इसने लक्ष्मणा का हरण किया है, इसलिये वह दूषित नहीं हुई, क्योंकि बालक के स्पर्श से दूषण नहीं लगता है, इसमें कौनसा दोष है। क्यों लौटाया जाता है ? यदि यों कहते हो, तो इस पर दूसरे कहते हैं, कि वह बालक के स्पर्श से दूषित न भी है किन्तु हमारा तिरस्कार कर अर्थात् क्षत्रियों का मान भङ्ग कर हम कुलीनों की कन्या एक अकुलीन ऋच्छ की कन्या का पुत्र ले जा रहा है, यह बड़ा दोष इसने किया है, और फिर वह कन्या जिसकी इच्छा भी नहीं, वरण तो दूर की बात है। कन्या तो देने के ही योग्य है कोई तो ले जायगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'बलात्' (जबरदस्ती से) ले जाना बलिष्ठ होकर क्षत्रियाभासों से ही बल से कन्या हरण कर सकते हैं, यह अकुलीन होने से सर्वथा दोष-पात्र है अतः इसको बान्धना चाहिये जिसका स्पष्ट वर्णन निम्न श्लोक में करते है—

आभास—तर्ह्येवं सति किं कर्तव्यम्, तत्राहुः बध्नीतेमं दुर्विनीतमिति ।

आभासार्थ - तो इस प्रकार होने पर क्या करना चाहिये ? जिसका उत्तर 'बध्नीतेमं' श्लोक मे कहते है –

श्लोक—बध्नीतेमं दुर्विनीतं किं करिष्यन्ति वृष्णयः ।
येऽस्मत्प्रसादोपचितां दत्तां नो भुञ्जते महीम् ।।३।।

श्लोकार्थ—इस दुर्विनीत को बाँधो, वे यादव क्या करेंगे, जो यादव कृपा कर दी हुई हम लोगों की पृथ्वी से अपना पोषण करते हैं ?

सुबोधिनी—दुर्विनय एव बन्धने हेतुः । नन्वेवं कृते यादवाः क्रोधं करिष्यन्तीति चेत्, तत्राहुः किं करिष्यन्ति वृष्णय इति । कथं न करिष्यन्तीत्याशङ्कायामाहु येऽस्मत्प्रसादोपचितामिति । उपजीव्यत्वात् अस्मासु क्रोधं न करिष्यन्ति । स्वयमागत्य युद्धादिकरणसम्भावनैव नास्तीत्याहुः येऽस्मत्प्रसादोपचिताम् । जीवनपर्याप्ता तु सेवायामपि प्राप्यते । कृष्यादिना च । अतः पुष्टा प्रारब्धा । सा यादवानां स्वाभाविकी न भवतीति परकीया ग्राह्या । तत्र परस्य दुर्बलत्वेऽपि न्यायसिद्धत्वात् बलिष्ठैः सेवया रक्ष्यते । तत्र पक्षपाते भूमिस्तस्य गच्छति । तथा यादवानामस्मत्प्रसादोपचिता भूमिर्भवति । किञ्च । मण्डलेश्वरराज्ञा तत्तद्भूमिस्तेभ्यस्तेभ्यो दीयते, यदाभिषिक्तो भवति । अतो वयं पूरुवंशोद्भवत्वात् राजानः । अतः सामान्यविशेषप्रकारेण अस्मद्दत्तामेवं भूमि भुञ्जते ।।३।।

व्याख्यार्थ इसके बान्धने का कारण ही दुर्विनीतपन है, यदि कहो कि यों करने से यादव क्रोध करेंगे ? इसका उत्तर देते है कि यादव हमारा क्या करेंगे ? क्यों न करेंगे, जिसका उत्तर देते है कि, यादव हम लोगों की कृपा से जीवन धारण कर रहे हैं अतः हम पर क्रोध नहीं करेंगे, स्वयं आकर युद्ध आदि करने की सम्भावना ही नहीं है, कारण कि, हम लोगों की कृपा से प्राप्त भूमि द्वारा ही पोषित हो रहे हैं, सेवा करने पर भी, जीवन पर्यन्त आजीविका कृषि आदि द्वारा प्राप्त की जाती है, अतः जो वैसी यह भूमि यादवों की अपनी नहीं होती हैं इसलिये वह पराई है यों समझना चाहिये । यदि (कोई) दुर्बल हो जावे तो भी वह भूमि न्याय से प्राप्त होने से सेवा के कारण उससे छीनते नहीं, किन्तु वह यदि पक्षपात करे तो उसकी भूमि छीनी जाती है इसी प्रकार यादवों की यह भूमि हमारे प्रसाद से ही उनके पास अब तक रही है, और विशेष यह है कि मण्डलेश्वर जब सिंहासन पर अभिषिक्त होता है अर्थात् सिंहासनारूढ हो राज्य तिलक कराके राज्य की कार्य वाही हस्त में लेता है तब माण्डलिक भूपों को पोषणार्थ भूमि प्रदान करता है अतः पुरुवंश में उत्पन्न होने से हम राजा हैं इसलिये सामान्य वा विशेष प्रकार से हमारी दी हुई भूमि पर ही अपना पोषण कर रहे हैं ।। ३ ।।

आभास—ननु पुत्रे धृते भूम्यपेक्षामपि त्यक्ष्यन्तीति चेत्, तत्राहुः निगृहीतं सुतं श्रुत्वेति ।

आभासार्थ—यदि कहो कि पुत्र के पकड़े जाने पर भूमि की अपेक्षा छोड़ देंगे और लड़ने के लिये आएंगे, इसका 'निगृहीत' श्लोक में उत्तर देते हैं—

श्लोक—निगृहीतं सुतं श्रुत्वा यद्येष्यन्तीह वृष्णयः ।
भग्नदर्पाः शमं यान्ति प्राणा इव सुसंयताः ।।४।।

श्लोकार्थ--यदि पुत्र को कैद किया है, यह सुनकर यादव आवेंगे तो अपना गर्व नष्ट कराके वैसे शान्त हो जायेंगे, जैसे योगी के संयत प्राण शान्त हो जाते हैं ।।४।।

सुबोधिनी—भग्नो दर्पो यैरिति स्तुतिः । येषामिति निन्दा । यदीति श्रुत्वापि नायास्यन्त्येव यथा कृपयास्माभिर्भूमिर्दीयते । तत्र पुत्रमपि प्रेषयिष्यन्तीति विश्वासात्, तदा प्रेषयिष्यन्ति इति हृदयम् । अथ यदि अस्मास्वविश्वासं कृत्वा, स्वस्य वा बलोत्कर्षं मत्वा, आयास्यन्ति, तत्रापीह विषमदुर्गे, तदा पूर्वसिद्धोऽपि दर्पः अत्रोपक्षीणो भविष्यतीति शमं शान्तिमेव यान्ति । ते नूनमुपजीवका इति न निराकार्याः, किन्तु बहुकालं निरुद्धाः सन्तः गतदर्पाः प्रार्थनया गृहं गमिष्यन्तीति भावः । वशे वा स्थास्यन्ति । तत्र दृष्टान्तमाह प्राणा इवेति । यद्यप्यन्येषां प्राणाः स्वतन्त्रा भवन्ति, तथापि योगिनः संयता एवेति स्वात्मान यागिस्थानीयं मन्यन्ते ।।४।।

व्याख्यार्थ – आचार्य श्री 'भग्नदर्पाः' पद के दो अर्थ करते हैं एक–जिन्होंने शत्रु का दर्प तोड़ दिया है । इस अर्थ के करने से उनकी स्तुति होती है । दूसरा–जिनका दर्प शत्रुओं ने तोड़ा है वैसे वे है, इस अर्थ से उनकी निन्दा होती है, यदि पद का भावार्थ प्रकट करते है कि क्या हम पर वे ऐसा विश्वास न करेंगे कि पुत्र को वे कैद से निकाल कर यहाँ भेज देंगे क्योंकि जैसे कृपा कर भूमि दी है। वैसे पुत्र भी दे देंगे, ऐसा विश्वास न कर अपने को बलिष्ठ समझ कर युद्ध के लिये आ जायेंगे तो भी यहां इस विषम दुर्ग में उनके पूर्व -सिद्ध गर्व की उपेक्षा की जायेगी । इस प्रकार वे शान्त ही हो जावेंगे । वे निश्चयपूर्वक हमारे भरोसे पर ही जीवन धारण कर रहे हैं उनका निराकरण नहीं करना चाहिये, किन्तु बहुत समय यहां रोक रखने से जैसे इंद्रियों के दमन से योगी से प्राण संयत शान्त हो, स्थान पर स्थित हो जाते हैं, वैसे ही ये भी शान्त हो जावेंगे, तब प्रार्थना करने पर घर जावेंगे, अथवा हमारे अधीन होके रहेंगे इस प्रकार अपने को योगी की तरह मानते हैं ।। ४ ।।

आभास—एतादृशं वाक्यं भीष्मादीनामपि चेत्, तदा सम्बद्धार्थमपि भवेदिति वक्तॄन् गणयन्ति इतीति ।

आभासार्थ—यदि भीष्म आदि के भी ऐसे वचन हों तो उनको युक्त अर्थवाला समझना चाहिये, इसलिये कहनेवालों के नाम 'इति कर्ण,' श्लोक में गिनते है—

श्लोक--इति कर्णः शलो भूरिर्यज्ञकेतुः सुयोधनः ।
साम्बमारेभिरे बद्धुं कुरुवृद्धानुमोदिताः ।।५।।

श्लोकार्थ--कुरु वृद्धों से अनुमोदित कर्ण, शल्य, भूरि यज्ञकेतु, सुयोधन; ये सब साम्ब को बाँधने लगे ।।५।।

सुबोधिनी इतिशब्दः प्रकारवाची। एवं विधान्यन्यान्यपि वाक्यानि। दुष्टाश्चत्वारोऽत्र वक्तारः ये भारते, कर्णः, शलः शल्यः भूरिश्रवसो भ्राता भूरिः, यज्ञकेतुश्च तेषामेव प्रधानभूतः। त्रय एते मध्ये दोषरूपा गणिताः। चतुर्णां प्रधानभूतावाद्यन्तयोर्गणितौ। दुःशासनोऽप्यत्रानुसन्धेयः। अग्रे 'षड्था'निति वचनात्। साम्बं बद्धुमारेभिरे। परितः समागत्य धृत्वा बन्धनीय इति। ननु जामातायं जात एव, तथा सति बन्धने कुले दूषणं भवेदित्याशङ्क्याह कुरुवृद्धानुमोदिता इति। अनेनैतत्कथानिरूपणस्य दशमे प्रयोजनमुक्तम्। यतो भक्ता अप्येते वहिर्मुखा जाताः। अतः सात्त्विका अपि निरोधयोग्या इति। अन्यथा निरोधो न युक्तः स्यात् ॥५॥

व्याख्यार्थ – 'इति', शब्द, साम्ब को जिस प्रकार बान्धा गया वह बताता है, इस प्रकार के अन्य वाक्य भी हैं यहां इस प्रकार कहनेवाले भारत में जो चारों दुष्ट थे वे हैं १. कर्ण, २. शल्य ३- भूरिश्रवा का भ्राता भूरि, उनमें प्रधान यज्ञकेतु है ४- सुयोधन, जो तीन मध्य में नाम कहे हैं वे दोष रूप हैं, आदि और अन्त वाले इनमें प्रधान हैं यहां दुःशासन का भी अनुसंधान करना चाहिये, क्योंकि आगे 'षड्यान्' यह वचन कहा है, साम्ब को चारों तरफ से घेर कर उसको पकड़ के बान्धना चाहिये, यह कार्य तो कुल पर कलङ्क जैसा है, क्यों कि साम्ब तो अब जामाता है, जामाता तो आदरणीय है जिसके बान्धने से कुल, कलङ्कित होगा, इस पर कहते है कि कुरुवंश के वृद्धों से यह कार्य अनुमोदित है, इस कारण से कलङ्क का विचार न कर उसको बान्धने लगे, इससे दशम में इस कथा कहने का प्रयोजन बताया है, क्योंकि ये भक्त भी बहिर्मुख हो गये हैं, अतः सात्विक भी निरोध के योग्य हैं यों। यदि यो न होवे, तो निरोध उचित न होवे ॥ ५ ॥

आभास— ततोऽस्य साम्बस्य त्रिधा गतिः सम्भवति। कन्यया सह पलायनम्, तां त्यक्त्वा वा सम्मुखतया युद्धम्, दैन्यं वेति। तत्र पलायनदैन्ये अकृत्वा युद्धार्थमुद्युक्त इत्याह दृष्ट्वानुधावत इति।

आभासार्थ— इससे साम्ब तीन काम कर सकता है, १– कन्या को लेकर भाग जावे २– उसको दूर कर सन्मुख आकर युद्ध करे, ३– दीनता प्रदर्शित करे, इनमें से भागना और दीनता दिखाना योग्य न समझकर, उन दोनों में से एक भी नहीं किया किन्तु युद्ध के लिये उद्यत हुआ, जिसका वर्णन 'दृष्ट्वानुधावतः' श्लोक में करते हैं –

श्लोक— दृष्ट्वानुधावतः साम्बो धार्तराष्ट्रान्महारथः।
प्रगृह्य रुचिरं चापं तस्थौ सिंह इवैकलः ॥६॥

श्लोकार्थ— महारथी साम्ब धृतराष्ट्र के पुत्रों को अपने पीछे दौड़ते हुए आते देख, सुन्दर धनुष लेकर जैसे सिंह खड़ा रहता है, वैसे अकेला खड़ा हो गया ॥६॥

सुबोधिनी—स्वपृष्ठभागे स्वात्मानं धर्तुमनुधावतः षड्रथान् दृष्ट्वा साम्बः। तेऽपि पुनः पितुरेव पुत्रा धार्तराष्ट्राः। स्वयं तु महारथः, न पितुर्न मातुरग्रे बद्ध इति इदानीं युध्यतीति। रुचिरं स्वाभिलषितं चापं परिगृह्य स्वान्तरङ्गसेवकेष्वपि पलायितेषु एकल एव तस्थौ। शङ्काभावाय सिंह इवेति न हि सिंहः सहायमपेक्षते ॥६॥

व्याख्यार्थ—साम्ब ने देखा कि मुझे पकड़ने के लिये मेरे पीछे छः रथ दौड़ते आ रहे हैं, वे रथी भी धृतराष्ट्र के पुत्र ही हैं। स्वयं तो महारथी है, पिता वा माता के आगे भी नहीं बन्धा है, इसलिये अब युद्ध करता है सुन्दर अपना अभिलषित धनुष लेकर अपने अन्तरङ्ग सेवकों के भाग जाने पर अकेला ही युद्ध के लिये खड़ा हो गया। मन मे किसी प्रकार की शङ्का वा भय उत्पन्न न हुआ, अतः सिंह की तरह खड़ा हुआ, जिसका आशय है, कि इसको किसी की सहायता की भी अपेक्षा नहीं ॥ ६ ॥

श्लोक— ते तं जिघृक्षवः क्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणः ।
आसाद्य धन्विनो बाणैः कर्णाग्रण्यः समाकिरन् ॥७॥

श्लोकार्थ—कर्ण है नेता जिनका, ऐसे क्रोधित, उसको पकड़ने की इच्छा वाले वे धनुषधारी, ठहर ! ठहर ! कहते हुए निकट आकर, उस पर बाणों की वर्षा करने लगे ॥७॥

सुबोधिनी—ततस्ते स्थितमपि स्वप्रौढिख्यापनार्थं ग्रहणेच्छया न मारणीय इति दूराद्बाणप्रयोगमकृत्वा, आसाद्य निकटे समागत्य, धन्विनो भूत्वा, कर्ण एवाग्रणीर्येषां ते धनुर्विद्यायामतिनिपुणाः पश्चाद्बाणैः समाकिरन् ॥७॥

व्याख्यार्थ - पश्चात् इन्होंने इसको मारने के लिये दूर से ही बाणों का प्रयोग नहीं किया, क्योंकि इनकी इच्छा थी, कि हम अपनी वीरता प्रकट कर दिखावें कि हमने इसको पकड़ लिया है, अतः समीप आकर कर्ण जिनमें अग्रणी है ऐसे धनुर्विद्या में निपुण कौरवों ने बाणों की वर्षा की ॥७॥

आभास—ततो भीतस्य दैन्यमाशङ्क्य निराकरोति सोऽपि विद्ध इति ।

आभासार्थ—बाण वर्षा से डर कर इसने दीनता प्रकट की होगी ? इस शङ्का का 'सोऽपि विद्ध' श्लोक से निराकरण करते है—

श्लोक — सोऽपि विद्धः कुरुश्रेष्ठ कुरुभिर्यदुनन्दनः ।
नामृष्यत्तदचिन्त्यार्भः सिंहः क्षुद्रमृगैरिव ॥८॥

श्लोकार्थ—हे कुरुश्रेष्ठ ! कौरवों के बाणों से बींधा हुआ भगवान् का बालक यदु-

नन्दन साम्ब इनके इस कार्य को सहन न कर सका, जैसे क्षुद्र मृगों के प्रहार को सिंह सहन नहीं कर सकता है। ८॥

सुबोधिनी - न केवलं परितो बाणप्रक्षेपः, किन्तु सोऽपि विद्धः। अपिशब्दादश्वाः सारथिश्च। निपुणास्त इति न कन्या विद्धा। स्ववंशस्य हीनतां श्रुत्वा श्रवणे विरक्तो भविष्यतीति तन्निराकरणार्थं सम्बोधनं कुरुश्रेष्ठेति। ते तु कौरवमात्रम्, अत एव कुरुभिरिति। अग्रे पौरुषं करिष्यतीति यदुनन्दनः। तत्तेषां वेधनं नामृष्यत्। यतः अचिन्त्यस्य भगवतः अर्भो बालकः, यस्य पिता अन्यैरपि न चिन्त्यः, स कथं स्वयं चिन्तां कुर्यात् मौढ्यादप्येवं भवति, ज्ञानादपीति, तत्पक्षद्वयं निराकर्तुं दृष्टान्तमाह सिंहः क्षुद्रमृगैरिवेति। न हि शृगालादिपीडां सिंहो मन्यते ॥८॥

व्याख्यार्थ—इनके बाण इसके चारों तरफ आके गिरे यों नहीं, किन्तु उन बाणों से यह और इसके घोड़े तथा सारथी भी विद्ध गये। वे बाण फेंकने में निपुण थे इसलिये कन्या का कुछ न हुआ अपने वंश को हीनता सुनकर, सुनने से विरक्त होगा ? इसलिये उसका निराकरण करने के लिये 'कुरुश्रेष्ठ' संबोधन दिया है, वे तो केवल कौरव है श्रोता तो कुरुश्रेष्ठ है। साम्ब को यदुनन्दन कहकर बताया है, कि यह आगे चलकर वीरता दिखाएगा, इसलिये उनके बींधने को सहन न कर सका। क्योंकि, अचिन्त्य भगवान् का बालक है, जिसका पिता अन्यों से भी अचिन्त्य है वह स्वयं कैसे चिन्ता करे ? मूर्खता एवं ज्ञान दोनों से भी चिन्ता का अभाव होता है, इन दोनों पक्षों के निराकरण के लिये दृष्टान्त देते हैं कि 'सिंहः क्षुद्र मृगैरिव' जैसे शृगाल आदि की पीडा को सिंह ध्यान मे न लाके निश्चिन्त रहता है, वैसे ही साम्ब भी इनको क्षुद्र समझ निश्चिन्त था ॥ ८ ॥

आभास—ततस्तस्य पौरुषमाह विस्फूर्ज्येति।

आभासार्थ—अनन्तर 'विस्फूर्ज्य' श्लोक से उसका उद्यम कहते हैं—

श्लोक—विस्फूर्ज्य रुचिरं चापं सर्वान् विव्याध सायकैः।
कर्णादीन्षड्रथान्वीरस्तावद्भिर्युगपत्पृथक् ॥९॥

श्लोकार्थ – इस वीर ने अपने सुन्दर धनुष का टंकार कर, कर्ण आदि छः रथियों को साथ में और पृथक् पृथक् इतने ही बाणों से बींधा ॥९॥

सुबोधिनी - वरो हि क्षत्रियाणां शौर्येणोत्कृष्टो भवति। अतः स्वपरीक्षां प्रयच्छन्निव लघुहस्ततां प्रदर्शयति। सर्वान् कर्णादीन् षड्भिः षड्भिर्बाणैः एकैकं युगपदविध्यत् ॥९॥

व्याख्यार्थ – क्षत्रिय जाति में वर की उत्तमता शूरवीरता दिखाने से मानी जाती है, अतः मानों परीक्षा देता हुआ साम्ब अपनी लघु हस्तता[1] दिखाने लगा, कर्ण आदि सबको छ छ बाणों से एक एक को साथ में बींधा ॥ ९ ॥

१- हलके हाथ, अर्थात् बाणों को जल्दी-जल्दी चलाना

आभास—षड्बाणानां विनियोगमाह चतुर्भिश्चतुरो वाहानिति ।

आभासार्थ—'चतुर्भिश्चतुरो वाहान्' श्लोक से षड् बाणों का उपयोग कहते है—

श्लोक— चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकैकेन च सारथीन् ।
रथिनश्च महेष्वासांस्तस्य तत्तेऽभ्यपूजयन् ॥१०॥

श्लोकार्थ— चार-चार बाण चार घोड़ों के लगाए एक-एक सारथी के और एक-एक बड़े धनुषधारी रथियों को लगाए, साम्ब के इस कार्य की वे भी प्रशंसा करने लगे ॥१०॥

सुबोधिनी—एतदपि कौशलम्, यथा सर्व एव विद्धा भवन्ति समागताः । अन्यथा तं तथा न स्मरेयुः । एकैकेन सर्वानेव सारथीन्, एकैकेनैव रथिनः कर्णादीन् । तर्हि अप्रयोजकास्ते भविष्यन्तीत्याशङ्कयाह महेष्वासानिति । अनवहिता भविष्यन्तीत्याशङ्कयाह तस्य तत्तेऽभ्यपूजयन्निति। साम्बस्य तत्कर्म महारथिनोऽपि कर्णादयः अभ्यपूजयन् । साधु साध्विति प्रशंसां कृतवन्तः । एतदेव साम्बस्य बन्धने निमित्तं जातम् । तं, स्तुतः प्रतीकारं न कृतवान् । अन्यथा ब्रह्मास्त्रादिभिः युद्धं कुर्यात् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—यह भी कुशलता है, जैसे आए हुए सब बींधे गये, यदि यह प्रवीणता न दिखाता तो वे इसको इस प्रकार स्मरण न करते अर्थात् प्रशंसा नहीं करते, एक २ से ही सर्व सारथियों को एक एक से ही सर्व कर्ण आदि रथियों को बींध दिया । वे भी महान् धनुषधारी थे, रिक्त हस्त नहीं थे, वे असावधान होंगे? इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, पूर्ण सावधान थे, जिससे महारथी कर्ण आदि ने भी साम्ब के इस कर्म की साधु ! साधु ! (वाह वाह) कह कर प्रशंसा की, यह कार्य ही साम्ब के बान्धे जाने में कारण बना, जब उन्होंने प्रशंसा की, तब वे उसका प्रतीकार कैसे करेंगे, यदि प्रशंसा न करते तो ब्रह्मास्त्र आदि से युद्ध करते, वह न कर इसकी शूरवीरता से प्रसन्न हो केवल (इसे) बान्ध लिया ॥ १० ॥

आभास—एवं ते कपटं कृत्वा स्तोत्रेण मोहयित्वा युद्धं कृतवन्त इत्याह तं तु ते इति ।

आभासार्थ— इस प्रकार इसकी स्तुति जो की वह कपट कर इसे बान्धने के लिये की थी, अनन्तर युद्ध करने लगे जिसका वर्णन 'तं तु ते' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तं तु ते विरथं चक्रुश्चत्वारश्चतुरो हयान् ।
एकस्तु सारथिं जघ्ने चिच्छेदान्यः शरासनम् ॥११॥

श्लोकार्थ—अनन्तर उन्होंने मिलकर उसको विरथ किया, चार जनों ने चार घोड़े मारे, एक ने सारथी को मारा और एक ने धनुष को तोड़ा ।।११।।

सुबोधिनी—तुशब्दः धर्मयुद्धं व्यावर्तयति । एकैकाश्ववधेन बहुभिरेव बाणादिभिः चत्वारो महारथाः तं विरथं चक्रुः एकस्तु पञ्चमः सारथिं जघ्ने । अन्यः षष्ठः शरासनं धनुश्चिच्छेद । एकैकस्य आयुधानां प्रयोगाणां वा न सा साङ्ख्य । ।।११।।

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'तु' शब्द से यह सूचित किया है कि कौरवों ने यह युद्ध धर्म युद्ध नहीं किया है । एक एक अश्व का वध कर, चार महारथियों ने मिलकर बहुत बाण आदि से उस अकेले को विरथी बनाया, पांचवे ने सारथी का वध किया, छठे ने धनुष तोड़ डाला, एक एक के आयुधों की और प्रयोगों की कोई सङ्ख्या न थी ॥ ११ ॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह तं बद्ध्वेति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह तं बद्ध्वा' श्लोक में कहते है—

श्लोक—तं बद्ध्वा विरथीकृत्य कृच्छ्रेण कुरवो युधि ।
स्वकुमारं स्वकन्यां च स्वपुरं जयिनोऽविशन् ।।१२।।

श्लोकार्थ—कौरव, संग्राम में बड़े कष्ट से उसको विरथ[1] कर बांध और जीत कर अपनी कन्या सहित कुमार को लेकर अपने नगर में प्रविष्ट हुए ।।१२।।

सुबोधिनी—कृच्छ्रेण आदौ तं विरथीकृत्य, पश्चाल्लौकिकन्यायेन बद्ध्वा, यतः कुरवः; कुरुणा हि भूयान् धर्मः कृत इति, तद्वश्यानामपि मनोरथसिद्धिः । युधीति । बन्धनेऽपि लज्जाभाव उक्तः। युद्धे हि जयपराजययोरनियमात् । किञ्च । स्वकुमारं स्वकन्यां चेति । सुतरामेव बन्धने न विगानम् । दुर्योधनो हि बलस्य जामाता, तस्य चैषा कन्या, अत उभयोरपि स्वकीयत्वमेव । कुमारं स्वस्य कन्यामिति पाठे स्वकन्यासहितं कुमारमद्यापि विवाहरहितमिति बन्धने हेतुरुक्तः । मध्ये स्थापिते कश्चित्रेष्यति, पलाय्य वा गमिष्यतीति स्वपुरं प्राविशन् । जयिन इति प्रवेशे सन्तोषो निरूपितः ।।१२।।

व्याख्यार्थ—बड़े कष्ट से प्रथम उसको विरथ किया, पश्चात् लौकिक प्रकार से उसको बान्धा क्योंकि कौरव हैं । कुरु ने बहुत धर्म किया है, उसके वशीकृतों की भी मनोरथ सिद्धि हुई कारण कि युद्ध में जय प्राप्त की है, बान्धने में भी इनको लज्जा न हुई, युद्ध में कौन जीतेगा और कौन हारेगा इसका कोई नियम नहीं है, और विशेष में 'स्वकुमारं स्वकन्यां च' सुतराम् ही बन्धन में निन्दा नहीं

१– रथ छीन लिया अथवा उससे नीचे उतार फिर बाँधा

है, दुर्योधन बल का जामाता है, यह लक्ष्मणा उसकी कन्या है अतः दोनों में स्वकीय पन ही है यदि 'कुमारं स्वस्य कन्या' पाठ हो तो अर्थ इस प्रकार करना चाहिये कि अपनी कन्या सहित कुमार को बान्धा, अभी तक विवाह नहीं हुआ है इसलिये साम्ब कुमार है जिससे जामाता नहीं अतः बान्धा यदि अपने पुर में नहीं ले जावे और मध्य में किसी स्थान पर रखें, तो वहां से कोई ले जावे वा भाग कर चला जायगा इसलिये अपने पुर ले गये, नगर मे प्रवेश से उनको सन्तोष हुआ कारण कि युद्ध मे जय प्राप्त कर आये थे ॥ १२ ॥

आभास—नारदो हि निरोधनिदानमिति सात्त्विकानां स्वासक्तिसिद्धयर्थं नारदः समागत्य वृत्तमित्याह तच्छ्रुत्वेति ।

आभासार्थ – निश्चय से नारदजी निरोध के कारण हैं, इसलिये सात्विकों की अपने (भगवान्) में आसक्ति की सिद्धि कराने के लिये, नारदजी ने आकर 'तच्छ्रुत्वा' श्लोक से वृतान्त कहा —

श्लोक— तच्छ्रुत्वा नारदेनोक्तं राजन्सञ्जातमन्यवः ।
कुरून्प्रत्युद्यमं चक्रुरुग्रसेनप्रचोदिताः ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! नारद से वह समाचार सुनकर यादव क्रोधित हुए तथा उग्रसेन की आज्ञा से कौरवों पर चढ़ाई का उद्यम किया ॥१३॥

सुबोधिनी—भगवानक्लिष्टकर्मा पुत्रसाहाय्यं न करिष्यतीति उग्रसेनेनैव प्रचोदिताः यादवाः कुरून्प्रत्युद्यमं चक्रुः । सञ्जातमन्युत्वं युक्तमिति राजसम्बोधनम् । उषाहरणे विपक्षस्यैव दोषः, अत्र तु न तथेति तूष्णीभावो भगवतः ॥१३॥

व्याख्यार्थ – भगवान् तो अक्लिष्ट कर्मा हैं, पुत्र की सहायता नहीं करेंगे इसलिये उग्रसेन ने ही कौरवों पर आक्रमण की आज्ञा दी, राजन ! सम्बोधन से यह दिखाया है कि ऐसे कार्य से क्षत्रियों को क्रोध आता ही है अतः यादवों को भी क्रोध आया, उषा के हरण में विपक्ष का दोष था, यहां तो विपक्ष का दोष नहीं हैं अपना दोष है, इसलिये भगवान् ने मौन धारण करली ॥१३॥

आभास—तदा साधनशक्तिर्मुख्या बल इति, अत्रत्यं कार्यं भगवत एवेति, कुरुर्मूलभूतो भगवत इति, यदुवंश इव कुरुवंशेऽपि देवा एवावतीर्णा इति, देवानामन्योन्यविरोधो धर्मनाशकः पापपोषक इति, तान् नप्त्रोपाख्याने शपथकरणाद्य एव प्रथमं द्रुह्यति, स नष्टो भवतीति, बहुदोषदुष्टत्वात् कलहस्य तन्निवारणार्थं रामः प्रवृत्त इत्याह सान्त्वयित्वेति ।

आभासार्थ - तब साधन शक्ति मुख्य है इसलिये 'बल' यों सान्त्वना देने लगे, यहां का कार्य भगवान् का ही है, कारण कि कुरु का मूल भगवान् है, यदुवंश की तरह कुरु वंश में भी देवताओं ने

अवतार लिया है. देवों का परस्पर युद्ध धर्म नाशक और पाप पोषक होगा। नाप्त्री के उपाख्यान में शपथ ली है कि जो पहले द्रोह करेगा वह नाश हो जायगा, इसलिये कलह बहुत दोषोंवाली होने से दुष्टा है इसलिये कलह नहीं करनी चाहिये, जिसको मिटाने के लिये राम प्रवृत्त हुए, यह 'सान्त्वयित्वा' श्लोक में कहते हैं--

श्लोक— सान्त्वयित्वा तु तान्रामः सन्नद्धान्वृष्णिपुङ्गवान् ।
नैच्छत्कुरूणां वृष्णीनां कलिं कलिमलापहः ॥१४॥

श्लोकार्थ—कमर कसे हुए यदुपुङ्गवों को देख बलदेवजी ने उनको शान्त किया; क्योंकि कलियुग के मल को हरने वाले बलरामजी ने चाहा कि यादव और कौरवों के मध्य में लड़ाई न होवे तो अच्छा है ॥१४॥

सुबोधिनी - वृष्णिपुङ्गवानिति महत्त्वम् । सान्त्वने हेतुः सन्नद्धानिति । तत्कार्यं स्वयं चेत्कुर्यात्, तदैव सान्त्विता भवन्तीति ज्ञापितम् । कार्यं साम्बस्य सभार्यस्यानयनम्, तत्प्रीत्यैव चेद्भवति, तदा कलहो व्यर्थ इति कुरूणां वृष्णीनां नैच्छत् । उभयेषां देवभावात् । रामश्च कलिमलापहः । देवविरोधे सत्त्वस्य सर्वथा तिरोभावात्तमः केन हन्येत । कारणसत्त्वेन सह विरोधाभावात् । अन्यथा तमसः तत्कार्याणां च स्थितिर्न स्यात् । अन्यथा कलावुत्पत्स्यमानानामुद्धारो न भवतीति जन्मकारणनिर्धारो व्यर्थः स्यात् । तुशब्दः कुरुपक्षपातं व्यावर्तयति । तान् प्रसिद्धानिति हीनभावोऽपि नाश्रयणीय इति सूचितम् । तेन ऋजुमार्गेणासिद्धौ वक्रेणापि तत्करिष्यतीति सिद्धम् । ज्ञानशक्तिरत्र न पूर्णेति केचित् । लोकानुरोधी भगवानित्यपरे । नीतिमार्गानुसारिणी साधनशक्तिः, पुष्टिमार्गानुसारिणी फलशक्तिरिति सिद्धान्तः ॥१४॥

व्याख्यार्थ —'वृष्णि पुङ्गव' यादवों में श्रेष्ठ अथवा श्रेष्ठ जो यादव शब्द कहने से इनकी महत्ता प्रकट की है। शान्त करने में हेतु यह था, कि वे लड़ने के लिये तैयार हो गये थे, वे शान्त तब होवे जब यह कार्य बलरामजी स्वयं करें, यह जताया है. काम यह था कि साम्ब को स्त्री सहित सकुशल ले आना, वह कार्य यदि प्रेम से हो जाय तो यादव और कौरवों का परस्पर कलह व्यर्थ है। इसलिए राम कलह न चाह कर प्रेम से कार्य पूर्ण कराना चाहते थे, क्योंकि दोनों में देव भाव था, और श्री बलरामजी कलि के मल का नाश करने वाले ठहरे. देवताओं का परस्पर युद्ध हो तो सतोगुण तिरोहित हो जायगा, उसके तिरोहित हो जाने पर तमोगुण का नाश कौन करेगा ? यदि सतोगुण तिरोहित हो जायेगा तो तम से किसी का विरोध नहीं रहेगा जिससे तम और उसके कार्यों का नाश हो नहीं होगा, यदि सतोगुण होगा तो तम का नाश होने से उसकी तथा उसके कार्यों की स्थिति ही नहीं रहेगी। यदि देवताओं का परस्पर युद्ध हुआ तो सतोगुण का तिरोभाव हो जाने से तम की और उसके कार्यों की स्थिति रहेगी तो कलियुग में उत्पन्न जीवों का उद्धार नहीं है, यों जन्म के कारण का निर्धार व्यर्थ हो जायेगा। 'तु' शब्द से बताते हैं, कि राम कौरवों का पक्षपात करने के लिये नहीं पधार रहे हैं, 'तान्' शब्द से यह सूचित किया है, वे यादव, प्रसिद्ध हैं अतः हीन भाव का भी आश्रय नहीं करना है, अर्थात् यादवों को दीनता भी प्रकट नहीं करनी है। यों कहने से यह सूचित किया है

कि यदि कौरव सीधे मार्ग से नहीं समझेंगे तो वक्र[1] मार्ग से भी उनका यह कार्य करना ही पड़ेगा। कोई कहते हैं, कि ज्ञान शक्ति पूर्ण नहीं है, ये दुष्ट कौरव भूमि पर भार रूप हैं ही वे आगे चल कर मारने ही हैं, इसलिये युद्ध को क्यों रोका ? इस शङ्का का समाधान करने के लिये तीन कारण देते हैं, यहां अब ज्ञान शक्ति पूर्ण नहीं हैं. यों कोई कहते हैं, दूसरे फिर कहते हैं कि अब भगवान् लोकानुकूल कार्य करना चाहते हैं, आचार्य श्री कहते हैं कि वास्तविक सिद्धान्त यह है कि साधन शक्ति नीति मार्ग के पीछे चलती है, और फल शक्ति पुष्टिमार्ग[2] के पीछे चलती है ॥१४॥

आभास—सान्त्वनसिद्ध्यर्थं रामस्य गमनमाह जगामेति।

आभासार्थ—शान्ति की सिद्धि की लिये राम के पधारने का प्रकार 'जगाम' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—जगाम हास्तिनपुरं रथेनादित्यवर्चसा।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ॥१५॥

श्लोकार्थ—सूर्य के समान तेजस्वी रथ में विराज कर, ब्राह्मणों और कुल वृद्धों को साथ में लेकर, जैसे ग्रहों के साथ चन्द्रमा शोभायमान होता है, वैसे ही शोभा पाते हुए बलदेवजी हास्तिनपुर पधारे ॥१५॥

सुबोधिनी—हस्तिनो नात्र सहभाव इति ऋजुभावेन गमनम्। आदित्यवर्चसेति तेषां प्रतिबोधनम्। नीतिमार्गोपयोगिन आह। ब्राह्मणैः कुलवृद्धैः, चकारादन्यैरपि शास्त्रिभिः। कुरूणामनभिप्रेतं साम्बविमोचनं भवतीति, ततापार्थी गच्छतीत्याशङ्क्य, तेषां तापापनोदार्थं गच्छतीति वक्तुं दृष्टान्तमाह चन्द्र इव ग्रहैरिति। बृहस्पतिप्रभृतिभिः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—हस्तिनापुर न कह कर हास्तिनपुर कहा है जिसका आशय यह है कि इनका सहभाव नहीं है, अतः जहां सहभाव नहीं हो वहां ऋजुभाव से जाना नीति के विरुद्ध है। जिस रथ में विराज कर पधारे, वह रथ सूर्य के सदृश चमक रहा था, जिससे उनको अपने आने का वा स्वरूप का ज्ञान कराया है बलरामजी ने कार्य की सिद्धि नीति मार्ग से हो, इसलिये ब्राह्मणों को और कुल वृद्धों को अपने साथ में ले लिया था। 'च' शब्द देने का भाव है कि इनके सिवाय अन्य विद्वानों को भी साथ में ले चले थे, यदि किसी को शङ्का हो कि बलराम, कुरुओं को विशेष ताप देने के लिये पधार रहे हैं, क्योंकि साम्ब को बन्धन से छोड़ना उनको अभीष्ट नहीं, इसलिये यह बात सुन वे विशेष क्रोधित होंगे, इस शङ्का का परिहार करते हैं, कि नहीं, ये तो उनके ताप को मिटा कर

१—कौरव सम रीति से लक्ष्मणा सहित साम्ब को सादर न देंगे तो युद्ध से भी ले आऊँगा,

२—अनुग्रह मार्ग।

शान्ति कराने के लिये पधार रहे हैं इसलिये इसी प्रकार का दृष्टान्त चन्द्रमा का दिया है कि जैसे चन्द्रमा वृहस्पति आदि ग्रहों सहित ताप मिटाने के लिये प्रकट होता है, वैसे हो राम भी ताप शान्त कराने के लिये जा रहे है ॥१५॥

आभास--नीतिपरैवेयं शक्तिरिति ज्ञापयितुं लोकदृष्ट्यापि द्विषतां पुरं न प्रविशेदिति बहिःस्थित एव स्वागमनं ज्ञापितवानित्याह गत्वेति ।

आभासार्थ—यह शान्ति नीतिवाली है, यह जताने के लिये लोक दृष्टि से भी शत्रुओं के नगर में प्रवेश नहीं करना चाहिये, इसलिये आपने बाहर ही ठहर कर अपने आने की सूचना दी यह 'गत्वा' श्लोक में बताते हैं—

श्लोक--गत्वा गजाह्वयं रामो बाह्योपवनमास्थितः ।
उद्धवं प्रेषयामास धृतराष्ट्रबुभुत्सया ॥१६॥

श्लोकार्थ--बलरामजी हस्तिनापुर पहुँच कर नगर के बाहर उपवन में ठहरें और धृतराष्ट्र को मेरे आने का ज्ञान होवे, इस इच्छा से उद्धव को उसके पास भेजा ॥१६॥

सुबोधिनी—अत एव रामः । बाह्योपवनमिति नगरसीमाप्रवेश उक्तः । आस्थितिस्तत्र विमोचनम् । नीतिज्ञ उद्धवः । धृतराष्ट्रो गन्धर्वो दैत्यावेशसहितो देवांशः । स बुध्यतामिति बुभुत्सा । धृतराष्ट्रं प्रति बोधयितुमिच्छया वा ॥१६॥

व्याख्यार्थ—यह शक्ति, नीति परायण है इसलिये ही 'राम' कहा है, बाहर उपवन में ठहरे यों कहने से यह जताया है, कि नगर की सीमा में प्रवेश किया है। वहां उपवन में रथ आदि सब खड़े किये हैं, रथों से घोड़े छोड़ दिये हैं, धृतराष्ट्र, गन्धर्व देवांश होते हुए भी दैत्यावेश सहित देवांश है, धृतराष्ट्र को मेरे आने का पूर्ण ज्ञान होवे इसलिये राम ने नीतिज्ञ उद्धवजी को धृतराष्ट्र के पास भेजा ॥१६॥

आभास--तस्य यथोचितं करणमाह सोऽभिवन्द्येति ।

आभासार्थ—'सोऽभिवन्द्य' श्लोक में कहते हैं कि उद्धवजी ने जाकर यथोचित अभिवादन किया—

श्लोक--सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं भीष्मं द्रोणं च बाह्लिकम् ।
दुर्योधनं च विधिवद्राममागतमब्रवीत् ॥१७॥

श्लोकार्थ—धृतराष्ट्र, बाह्लिक, भीष्म द्रोण और दुर्योधन और अन्य कृपाचार्य आदि ब्राह्मणों को विधि के अनुसार अभिवादन कर अनन्तर बलरामजी के आने का समाचार सुनाया ॥१७॥

सुबोधिनी—अम्बिकापुत्रो धृतराष्ट्रः,बाह्लिकः शन्तनोर्भ्राता, चकारात्कृपादिब्राह्मणान् । दुर्योधनो वरश्वशुर इति । चकारात्तत्पक्षपातिनः । एवमुभयविधा नमस्कृता बोधिताश्च । विधिवदित्यन्तेन तुल्यत्वाय । कथमागमनमिति प्रश्नसमये राममागतमब्रवीत् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—धृतराष्ट्र, अम्बिका का पुत्र है, बाह्लिक शन्तनु का भ्राता है, 'च' शब्द से कृपाचार्य आदि ब्राह्मणों को और वर के श्वशुर दुर्योधन को तथा अन्य 'च' शब्द से जो पक्षपाती थे उन सब को प्रणाम किया, इस प्रकार दोनों प्रकार के जो वहां सभा में स्थित थे उनको नमन किया और श्रीराम के आने का ज्ञान कराया विधिवत् कहने का आशय यह है कि अन्त में समानता के लिये इस प्रकार प्रणाम किया, आपका पधारना कैसे हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री बलरामजी के आने के समाचार सुनाये ॥१७॥

श्लोक—तेऽतिप्रीतास्तमाकर्ण्य प्राप्तं रामं सुहृत्तमम् ।
तमर्चयित्वाभिययुः सर्वे मङ्गलपाणयः ॥१८॥

श्लोकार्थ—अपने अत्यन्त सुहृत राम का पधारना सुनकर वे सर्व बहुत प्रसन्न हुए, उद्धव का पूजन कर पश्चात् सर्व मङ्गल पदार्थ हस्तों में लेकर राम से मिलने के लिए उनके पास सामने गए ॥१८॥

सुबोधिनी—ते तां वार्तां श्रुत्वैव प्रीताः । स हि सुहृत्तमः दुर्योधनश्वशुरः गुरुश्च । यादवपक्षपाते परमन्यथा भविष्यति । तमुद्धवमर्चयित्वा आभिमुख्येन ययुर्यथाशास्त्रम् । मङ्गलपाणयः॥१८॥

व्याख्यार्थ—वे उस वार्ता को सुन कर ही प्रसन्न हुए, वे एक विशेष सुहृद् है, दुर्योधन का श्वशुर है और बड़े हैं, यों है किन्तु यादवों के पक्षपाती होने से अन्य प्रकार के हो जायगे, उस उद्धव का पूजन कर शास्त्रानुसार मङ्गल–द्रव्य हस्तों में लेकर श्री राम से मिलने के लिये सामने गए ॥१८॥

आभास—सङ्गतावपि सौहार्ददार्ढ्यमाह तं संगम्येति ।

आभासार्थ—'तं संगम्य' श्लोक से कहते हैं कि मिलने पर भी सौहर्द की दृढ़ता हुई—

श्लोक—तं संगम्य यथान्यायं गामर्घ्यं च न्यवेदयन् ।
तेषां ये तत्प्रभावज्ञाः प्रणेमुः शिरसा बलम् ॥१९॥

श्लोकार्थ--उनसे यथा योग्य मिलकर गौ अर्पण की और अर्घ आदि दिए। उनमें जो उनके प्रभाव को जानते थे,उन्होंने बलरामजी को मस्तक नमा कर प्रणाम किया।१९।

सुबोधिनी—प्रह्वादिप्रकारभेदैर्यथान्यायम्। अतिथिवन्मधुपर्कादिना पूजितवन्त इति ज्ञापयितुमाह गामर्घ्यं चेति। तेषां पूजकानां मध्ये ये तत्प्रभावाभिज्ञाः माहात्म्यविदः ते ज्येष्ठा अपि लौकिकीं दृष्टिं दूरीकृत्य प्रणेमुः। अनेन सर्वे लौकिकाः, केचनैव तत्प्रभावाभिज्ञा इति निरूपितम्। अभिज्ञा अपि वलं बलाधिक्येनैव, नत्वलौकिकानुभावेन। अन्यथा ते विषमान् बोधयेयुः॥१९॥

व्याख्यार्थ—प्रणाम करने के अनेक भेद हैं जैसे कि छोटे,मोटे और समानों का प्रकार पृथक्-२ है, अतः कहा है कि 'यथा न्याय' न्याय के अनुसार प्रणाम किया, जैसे अतिथि की मधुपर्क आदि से पूजा की जाती है, वैसे मधुपर्क आदि से पूजन किया। इस प्रकार को प्रकट करने के लिये कहा है कि 'गामर्घ्यं च' गौ दी और अर्घ्य[1] दिया, उन पूजा करने वालों में जो बलरामजी के प्रभाव को जानते थे, वे माहात्म्य ज्ञान वाले बड़े थे, तो भी लौकिकी[2] दृष्टि का त्याग कर मस्तक से बलरामजी को प्रणाम किया। इससे यह बताया, कि बहुत से तो लौकिक दृष्टि वाले थे, कितने स्वल्प ही उनके प्रभाव को जानने वाले थे। वे जानने वाले भी बलरामजी के बल की अधिकता से माहात्म्य जानते थे, न कि उनके अलौकिक प्रभाव को जानते थे। यदि अलौकिक प्रभाव जानते होते तो वे विषयों को भी ज्ञान देते ॥१९॥

आभास—एवं कायिकव्यवहारमुक्त्वा वाचनिकमाह बन्धून्कुशलिन इति।

आभासार्थ - इस प्रकार काया से जो पूजनादि व्यवहार किया जाता है वह वर्णन कर अब वाणी से जो कुशल क्षेम पूछा जाता है वह 'बन्धून्कुशलिनः' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक— बन्धून्कुशलिनः श्रुत्वा पृष्ट्वा शिवमनामयम्।
परस्परमथो रामो बभाषेऽविक्लवं वचः॥२१॥

श्लोकार्थ--परस्पर कल्याण व आरोग्य पूछ कर और बान्धवों के कुशल सुन कर बाद में श्री रामजी ने तेजस्वी वचन कहे ॥२०॥

सुबोधिनी—शिवं कल्याणं सुखरूपम्, अनामयं दुःखाभावरूपम् बन्धून् धर्मिणः परस्परं कुशलिनः श्रुत्वा। एतदपि परस्परं पृष्ट्वा। अथो भिन्नप्रक्रमेण रामोऽविक्लवं अदीनम्, अन्यथा यादवानां दीनता स्यात्, भक्ताश्च ते॥२०॥

१—अर्घ्य मधुपर्क आदि, २—यह यादव है, इस दृष्टि का त्याग कर।

व्याख्यार्थ—'शिव' शब्द का अर्थ है कल्याण अर्थात् जिसमें सुख ही सुख है विशेष में वह सुख भी दुःख रहित है। इस प्रकार बान्धव सर्वथा सुखी हैं, यह सुन कर, यह समाचार भी परस्पर पूछ कर मालूम किया जिससे प्रसन्न हुए, अनन्तर बलरामजी दूसरा विषय प्रारम्भ करते हैं— श्री राम ने दैन्य रहित तेजस्वी, ऐसे वचन कहे जिससे यादवों की दीनता देखने में न आवें, यदि इस प्रकार वचन न कहते, तो यादवों की दीनता देखने में आती। यह राम की इच्छा नहीं थी क्योंकि यादव भक्त थे।

आभास— सर्वदेवाधिपत्यं भगवतोग्रसेनाय दत्तमिति तदाज्ञा सर्वैरेव देवैः कर्तव्या, अतो यादवान् परित्यज्य उग्रसेनाज्ञापनमाह उग्रसेन इति।

आभासार्थ— श्री बलरामजी ने कौरवों को कहा, कि भगवान् ने उग्रसेन को सर्व देवों का अधिपति बनाया है, इसलिये उनकी आज्ञा सर्व देवों को माननी चाहिये, आप देव है उग्रसेनजी देवाधिपति है इस कारण से, आपको भी यह आज्ञा माननी ही चाहिये, अतः यादवों का नाम न लेकर उग्रसेन की आज्ञा 'उग्रसेनः' श्लोक में कहते है—

श्लोक—उग्रसेनः क्षितीशेशो यद्व आज्ञापयत्प्रभुः।
तदव्यग्रधियः श्रुत्वा कुरुध्वं मा विलम्बितम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—महाराजाधिराज उग्रसेनजो प्रभु हैं, उन्होने जो तुमको आज्ञा दी है, वह सावधान होकर सुनो और शीघ्र उसका पालन करो ॥२१॥

सुबोधिनी—तस्याज्ञा भिन्नैः राजभिः कथं कर्तव्येत्याशङ्क्याह। क्षितीशानां सर्वेषामेव राज्ञामीश इति। यद्वो युष्मान् प्रति आज्ञापयत्। आज्ञापनावाक्यमग्रे वक्तव्यम्, साम्बः सभार्यः प्रस्थापनीय इति। तद्वाक्यात् पूर्वमेव अपराधक्षमावाक्य एव क्रुद्धाः परुषभाषिणो जाता इति तदकथनम्। तदग्रे विवक्षितं कर्तव्यमिति हितोपदेशो रामस्य। मा विलम्बितमिति द्वितीयम्। अन्यथेश्वरः राज्ञां विलम्बं न सहत इति पश्चात् कृतमपि व्यर्थं स्यादिति। ईश्वरवचनोल्लङ्घने अनिष्टं शीघ्रमिति ज्ञापितम्। ईश्वरत्वमाह प्रभुरिति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—उन (उग्रसेन) की आज्ञा अन्य भूपति क्यों माने ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये ही कहा है कि सर्व भूपतियों के वे ईश है। इसलिये तुमको आज्ञा करते है, कौनसी आज्ञा की है ? वह आज्ञा आगे कही जायेगी, कि स्त्री सहित साम्ब को हमारे यहां भेज दो, ऐसे वचनों के सुनने से प्रथम ही क्रोध में आकर अश्लील वचन बोलने लग गये, वे कहने योग्य न होने से नहीं कहे हैं— उग्रसेन ने जो कहा है तदनुसार कार्य करो यही राम का उपदेश हितोवह है। देरी मत करो, शीघ्रता करो, क्यों कहता हूं, कि राजा लोगों की देरी को ईश्वर सहन नहीं करते है। किया हुआ भी कार्य देरी के कारण व्यर्थ होता है। ईश्वर के वचन का उल्लङ्घन करने से शीघ्र ही अनिष्ट हो जाता है। वह ईश्वर हैं, यह जताने के लिये ही मूल में 'प्रभु' कहा गया है ॥२१॥

आभास—कदाचित्कृतापराधस्य दण्डं करिष्यतीत्याशङ्कायामाह यद्यूयमिति ।

आभासार्थ - कदाचित् अपराध का दण्ड करेंगे ? इस शङ्का का उत्तर 'यद्यूयं' श्लोक से देते हैं—

श्लोक—यद्यूयं बहवस्त्वेकं जित्वाऽधर्मेण धार्मिकम् ।
अबध्नीताथ तन्मृष्ये बन्धूनामैक्यकाम्यया ॥२२॥

श्लोकार्थ—उग्रसेनजी ने कहा है कि तुम बहुतों ने इकट्ठे होकर अधर्म से जो हमारे धर्मिष्ठ अकेले बालक को जीत कर कैद कर लिया है । बान्धवों में एकता रहे, इस इच्छा से उस अपराध को सहन कर लेता हूँ, अब इसको शीघ्र छोड़ दो ॥२२॥

सुबोधिनी—यद्यपि भवन्तो दण्डार्हाः, तथापि बान्धवानामन्योन्य कलहो भविष्यतीति तदपराधं मृष्ये । ईश्वरेणापि क्रियमाणे दण्डे बन्धुभिरेव कारितमिति कदाचिद्वैमनस्य स्यात्, तन्नाभिप्रेतम्, किन्तु ऐक्यमेवाभिप्रेतम्, शास्त्रनिषिद्धं ह्येकेन सह बहूनां युद्धम् । तथाकरणे च दण्डो राज्ञावश्यं कर्तव्यः । ततस्तमपराधमनुवदति । यूयं बहवः । तुशब्देनान्यथाकरणं निवार्यते । महास्त्रप्रयोगः पलायनं चाधर्म इति । अधर्मेण एककाले बहवो युद्धाभिज्ञा बालकं स्त्रीरक्षायां व्यग्रं खण्डशः साधननाशेन जितवन्त इति । बन्धनं चापरो दोषः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि तुम दण्ड के योग्य हो, तो भी बान्धवों के आपस में कलह होगी, वह न हो, इसलिये इस अपराध को सहन कर लेता हूँ अर्थात् क्षमा करता हूँ, यदि राजा दण्ड करे, तो भी, वह दण्ड बान्धवों ने ही कराया है, यों मान कदाचित् उनका परस्पर वैमनस्य हो जाय तो वह अच्छा नहीं, इसलिये वह वैमनस्य इच्छित नहीं है, एकता ही अभिप्रेत है । एक के साथ बहुतों का लड़ना शास्त्र से निषिद्ध है, वैसे निषिद्ध कार्य करने पर, राजा अपराधी को अवश्य दण्ड देवें । तुम्हारा क्या अपराध है वह सुनो, तुम बहुत थे, वह एक था, 'तु' शब्द से अन्य प्रकार करने का निवारण करते हैं, महान् अस्त्र का प्रयोग करना अथवा भागना अधर्म है, तुम युद्ध जानने वाले बहुत हो, एक ही समय में अधर्म से स्त्री की रक्षा करने में व्यग्र अकेले बालक को खण्डशः साधन नाश कर जीता है, यह एक अपराध है । दूसरा दोष, उसको बान्धना है, तो भी इन अपराधों को हमने सहन कर लिया है ॥२२॥

आभास—एतावच्छ्रुत्वा रुष्टा जाता इत्याह वीर्येति ।

आभासार्थ—इतना सुन कर वे रुष्ट हुवे, 'वीर्य शौर्य' श्लोक से कहते हैं :—

श्लोक—वीर्यशौर्यबलोन्नद्धमात्मशक्तिसमं वचः ।
कुरवो बलदेवस्य निशम्योचुः प्रकोपिताः ॥२३॥

श्लोकार्थ—वीर्य, शूरवीरता और बल से उत्तम और अपनी शक्ति के समान बलदेव के वचन सुनकर कौरव क्रोधित होकर कहने लगे ॥२३॥

सुबोधिनी—वीर्यं क्रियाशक्तिः, शौर्यं स्वभावः, बलं देहस्य, त्रिभिरुन्नद्धं वचः फलपर्यवसायीति। उग्रसेनो युष्मानाज्ञापयदिति वीर्येणोन्नद्धम्। क्षितीशेश इति शौर्येण। मा विलम्बितमिति बलेन। यद्यूयमिति आत्मशक्तिसमम्। कुरव इति अभिमानार्थम्। तद्धर्म एव युक्तः, न तु तदीयाः। राजानमप्रयोजकं जानन्त्येव। बलस्य परं तादृशं वचनम्। यदि स्वयं वदेत्, ममाज्ञयैव एतत्कर्तव्यमिति, तदा क्रोधो न भवेत्। वस्तुत ईश्वरत्वात् अस्माकं तेषामपि भक्तत्वाविशेषेऽपि यद्यादवेष्वेवैश्वर्यं स्थापयित्वा अस्मास्वीशितव्यत्वं स्थापयति, तत्र हेतुर्न कुलीनत्वादि, तथा सत्यस्मास्वेवोचितं स्यात्। साधारणलीलेयं न भवतीति न स्वेच्छया यथासुखं करणम्, भक्तार्थं हि भगवानवतीर्णः, सा च भक्तिः कारणानुरोधादुद्गता कौरवेष्वेव पुष्टा भवितुमर्हति, नाकौरवेषु। ईश्वरत्वाद्भक्तिमपि तेभ्य एव प्रयच्छतीति चेत्। न। तथा सति वैषम्यं स्यात्। अतः सिद्धामेव भक्तिमाश्रित्य भगवान् वदतीति कारणाधीनत्वं च भक्तेर्ज्ञात्वा स्वोत्कर्षं स्थापयितुं किञ्चिदुक्तवन्त इत्यर्थः। यतस्तेनैव वाक्यैः अन्तर्यामितया वा प्रकर्षेण कोपिताः ॥२३॥

व्याख्यार्थ - वीर्य का आशय क्रिया शक्ति है, 'शौर्य' का भाव बलदेवजी का स्वभाव ही ऐसा है, 'बल' शब्द से बलरामजी का शरीर ही बलरूप है यह प्रकट किया है, इन तीन कारणों से ही तेजस्वी उत्तम वाक्य बलरामजी ने कहे जो फल पर्यवसायी थे, अब एक एक पद का स्पष्टीकरण करते हैं उग्रसेन तुमको आज्ञा देते हैं ये वाक्य वीर्य पूर्ण होने से वीर्य को प्रकट करने वाले हैं। उग्रसेनजी पृथ्वी पतियों के भी स्वामी हैं, यह वाक्य शौर्य दिखाने वाला है। देरी न करो, यह वाक्य बल का द्योतक है। 'यत् यूय' 'कुरव' पद से उनका अभिमानी स्वभाव प्रकट किया है, उनका धर्म ही युक्त है, न कि वे तदीय है। राजा की कोई आवश्यकता नहीं है, यों जानते ही है, यदि बल स्वयं यह वचन कहे कि मेरी आज्ञा से यों करो, तो उचित ही है, तब क्रोध उत्पन्न न होवे। क्योंकि वे वास्तविक हमारे ईश्वर हैं। वे विशेषतया हमारे समान भक्त नहीं है, तो भी उन यादवों में ही ऐश्वर्य स्थापन कर पश्चात् हममें ईशपन स्थापन करते हैं। उनमें ईश्वरत्व स्थापन करने में हेतु उनकी कुलीनपन नहीं है, यदि वह हो तो, हम में ही स्थापन करना उचित है। यह साधारण लीला नहीं है, इस लिये अपनी इच्छा से जैसा आवे वैसा करना उचित नहीं है, कारण कि, भगवान् ने भक्तों के हितार्थ अवतार धारण किया है। वह भक्ति कारण, के अनुरोध से उत्पन्न, कौरवों में पुष्ट होनी चाहिये, न कि कौरवेत्तर यादवों में, यदि कहो कि ईश्वर होने से भक्ति भी उनको ही देते हैं, प्रभु होने से ऐसी ही इच्छा है, इस पर कहते है कि, 'नहीं' यों न करना चाहिये इस प्रकार करने से विषमता होती है, अतः सिद्ध हुई, भक्ति का आश्रय कर भगवान् कहते हैं, इसलिये भक्ति को कारण के आधीन जान कर ही अपना उत्कर्ष दिखाने के लिए वा स्थापन करने के लिए कुछ कहने लगे, यों आशय है, क्योंकि उसने ही वाक्यों से अथवा अन्तर्यामिपन से उनमें क्रोध उत्पन्न किया है ॥२३॥

आभास— स्वोत्कर्षख्यापकानि पञ्चवाक्यान्याह अहो महच्चित्रमिति।

आभासार्थ—अपना उत्कर्ष प्रसिद्ध करने वाले वाक्य 'अहो महच्चित्र' श्लोक में कहते हैं:—

श्लोक—कुरव ऊचुः—अहो महच्चित्रमिदं कालगत्या दुरत्यया।
आरुरुक्षत्युपानद्वै शिरो मुकुटसेवितम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—कौरव कहने लगे कि काल की गति समझ में नहीं आती है, यह महान् अचम्भे की बात है कि जिस सिर पर मुकुट धरा जाता है, उस सिर पर जूती चढ़ना चाहती है ॥२४॥

सुबोधिनी - देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणात्मधर्मो उत्कर्षः क्रमान्निरूप्यते। तत्र देहोत्कर्षे वस्तुतो विचार्यमाणे यादवा धर्मरहिताः स्वेच्छाचाराः चर्मपुटप्रायाः, कौरवास्तु देवाधिष्ठिताः मुकुटाश्रयशिरस्थानीयाः। अयमर्थः पारमार्थिकः। एवं सति कौरवेभ्योऽपि यादवोत्कर्षे वस्तुसामर्थ्याभावात् कालवशादेव तथा भवतीति, कालश्चेश्वरो नियन्तुमशक्य इति, पूर्वं कदाप्येवं न जातमिति, महच्चित्रं भवति। तत्र हेतुः दुरत्यया कालगत्येति। ईश्वरवाक्यात् दुरत्ययत्वम्, अन्यथा असम्बद्धवाक्यतायां न किञ्चिद् दूषणं स्यात्। वै निश्चयेन। उपानच्छिर आरुरुक्षतीति। मुकुटवंशादिभिर्व्यासादिभिश्च सेवितम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ - देह इन्द्रियों, प्राण, अन्तःकरण और आत्मधर्मों का उत्कर्ष क्रम से निरूपण किया जाता है। पहले यादवों से अपनी देह का उत्कर्ष बताते है, देह के उत्कर्ष का वास्तविक रीति से विचार किया जावे, तो यादव धर्म रहित, स्वेच्छाचारी केवल चमड़े से बने हुये शरीर वाले है। कौरव तो देवाधिष्टित और जिस पर मुकुट धरा जाता है ऐसे शीर्ष जैसे उच्च स्थानीय हैं, यह पारमार्थिक यों होने पर भी कौरवों से यादवों का उत्कर्ष हो, ऐसे किसी प्रकार की वस्तु के सामर्थ्य का अभाव है किन्तु कालवश ही यों होता हैं, काल को ईश्वर भी नियम में नहीं ला सकता है, पहले कभी भी इस प्रकार नहीं हुवा है अतः महान् आश्चर्य है, इसमें क्या कारण है ? जिसका उत्तर देते हैं काल की गति जानी नहीं जाती है, ईश्वर वाक्य होने से दुरत्ययपन है, यों न होवे तो अर्थात् ईश्वर वाक्य होने से काल की गति समझी न जावे तो असम्बद्ध वाक्यता[1] में निश्चय से कुछ दूषण न होवे, इसमें दृष्टान्त देते हैं, जिस मस्तक को मुकुट वस्त्र आदि और व्यास आदि महर्षियों ने उच्च स्थान दिया है वह माना तथा पूजा है जिससे उस मस्तक पर सदैव मुकुट व पुष्प आदि पवित्र वस्तु धरी जाती है उस पर क्या जूता चढ़ना चाहता है ? अर्थात् हम जो उच्च हैं उन पर जूते के समान यादव चढ़ना चाहते हैं ॥२४॥

आभास—ऐन्द्रियकव्यवहारे विवाहशयनादौ हीनत्वमाह एते यौनेन संबद्धा इति।

आभासार्थ—'एते यौनेन सम्बद्धाः' श्लोक से इन्द्रिय सम्बन्धी विवाह शयन आदि व्यवहार में यादवों की हीनता कहते हैं—

---

१. जो वाक्य परस्पर सम्बन्धित न हो सके उनमें

श्लोक—एते यौनेन सम्बद्धाः सहशय्यासनाशनाः ।
　　वृष्णयस्तुल्यतां नीता अस्मद्दत्तनृपासनाः ॥२५॥

श्लोकार्थ—यादवों के साथ विवाह सम्बन्ध कर, राज्यासन देकर, इनके साथ सोना, बैठना और भोजन करके इनको अपने समान बनाया है ॥२५॥

सुबोधिनी – यूनो भावो विवाहो यौनम्. तेन संबद्धाः । पूर्वमेकोत्पन्ना अपि व्यवहारे हीना इति त्यक्त्वा अपि पुनः यौनेन संबद्धा इत्यर्थः । पृथादयः स्त्रियः तेभ्यः समानीता इति । ननु तथापि 'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपी'ति न्यायेन न समानयनमात्रेण तुल्यता भवतीति चेत् तत्राह सहशय्यासनाशना इति । शयनमासनं भोजन चेत् सह, येन सह तत्तुल्य एव भवतीति स्थितिः अत एव वृष्णयस्तुल्यतां नीताः । अनेन अज्ञानान्निषिद्धाचरणे प्रायश्चित्तं कर्तव्यमिति पक्षो निवारितः । एवं कुलधर्मविचारेण स्वस्योत्कर्षमुक्त्वा ऐश्वर्यविचारेणाप्युत्कर्षमाह अस्मद्दत्तनृपासना इति । पूर्वं हि ययातिना पूरव एव राज्यं दत्तम्, अन्ये ज्येष्ठा अपि तदधीनाः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि पूर्व में एक से उत्पन्न हुवे है, तो भी ये व्यवहार में हम से हीन थे, उस हीनता पर ध्यान न देकर इनसे विवाह सम्बन्ध जोड़ा, पृथा आदि स्त्रियां इनसे ली है यदि कहो कि 'स्त्री रत्न दुष्कुलादपि' इस न्याय से स्त्रियों के लाने से समानता नही होती है, जिसके उत्तर में कहते हैं, कि इनके साथ सोना, बैठना और भोजन आदि भी किये जिनसे इनकी समानता हो गई, इस प्रकार हमने इनको कृपा से अपने समान बनाया है, यो कहने से यह सूचित किया कि वह पक्ष अज्ञान से कोई निषिद्ध आचरण हो जावे तो उसका प्रायश्चित किया जाता है, वह पक्ष अमान्य कर दिया है, इसी तरह कुल के धर्म विचार से अपना उत्कर्ष बताकर, ऐश्वर्य के विचार से भी अपनी बड़ाई प्रकट करते हैं कि 'अस्मद्दत्त नृपासनाः' इनके राज्य था ही नहीं वह भी हमने दिया है, जैसे कि पहले ही ययाति ने पुरु को राज्य दिया, दूसरे बड़े भी उसके आधीन हुवे ॥२५॥

आभास—एवं साधनानि स्वाधीनान्युक्त्वा तेषां भोगोऽप्यस्मदधीन एवेत्याह चामरव्यजने इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार साधन अपने आधीन थे कहकर उनका भोग भी अपने आधीन 'चामर व्यजने' श्लोक से बताते है —

श्लोक—चामरव्यजने शङ्खमातपत्रं च पाण्डुरम् ।
　　किरीटमासनं शय्यां भुञ्जन्त्यस्मदुपेक्षया ॥२६॥

श्लोकार्थ—ये यादव चँवर, व्यजन, शङ्ख, श्वेत छत्र आसन और शय्या; इन सबका भोग तब कर सकते है, जब हमने उपेक्षा कर दी हैं ॥२६॥

सुबोधिनी चामरव्यजने परितः। शङ्खोऽग्रे आतपत्रं पश्चात्. तत्रापि पाण्डुरं श्वेतम्। किरीटमुपरि। आसनमधः। शय्या निद्रावस्थायाम् एतानि सप्तमहाराजचिह्नानि अन्येषामयुक्तानि राजभिरवश्यं अन्यत्र दृष्टानि निषेद्धव्यानि। तथापि तुल्यतां नीता इति राजभिरस्माभिरुपेक्षितानि भुञ्जते। भोगः प्राणधर्म इति तदुत्कर्षो निरूपितः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—महाराजाओं के सात चिन्ह हैं चामर, व्यजन, शङ्ख, श्वेत छत्र, मुकुट, आसन और शय्या, ये महाराजाओं के पास अवश्य होने चाहिये, दूसरे इन चिन्हों को रखने के योग्य नहीं है, उन (दूसरों) के पास देखने में आवे तो निषेध किया जाता है, ये सात चिन्ह इस प्रकार काम में, लाये जाते हैं, चामर और व्यजन चारों तरफ फिराये जाते हैं, जिससे वायु हो एवं मक्खी आदि महाराजा को श्रम न देवे शङ्ख आगे ध्वनि करते हुए महाराजा के आने की सूचना देता है, छत्र पीछे के भाग में ऊपर धरा जाता है, जिससे धूप आदि से रक्षा होती है, मुकुट शिर पर धरा रहता है, आसन बैठने के लिये नीचे रहता है, नींद के लिये शय्या की आवश्यकता रहती है, इस प्रकार सात चिन्ह महाराजाओं के पास रहने ही चाहिये जिनका वे उपभोग कर सकते है, किन्तु ये यादव हमारे दिये हुए राज्य और इन चिन्हों को इसलिए उपभोग कर रहे हैं, क्योंकि हमने उपेक्षा की है। भोग, यह प्राणों का धर्म है इसलिये उसका उत्कर्ष निरूपण किया है ॥२६॥

आभास—आज्ञापनादिरन्तःकरणधर्म इति तदसहमानाः तन्निषेधपूर्वकं तदपकर्षमाहुः अलं यदूनामिति।

आभासार्थ– आज्ञा आदि देना अन्तःकरण का धर्म है, इसलिये उसको सहन न करते हुए ऐसी अनुचित आज्ञा का हम कैसे पालन करें? अतः इनका अपकर्ष 'अलं यदूनां' श्लोक से वर्णन करते हैं–

श्लोक—अलं यदूनां नरदेवलाञ्छनैर्दातुः प्रतीपैः फणिनामिवामृतम्।
ये नः प्रसादोपचिता हि यादवा आज्ञापयन्त्यद्य गतत्रपा बत ॥२७॥

श्लोकार्थ—बड़े खेद का विषय है कि हम कौरवों की कृपा से बढ़े हुए ये यादव आज निर्लज्ज होकर हम (दाताओं) को आज्ञा करते हैं, जैसे सर्प को दूध पिलाकर बढ़ाया जाता है, तो वह सर्प पिलाने वाले को काटते लज्जाता नहीं, वैसे ही ये यादव हमसे राज्य और राज्य-चिन्ह पाकर बढ़े हैं और अब हमारा ही अपमान कर आज्ञा करते हैं, अतः इनसे राज-चिन्ह छीन लेने चाहिए ॥२७॥

सुबोधिनी– नरदेवलाञ्छनानि पूर्वोक्तानि उपेक्षाविषयाणि। अलमिति निषेधार्थे। नरदेवलाञ्छनैरलम्। अतःपरं पूर्यताम्। अग्रे न स्थापनीयमित्यर्थः। दत्तापहारे हेतुः दातुः प्रतीपैरिति। अज्ञानाद्दत्तं स्वानिष्टसम्पादकत्वे निवारणीयमित्यत्र दृष्टान्तमाह फणिनामिवामृतमिति। 'सर्पस्य हि पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थकृ'दिति। स हि मत्ततां सम्पादयति, पश्चादन्धः सन् पोषकमपि

भक्षयति । तदस्मासु जानमित्याह । ये यादवाः नः प्रसादोपचिताः, अद्य गतत्रपाः सन्तः, अस्मानेवाज्ञापयन्तीति । बतेति खेदे ।।२७।।

व्याख्यार्थ—पहले बताये हुए राज-चिन्ह उपेक्षा के विषय हैं, 'अलं' यह शब्द निषेध अर्थ में है, अर्थात् अब ये चिन्ह यादवों के पास नहीं रहने चाहिये, अब तक रहे सो रहे आगे वहां रखने अनुचित हैं, देकर लौटाकर लेने का कारण कि मूल से दिये हुए है। अपने हो पदार्थ अपना अनिष्ट करे तो उनका निवारण करना चाहिये, जैसे सर्प दूध पिलाने वाले का अनर्थ करता है, दूध पीने से वह उन्मत्त हो अन्धा बन जाता है, पालन करने वाले को काटता है, वही अवस्था हम लोगों की हुई है, जो यादव हम लोगों के प्रसाद से पल कर बढे है, वे ही निर्लज्ज हो हमको आज्ञा करते है। दुःख का विषय है ।।२७।।

आभास—वस्तुविचारेणात्मधर्ममाश्रित्याहुः कथमिन्द्रोऽपीति ।

आभासार्थ—वस्तु को विचारते हुए आत्म धर्म का आश्रय कर 'कथमिन्द्रोऽपि' श्लोक में इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

श्लोक—कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिर्भीष्मद्रोणार्जुनादिभिः ।
अदत्तमवरुन्धीत सिंहग्रस्तमिवोरणः ।।२८।।

श्लोकार्थ—जैसे सिंह के हाथ आई हुई भेड़ आदि वस्तु उसकी कृपा के बिना कोई नहीं ले सकता है. वैसे ही भीष्म, द्रोण और अर्जुन आदि कौरवों के दिए बिना इन्द्र भी साम्ब को (छुड़ाकर) नहीं ले जा सकता है ।।२८।।

सुबोधिनी—भीष्मो हि कालकामपरशुरामादीनां जेता। ततोऽप्यधिको द्रोणः विद्यया तुल्योऽपि ब्राह्मण्यादधिकः। ततोऽप्यर्जुनः तच्छिष्योऽपि महादेवादिप्रसादैरुपचितः। एते त्रय आधिभौतिकादिरूपाः आदिभूता येषां तैः अदत्तं इन्द्रोऽपि कथमवरुन्धीत। इन्द्रो वस्तुतः सर्वाधिपतिः, तथाप्येते अधिकृताः, न हि देहादिषु प्रतिकूलेषु ईश्वरोऽपि भोगं प्राप्तुमर्हति। ननु स्वभागः, तेषां का दानापेक्षेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह सिंहग्रस्तमिवोरण इति। यद्यप्युरणस्यालपमेषस्य पुत्रो भार्या वा भागो भवति, तथापि सिंहग्रस्तः तत्कृपयैव प्राप्यते, तथैव साम्बः सभार्योऽस्मदवरुद्ध इत्यर्थः ।।२८।।

व्याख्यार्थ—भीष्मजी, काल, काम और परशुराम आदि को भी जीतने वाले है, उससे भी अधिक द्रोणाचार्य विद्या में समान होते हुए भी ब्राह्मण होने से अधिक है, उससे भी विशेष अर्जुन है क्योंकि द्रोण का शिष्य होने पर भी महादेव आदि देवों के प्रसादों से युक्त है, ये आधिभौतिक तीन रूप जिनके आदि (अग्रगण्य) है वैसे कौरवों के दिये बिना इन्द्र भी इस पकड़े हुए साम्ब को नहीं ले सकता है, यद्यपि इन्द्र वास्तविक रीति से सर्व के अधिपति है, तो भी ये अधिकृत अर्थात् अधिकार

वाले हैं,देह आदि यदि प्रतिकूल हो तो समर्थ भी भोग प्राप्त करने योग्य नहीं होते, (तो फिर) यह तो अपना भाग है,जिसमें दान की कौनसी अपेक्षा है?इसको दृष्टान्त से समझाते हैं, सिंह ग्रस्तमिवौरण'जैसे तुच्छ मेष की सन्तान अपना भोग है किन्तु जब उसको सिंह पकड़ लेता है तब वह कृपा कर देवे तो लिया जा सकता है अन्यथा नहीं, इसी प्रकार साम्ब उनका होते हुए भी हमने उसको स्त्री समेत पकड़ रखा है अतः भीष्म आदि कृपा कर देवे तो ले सकते हैं ।।२८।।

आभास—एवं पञ्चावयवमहङ्कारवाक्यं श्रावयित्वा निर्गता इत्याह जन्मेति ।

आभासार्थ इस प्रकार पांच अवयव वाला अहङ्कारयुक्त राम को सुना कर वहां से निकले यह वर्णन 'जन्म' श्लोक से श्री शुकदेवजी वर्णन करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच–जन्मबन्धुश्रियोन्नद्धमदास्ते भरतर्षभ ।
आश्राव्य रामं दुर्वाच्यमसभ्याः पुरमाविशन् ।।२९।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे भरतर्षभ ! सत्कुल में जन्म से और बान्धवों की कृपा से प्राप्त लक्ष्मी के कारण जिनका मद बढ़ गया है, वैसे असभ्य कौरव बलरामजी को दुर्वाच्य कहकर अपने नगर में चले गए ।।२९।।

सुबोधिनी—वाचनिककायिकातिक्रमे निरूपिते मानसिकोऽपि निरूपितप्रायः । एवमतिक्रमे हेतुः जन्मबन्धुश्रियोन्नद्धमदा इति । जन्म सत्कुले, बन्धुः बान्धवः, श्रीः लक्ष्मीश्च । जन्मनि बन्धुकृता या श्रीः औत्पत्तिकलक्ष्मीः, तया वा उन्नद्धः मदो येषाम् । भरतर्षभेति सम्बोधनं राज्ञो मायामोहाभावाय । 'दौष्यन्तिरत्यगान्माया'मिति वाक्यात् । अन्यथा क्षत्रियः स्वकीयापकर्षं न सहत इति । इयं कथा श्रवणविघातिका स्यात् । इदं वाक्यं रामं प्रत्येव स्पष्टम् । नत्वन्तःकरणेनापि स्वीकीयेषु । तदाह दुर्वाच्यं राममाश्राव्य पुरमाविशन्निति । ननु गृहे समागते नैवं वक्तुमुचितमित्याशङ्क्याह असभ्या इति । सतामेवैषा कथा । श्रीमदेनैव तेषामसत्त्वम्; अन्यथा अग्रे ऋजुत्वं न स्यात् ।।२९।।

व्याख्यार्थ—वाणी, काया और मन से किये हुए अतिक्रम का निरूपण हुआ, अब इस प्रकार अतिक्रम करने का कारण कहते हैं कि (१) सत्कुल में जन्म (२) बान्धव बहुत थे और (३) लक्ष्मी इन तीन कारणों से जिनका मद बढ गया है. वैसे कौरव. अथवा इस जन्म में बान्धवों के बल से वा कृपा से प्राप्त लक्ष्मी से जिनमें अहङ्कार की वृद्धि हुई है वैसे कौरव. बलरामजी को दुर्वाच्य कह कर पुर में प्रविष्ट हो गये. भरतर्षभः यह विशेषण राजा को इसलिये दिया कि राजा में माया मोह का अभाव है । जिसमें प्रमाण देते हैं कि 'दौष्यन्तिरत्यगान्मायाम्' दुष्यन्त कुल में उत्पन्न राजा माया को पार कर गये.अन्यथा क्षत्रिय अपना अपकर्ष सहन नहीं कर सके । यह कथा श्रवण को विशेष कर घात करनेवाली होवे यह वाक्य स्पष्ट रीति से राम के प्रति ही है,न कि अन्तःकरण से भी स्वकीयों के प्रति है जैसा कि 'दुर्वाच्यं राममाश्राव्य पुरमाविशन्' कहा है गृह में जाने के अनन्तर यों करना

उचित नहीं है, जिसके उत्तर में कहते है कि 'असभ्याः' असभ्य हैं यों तो यह कथा सज्जनों की है केवल श्री के मद से उनमें असभ्यता आ गई है, यदि यों न होवे तो, आगे चल कर उनमें ऋजुता न आनी चाहिये, जिसका आशय है कि ये सज्जन है किन्तु लक्ष्मी के मद के कारण इनमें असभ्यता ने प्रवेश किया है ॥२६॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह दृष्ट्वा कुरूणामिति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'दृष्ट्वा कुरूणा, श्लोक में कहते है—

श्लोक—दृष्ट्वा कुरूणां दौःशील्यं श्रुत्वाऽवाच्यानि चाच्युतः ।
कोपसंरब्धो दुष्प्रेक्ष्यः प्रहसन्प्रभुः ॥३०॥

श्लोकार्थ—कौरवों का दुष्ट स्वभाव देख और दुर्वचन सुन कोप से भर गए, जिससे देखे नहीं जाते, जैसे वे अच्युत और प्रभु होने के नाते हँसते हुए कहने लगे ॥३०॥

सुबोधिनी—अवगणनां कृत्वा गमनं दौःशील्यम्, अन्यथा बान्धवातिक्रमो महदतिक्रमश्च न भवेदिति । अवाच्यान्यपि श्रुतवान् । अवाक्यानि तादृशवाक्यानि वा । अच्युत इति भयाभावाय । स्वयमपि तानि वाक्यानि दूषयितुं अवोचत् । अन्यथा देहेन निराकरणेऽपि वाक्येन (न) निराकृताः स्युः । कोपसंरब्ध इति । भगवत्कृतं न मन्यन्त इति । अन्तर्गुप्ते क्रोधे अपकार एव, झटिति कृते विलष्टता स्यादिति क्रोधस्य बहिराविष्कारमाह दुष्प्रेक्ष्य इति । प्रहसन्निति दुःखाभावाय । यतः प्रभुः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—तिरस्कार कर चला जाना ही असभ्यता है,यदि असभ्यता न होती तो बान्धवों का अतिक्रम और महत्पुरुषों का अतिक्रम न करते, इस प्रकार न कहने योग्य वचन भी असभ्यों के सुने, वाणी में न आने योग्य वाक्य तथा अश्लील वाक्य सुने, ऐसे वाक्यों के सुनने पर भी भय का अभाव रहा अर्थात् राम को किसी प्रकार भय न हुआ, क्योंकि 'अच्युतः' आप च्युति रहित है, अनन्तर स्वयं भी उनके वाक्यों को दूषित करने के लिए कहने लगे अन्यथा देह से निराकरण होने पर भी वाक्य से (न)निराकृत होवे,भगवान् की आज्ञा नहीं मानी, इसलिये कोप से भर गये, यदि वह क्रोध भीतर समा लेवे तो उसमें अपकार ही होवे, शीघ्रता करे तो विलष्टता हो, इसलिये क्रोध को बाहर निकाला जिससे आपकी आकृति ऐसी हो गई जिसको कोई देख नही सकता किन्तु विशेषता यह थी, कि क्रोध प्रकट भी किया तो भी दुःख नहीं था इसलिये हंसते हुए कहने लगे क्योंकि 'प्रभु' सर्व प्रकार समर्थ हैं ॥३०॥

आभास—पञ्चवाक्यानामर्थं स्थानत्रयेण नवभिर्निराकृत्य नवभिः कर्तव्यं प्रतिज्ञाय दशमेनाध्यवस्यति नूनमिति दशभिः श्लोकैः ।

आभासार्थ —पांच वाक्यों के अर्थ को नव श्लोकों से स्थानात्रय से निराकरण कर तथा उनमें कर्त्तव्य की प्रतिज्ञा की है और दशवें श्लोक से क्रिया को कहते हैं वे १० श्लोक 'नून नाना' श्लोक से प्रारम्भ होते हैं—

श्लोक—नूनं नानामदोन्नद्धाः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः ।
तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लकुटो यथा ॥३१॥

श्लोकार्थ—यह निश्चय है कि असाधु पुरुष जब अनेक मदों से मत्त हो जाते हैं, तब वे शान्ति नहीं चाहते हैं, उनको शान्त करने का उपाय डण्डा ही है, जैसे पशु डण्डे से ही शान्त होता है ॥३१॥

सुबोधिनी—'विद्यामदो धनमद' इत्यादिवाक्यैर्मदा निरूपिताः । तद्युक्ता नीतिवाक्यानि न मन्यन्ते । अतस्तेषां प्रतीकारः क्रियैव, न वाक्यानि । अतो यदेतन्निराकृतमनङ्गीकरणवाक्यै। तद्युक्तमेव । अतः शमार्थं प्रयुक्ता विफला जाता इति क्रिययैव दण्डरूपया शमः कर्तव्यः, तदाह तेषां हि प्रशमो दण्ड इति । एतत्स्वोपक्रमानुसारेणोपक्रमविचारेणोक्तम् । उपसंहारे त्वन्यथा वक्तव्यम् । शममात्रमुपक्रमः, मारणमुपसंहारः, ततो विरोधः । मारणोद्यम एव शमो भवतीति । ननु क्रियया दण्डे सुतरामेव प्रकोपः स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह पशूनां लकुटो यथेति । स हि दण्डो लोकप्रसिद्धः । स यथा दृष्ट एव पशूनां भयजनको भवति, उद्यतो वा, तथा सर्वस्वनाशः उद्यतो ज्ञातो वा पशुतुल्यानां भयजनकः ॥३१॥

व्याख्यार्थ—'विद्यामदो धनमद' आदि वाक्यों से शास्त्रों में मद के प्रकार कहे गये है, उन मद से जो युक्त होते है अर्थात् जिनमें इस प्रकार का मद स्थान पा लेता है, वे नीति के वाक्यों को नहीं मानते है,अर्थात् वे नीति से नहीं समझते हैं इसलिये इनके समझाने का उपाय क्रिया ही है, न कि वाक्य, इसलिये इनको नीति वाक्यों से समझाया गया किन्तु उनसे इन को समझ नहीं आई जिससे इन्होंने माना नहीं, कारण कि ये मद से मत्त हो गये हैं, अतः इन्होंने जो किया वह इनके अनुरूप ही है : अतः शान्ति के लिये जो वाक्य कहे वे निष्फल[1] हो गये, इसलिये दण्ड स्वरूप क्रिया से ही इनको शान्त करना चाहिये । वह दृष्टान्त से समझाकर कहते हैं कि 'तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लकुटो यथा' जैसे पशु डण्डे से शांत होते हैं वैसे ही मदमत्त भी डण्डे से शान्त होते हैं । ऊपर जो कहा वह उपक्रम के अनुसार, उपक्रम के विचार से कहा । उपसंहार में दूसरे प्रकार से कहना चाहिये, केवल शान्ति हो इतना ही उपक्रम है, मारना उपसंहार है । इससे विरोध[2] है मारने का उद्यम ही शांति है, शंका करते हैं कि यदि क्रिया से सजा दी जायेगी तो सुतराम ही विशेष कोप होगा? जिसके उत्तर में दृष्टान्त देते हैं कि जैसे पशु डडे को देखते ही शांत हो जाते हैं लगने पर तो सदैव के लिये शांत रहते हैं वैसे ही मदान्ध पशु तुल्य मनुष्यों को डंडा ही भय पैदा कर शांत करता है ॥३१॥

१—व्यर्थ २— फुट नोट में 'नापि विरोध'पाठ दिखाया है जिसका अर्थ है कि यों कहते हुए भी विरोध नहीं है ।

आभास—नन्वेवं सति यादवाः किमिति निवारिता इत्याशङ्क्य तथा सति वैषम्यं स्यात्, न दण्डः, नहि शत्रुजयादिर्दण्डो भवति, अतो हितकारिण एव वयमिति पूर्वोपक्रान्तां स्वक्रियामाह अहो इति ।

आभासार्थ—यदि यों है तो यादवों को क्यों रोका? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यदि यादवों को न रोका जाता तो आपस मे विषमता पैदा होती, दण्ड (सजा) न होता । शत्रु को जीत लेना दण्ड नही है, अत हम दोनों के हित करने वाले हैं, इसलिये पहले प्रारम्भ की हुई अपनी क्रिया का वर्णन इस 'अहो यदून्' श्लोक से करते है

श्लोक—अहो यदून्सुसंरब्धान्कृष्णं च कुपितं शनैः ।
सान्त्वयित्वाहमेतेषां शर्मिच्छन्निहागतः ॥३२॥

श्लोकार्थ—अहो ! कुपित यादव लड़ने के लिए उद्यत थें और श्रीकृष्ण भीं कुपित थे, इनको धीरे-धीरे शान्त कराके, दोनों के हित की इच्छा से मैं यहाँ आया हूँ ॥३२॥

सुबोधिनी - शान्तिकर्तरि प्रकोपश्चाश्चर्यम् यदवः सर्वे सुसंरब्धाः मारणोन्मुखाः समर्थाश्च । नन्वदृष्टवशादुर्वरिताः, किं तव पौरुषमिति चेत्, तत्राह कृष्णं च कुपितमिति । भगवद्विचारमात्रेणैव सर्वं सिध्यति, किं पुनः कुपिते । कृष्ण इति भक्ताधीनः, कालात्मा वा । तेनादृष्टादयस्तदनुगुणा एवेति तेषां सर्वमेव प्रतिकूलम् । तान् सर्वान् शनैः सान्त्वयित्वा, न तु बलात्, च स्वसामर्थ्यप्रकाशनेन, तथाकरणे हेतुः अहमिति । अहङ्कारादेते बन्धनं कृतवन्त इति तदधिष्ठाता चाहमिति तेषां शान्तिमेव वाञ्छन्निहागतः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—अहो ! शब्द कहने का भावार्थ बताते हैं कि शांति करानेवाले पर क्रोध करना आश्चर्य है । यादव सब तैयार थे मारने के लिये आक्रमण करने वाले थे और यों करने में समर्थ भी थे, अदृष्ट के वश होने से रुक गये आपका इस में कौनसा पौरुष है यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि केवल यादव कुपित नहीं थे किन्तु श्रीकृष्ण स्वंय भी क्रोध में आ गये थे, भगवान् के केवल विचार से सर्व सिद्ध हो जाता है, फिर कुपित होने पर क्या न होगा? 'कृष्ण नाम देने से यह बताया है कि वे तो भक्तों के आधीन है अथवा कालात्मा हैं इससे अदृष्ट आदि उनके पीछे ही चलने वाले गुण हैं, इस प्रकार उन (कौरवों) के प्रतिकूल था उन सर्व को धीरे-धीरे शांति कराई, न कि बल से और न अपना सामर्थ्य प्रकट करने से, यों करने में कारण 'अहम्'—मैं हूँ, क्योंकि इन्होंने अहंकार से साम्ब का बन्धन किया है, उस अहङ्कार का अधिष्ठाता मैं हूँ इसलिये उन अभिमानियों को शांत करने की इच्छा से हो मैं यहां आया हूँ ।

आभास—सा च शान्तिर्वाक्यैर्न जातेति क्रियार्थमाह त इम इति ।

आभासार्थ—वह शान्ति, वाणी के बोध द्वारा न हुई, इसलिये अन्य क्रिया से होगी, यह 'त इमे' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक— त इमे मन्दमतयः कलहाभिरताः खलाः ।
तं मामवज्ञाय मुहुर्दुर्भाष्यान्मानिनोऽब्रुवन् ॥३३॥

श्लोकार्थ— ये मन्द बुद्धि, कलह प्रिय, दुष्ट एवं अभिमानी मेरा तिरस्कार कर, न कहने योग्य वचन मुझे बार-बार कहने लगे । ३३॥

सुबोधिनी– यतो मन्दमतयः । तर्हि युद्धोद्यमे लौकिके शान्ता भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह कलहाभिरता इति । परस्परकलह एव अभितो रतिर्येषाम् । कलहे तु युद्धे मरणमेव, शान्तिर्नेति । नन्वन्तर्यामितया प्रेरणीया इति चेत्, तत्राह खला इति । मूलेच्छया तानन्तर्यामी तथैव प्रेरयतीति । तथापि त्वया शमार्थमुद्यमः कृत इति तदेव कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह तन्मामवज्ञायेति । तादृशशमकर्तारं माम् तत्तत्र वा । अङ्गीकारे हि वाक्यैः हितावरणादिभिश्च प्रबोधो भवति, नान्यथा । ते त्ववज्ञामेव कुर्वन्ति । मुहुरिति पुनः । परीक्षा निषिद्धा अवज्ञया मानसो दोष उक्तः । दुर्भाष्यान् दुष्टवाक्यानि चाब्रुवन् । अयं वाचनिको दोषः । मानिन इत्यग्रेऽप्यसमाधानम्॥३३॥

व्याख्यार्थ - जो वचन नहीं कहने चाहिये वैसे अयोग्य वाक्य मुझे कहने लगे, क्योंकि मन्द बुद्धि है, तब लौकिक प्रकार से युद्ध का उद्यम करने पर शांत होंगे? जिसके उत्तर में कहते हैं कि तो भी शांत न होंगे, कारण कि कलह प्रिय हैं, अर्थात् आपस से लड़ना ही जिनको प्यारा है वैसे हैं, कलह करने पर लड़ाई होगी जिसमे निश्चय मरना ही पड़ेगा शान्ति न होगी, यदि यों है, तो अन्तर्यामी स्वरूप से प्रेरणा कर शांति करालो, जिसके उत्तर में कहते हैं कि यों भी न हो सकेगा, कारण कि 'दुष्ट' है, अर्थात् मूल इच्छा से अन्तर्यामी इनको वैसी ही प्रेरणा करते है, तो भी आपने शांति के लिए उद्यम किया है तो अब भी वैसी ही प्रेरणा कीजिये, जिसका उत्तर देते हैं कि वैसी शांति चाहने वाले मुझे अपमानित कर रहे है, वह भी बार बार कर रहे हैं, शांति तो तब हो, जब वे कहे हुए शांति के वचन माने, न मानने पर शांति हो नहीं सकती, ऐसे दुष्टों को परीक्षा करनी निषिद्ध है । अवज्ञा करना मानस दोष है, यह बताया दोष पूर्ण दुर्वचन कहे यह उनका वाचनिक दोष प्रकट किया अहङ्कारी है यह कह कर बताया कि आगे भी शांति से समाधान न होगा ॥३३॥

आभास—ननु युक्तमेतेषां वाक्यम्, उग्रसेनवाक्यत्वेन त्वयापि किमित्युच्यत इत्याशङ्क्योग्रसेनस्य सर्वराजाधिपत्यं साधयति नोग्रसेनः किल विभुरिति ।

आभासार्थ—इनका उग्रसेन की आज्ञा विषयक कहना उचित है, उग्रसेन के वचनों से आप भी क्या कहना चाहते हो? जिसका उत्तर देते है 'नोग्रसेन' श्लोक से उग्रसेन सर्व राजाओं के स्वामी हैं यह सिद्ध करते हैं—

श्लोक—नोग्रसेनः किल विभुर्भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।
शक्रादयो लोकपाला यस्यादेशानुवर्तिनः ।।३४।।

श्लोकार्थ—उग्रसेन केवल भोज, वृष्णि और अन्धकों के राजा नहीं है, किन्तु जिसके आदेश के पीछे शक्र आदि देव भी चलते हैं, अतः वे सर्व प्रकार समर्थ हैं ।।३४।।

सुबोधिनी—स्वतो वचनाभावायाह किलेति । नाम्नैव तस्येश्वरत्वं पूर्वसिद्धं सूचितम् । तत्रापि विभुः लौकिकन्यायेनापि समर्थः । अन्यथा तत्पुत्रः कंसो राजा न भवेत् । किञ्च । साम्प्रतं भोजवृष्ण्यन्धकानामीश्वरः । त्रिविधानामपि यादवानां प्रभुः । अलौकिकं सामर्थ्यमाह शक्रादयो लोकपाला इति । भगवतः इच्छया आज्ञया वा । 'मयि भृत्य उपासीन' इत्यत्रैव तद्विवृतम् । यस्योग्रसेनस्य आदेशमाज्ञां अनुवर्तन्त इति । अन्यथा यथाभिलषितवृष्ट्यादि न भवेत् ।।३४।।

व्याख्यार्थ—'किल' निश्चय वचन कह कर यह बताते है कि केवल मेरे वचनों से वैसे नहीं किन्तु नाम से ही उनका ईश्वरपन प्रथम ही सिद्ध है, यदि यों न होता तो उनका पुत्र कंस राजा न बनता, किञ्च अब भोज, वृष्णि और अन्धकों का ईश्वर अर्थात् स्वामी है, तीन प्रकार के ही यादवों का प्रभु है, इस प्रकार लौकिक सामर्थ्य दिखला कर अब अलौकिक सामर्थ्य दिखलाते है, 'शक्रादयो लोकपालाः' भगवान् की इच्छा से अथवा आज्ञा से शक्र आदि लोकपाल भी जिस (उग्रसेन) की आज्ञा का पालन करते है 'मयि भृत्य उपासीन' श्लोक मे यह स्पष्ट किया है' यदि यों न हो तो जैसी, जितनी और जब वृष्टि आदि न होवे अर्थात् जैसी चाहते है वैसी ही तब-तब होती है, इस प्रकार लोकपाल भी आज्ञा मानते हैं ।।३४।।

श्लोक—सुधर्माक्रम्यते येन पारिजातोऽमराङ्घ्रिपः ।
आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनार्हणः ।।३५।।

श्लोकार्थ—जो सुधर्मा सभा में अपने बल से बिराज सकते हैं, देवताओं का पारिजात वृक्ष जो स्वर्ग में है, उसको भी लाकर भोग करते हैं; क्या वे राज्य सिंहासन के योग्य नहीं है ।।३५।।

सुबोधिनी—किञ्च । येन सुधर्मा आक्रम्यते, इन्द्रादयोऽपि नमस्कृत्य तां सभामारोहन्ति, तादृशीमाक्रामति । अमराङ्घ्रिपश्च पारिजातः आक्रम्यते । तन्मर्यादादूरीकरणात्तस्याप्याक्रमणम् । इन्द्रादीनामननुमतौ कथमेतद्द्वयं स्यात् । भगवत्सामर्थ्यमेतादृति नाशङ्कनीयम् । भगवतैवोग्रसेने ऐश्वर्यकला स्थापितेति नरत्ववत्तदधीनत्वमप्यङ्गीकृतमिति. 'अङ्गीकृता ग्लानिनं दोषाय' । अनधिकारिण एतेऽस्माभिस्तुल्यतां नीताः राज्यं च दत्तमिति यदुक्तम्, तन्निराकरोति आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनार्हण इति । न हि सर्वे राजानो भवन्ति । यद्येको राज्यार्हो न भवेत्,

तदैव तद्वचनं सार्थकं स्यात् । तत्र भाग्यं क्रिया-शक्तिश्च प्रयोजिके । तत्रापि क्रियाशक्तिः प्रयोजिका । यदिन्द्रं निर्जित्य पारिजातः ग्रानीय भुज्यते । ननु सा शक्तिः साम्प्रतं कुण्ठिता भविष्यतीति चेत्, तत्राह सोऽसाविति । स एव भगवानिदानीं ममाग्रे तिष्ठति, मैवं किलेत्युपलम्भार्थं प्रसिद्धिः ॥३५॥

व्याख्यार्थ – जो श्री कृष्णचन्द्र, सुधर्मा सभा को दबाकर उसमे विराजमान होते है, जिस सभा को इन्द्र ग्रादि देव प्रणाम करने के पश्चात् वहां चढ़ते हैं ग्रर्थात् उसमें बैठ सकते है, देवताग्रों के वृक्ष पारिजात को भी स्वेच्छा से लाकर ग्रपने गृह में धरते हैं, पारिजात वृक्ष स्वर्गीय वृक्ष है ग्रतः स्वर्ग में रहना चाहिये उसकी इस मर्यादा को दूर करना ग्रर्थात् मिटाना यह ही उस पर ग्राक्रमण कहा जाता है, इन्द्रादि लोकपालों की ग्राज्ञा वा सम्मति लिये बिना ये दोनों कार्य कैसे हुवे होंगे? ये दोनों कार्य भगवान् के सामर्थ्य से हुवे हैं इसलिये इनमें शङ्का नहीं करना चाहिये. भगवान् ने ही उग्रसेन में ऐश्वर्य कला स्थापित की है, इसलिये नरत्व की तरह उनका ग्राविनत्व भी ग्रङ्गीकार किया है, कारण कि शास्त्र में कहा गया है कि 'ग्रङ्गीकृता ग्लानिर्नदोषाय' छोटी बात भी यदि ग्रङ्गीकार की जाय तो फिर उसमें दोष नही लगता है, ये ग्रधिकारी नहीं थे हम लोगों के तुल्य कर दिये हैं, कौरवों ने जो कहा कि हमने राज्य दिया है, उसका निराकरण करते हैं जो स्वर्ग से देवताग्रो का पारिजात वृक्ष पृथ्वी पर लाकर जिसका उपभोग कर रहे है वैसे भी सिंहासन पर बैठने योग्य नहीं है क्या? सर्व राजा नही हो सकते हैं, यदि एक राज्य के योग्य न हो तब तो वह वचन सार्थक हो सकता है, उसमें भाग्य ग्रौर क्रिया(काम करने की)शक्ति दोनों प्रयोजक है किन्तु उनमें भी क्रिया शक्ति विशेष प्रयोजक हैं, जैसे कि इन्द्र को जीतकर पारिजात वृक्ष लाकर भोग किया जाता है, यदि कहो कि वह शक्ति ग्रब कुण्ठित (मन्द) हो गई होगी, इस पर कहते हैं कि 'सोऽसौ' वह भगवान् ग्रब भी मेरे पास ही है ग्राप यों मत कहो कि वह शक्ति कुण्ठित हो गई होगी, 'किल' निश्चय से वह शक्ति ग्रब भी वैसी ही विद्यमान(मौजूद) है, इस प्रकार कहना 'उपालम्भ' देने के समान है ॥३५॥

ग्राभास––भाग्योत्कर्षमाह यस्य पादयुगमिति ।

ग्राभासार्थ—'यस्य पादयुगं' श्लोक से भाग्य का उत्कर्ष कहते हैं ।

श्लोक—यस्य पादयुगं साक्षाच्छ्रीरुपास्तेऽखिलेश्वरी ।
स नार्हति किल श्रीशो नरदेवपरिच्छदान् ॥३६॥

श्लोकार्थ—जिसके चरणों की सेवा साक्षात् ग्रखिलेश्वरी लक्ष्मी करती है, वह लक्ष्मीपति क्या राज्य चिन्ह धारण करने के योग्य नहीं है ? क्या यों कहना उचित है ?॥३६॥

सुबोधिनी—सर्वेषां भाग्यं लक्ष्म्यधीनम्। अतः सा सर्वेश्वरी। सापि नीचतया भगवच्चरणारविन्दं सेवते। साक्षादित्याधिदैविकी, न तु दिव्यस्त्रीरूपा, नापि राज्यलक्ष्मीरूपा। यदाहुः 'चामरव्यजने शङ्ख'मिति, तद्दूषणार्थं हेतुमुक्त्वा, तदनूद्य दूषयति स नार्हति किल श्रीश इति। चामरव्यजनादयो नरदेवपरिच्छदाः। अनर्हत्वे हि तदुपेक्षया भोगो भवति। अन्यथा इन्द्रादीनामपि तथात्वं यथात्वं स्यात्॥ ३६॥

व्याख्यार्थ - सब के भाग्य लक्ष्मी के आधीन है. अतः वह सबको मालकिन है, वह सर्वेश्वरी होते हुए भी छोटी होकर भगवान् के चरणारविन्द की सेवा करती है वह सेवा करनेवाली लक्ष्मी, राज्य लक्ष्मी रूप नहीं है और न दिव्य रूप लक्ष्मी है' किन्तु साक्षात् पद देकर यह बताया है कि आधिदैविक स्वरूपा श्री है, यह जो कौरवों ने कहा कि 'चामर व्यजने शङ्ख' चत्र आदि राज्य चिन्ह भी हमारे दिये हुवे हैं इस कहने के हेतु पूर्वक दूषण देकर कहते हैं कि 'स नार्हति किल श्रीश' क्या लक्ष्मी पति इनको नहीं धारण कर सकते है, चँवर व्यजन आदि नृपति के चिन्ह हैं, अयोग्यत्व के कारण उसकी उपेक्षा से भोग किया जाता है नहीं तो इन्द्र आदि का भी तथात्व यथात्व हो जाय, अर्थात् वे भी वैसे बन जावे ॥३६॥

आभास—यदप्युक्तं अलं यदूना'मिति, तत्तदा स्यात्, यदि स्वतः सिंहासनं न स्यादिति वक्तुं तस्य सिंहासनोपपत्तिमाह यस्याङ्घ्रिपङ्कजरज इति।

आभासार्थ—कौरवो ने अलं यदूनां श्लोक में जो कहा वह तब हो सकता है, यदि उनको अपना स्वतः सिंहासन न होवे, यह बताने के लिये हेतु पूर्वक अपने सिंहासन की सिद्धि करते है—जिसका वर्णन 'यस्याङ्घ्रि, श्लोक में करते हैं—

श्लोक—यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजोऽखिललोकपालै-
मौल्युत्तमैर्धृतमुपासिततीर्थतीर्थम्।
ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः
श्रीश्चोद्वहेम चिरमस्य नृपासनं क्व ॥३७॥

श्लोकार्थ—दश दिक्पाल जिसकी चरण रज को अपने उत्तम मुकुटों से सिर पर धारण करते हैं और जिसके चरणों से उत्पन्न होने के कारण श्री गङ्गाजी तीर्थों की भी तीर्थ रूप हुई है, जिसकी कला के भी कलारूप ब्रह्मा, महादेव और मैं तथा लक्ष्मी जी जिसकी चरण रज को बहुत समय से मस्तक पर धारण करते हैं उनको यह नृपासन ध्यान में भी नहीं है ॥३७॥

सुबोधिनी – अष्टौ लोकपालाः परितः, उपरि ब्रह्मा, अधः शेषोऽहम् । एतेषां दशानामाशापालकानां मध्ये प्रभुणा भाव्यम् । स एव मुख्यो राजशब्दार्थः । प्रभुत्वं च दिक्पालकानां सर्वथा हीनभावावलम्बने भवति । एतत्तु सर्वैरेव दृष्टमिति सिद्धवन्निरूप्यते । यस्य चरणकमलरजः अखिललोकपालैः सर्वैरेव पूर्वोक्तैः । मौल्युत्तमैरिति करणम् । तेषामपि भगवदीयत्वसिद्ध्यर्थं लौकिकन्यायेन स्वामिसेवायां वा ऐश्वर्योत्कर्षमुक्त्वा धर्मोत्कर्षमाह । उपासिता तीर्थानामपि तीर्थभूता गङ्गा यस्य । कीर्तिमाह ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलाया इति । भगवतः कला जगदुत्पत्तिस्थितिविनाशकर्त्री काचित् । तस्यास्त्रयोंऽशाः सत्त्वादयः । तत्र रजो ब्रह्मा । तमो भवः । अहं सत्त्वम्, भूधरत्वात् । श्रियमाह श्रीश्चेति । चकारादन्तःस्थिते ज्ञानवैराग्ये निरूपिते । वयं सर्व एव यस्य रजः शिरसि स्थापयामः, तस्य नृपासनं क्व भवतीति व्यङ्ग्योक्तिः ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ – चारों तरफ आठ लोकपाल, ऊपर ब्रह्मा, नीचे शेष रूप मैं, दश दिशाओं के पालक इनके मध्य में 'प्रभु' विराजते है, यह ही मुख्य 'राज' शब्द का अर्थ है, 'प्रभुत्व' तब होता है जब दिशाओं के पालक अपना हीन भाव स्वीकार करें, इन दश दिक्पालों ने सर्वथा अपना हीन भाव स्वीकार किया है, यह तो सर्व ने प्रत्यक्ष देखा है, इसलिये सिद्ध की हुई क्रिया की तरह कहा जाता है, प्रथम कहे हुए सर्व लोकपालों ने चरण कमलों की रज को धारण करने के लिये अपने उत्तम मुकुटों को साधन बनाया है, उन लोकपालकों का भगवदीयत्व सिद्ध करने के लिये स्वामी की सेवा करने में ही ऐश्वर्य का उत्कर्ष होता है यह लौकिक न्याय से सिद्ध कर अब धर्मोत्कर्ष कहते हैं, तीर्थों की भी तीर्थ रूपी गङ्गा भी जिसकी चरण रज की उपासना करती है, अब भगवान् की कीर्ति का वर्णन करते हैं, ब्रह्मा महादेव, मैं जो उनकी कला के भी कलाएँ है। भगवान् की कोई कला है जो जगत् को उत्पन्न पालन और नाश करती है, उस कला के तीन अंश है जिनके नाम सतो, रजो और तमो गुण है, उनमें रजोगुण ब्रह्मा, तमोगुण महादेव, और सतोगुण मैं हूँ, क्योंकि पृथ्वी को धारण करता हूं। अब लक्ष्मी का वर्णन करते है और लक्ष्मी तथा 'च' पद से अन्तः स्थित ज्ञान वैराग्य का निरूपण किया है हम सब ही जिसकी रज शिर पर चढ़ाते है उनके समक्ष नृपासन क्या वस्तु है? अर्थात् कुछ नहीं है ॥३७॥

आभास – एतमभिप्रेतार्थं निरूप्य साक्षात्तदुक्तमर्थं खण्डयति भुञ्जते कुरुभिर्दत्तमिति।

आभासार्थ —इस प्रकार अभिप्रेत अर्थ का निरूपण कर उन कौरवों ने जो कुछ कहा उसका खण्डन 'भुञ्जते कुरुभिर्दत्तं' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—भुञ्जते कुरुभिर्दत्तं भूखण्डं वृष्णयः किल ।
उपानहः किल वयं स्वयं तु कुरवः शिरः ॥३८॥

श्लोकार्थ—कौरवों का दिया हुआ पृथ्वी का एक छोटा हिस्सा ही यादव भोगते हैं, इस प्रकार कहने का आशय यह है कि हम यादव जूते के समान और कौरव शिर के सदृश हैं ॥३८॥

सुबोधिनी - यद्दत्तं भूखण्डमात्रमेव भवति तत्रापि स्वरूपतोऽपि हीनत्वम् । उपानहः किल वयमिति । उत्कर्षस्य निरूपितत्वाद्बाधितार्थत्वं स्पष्टमेव ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ—जो कहा केवल भूखण्ड ही दिया है, उसमें भी स्वरूप से ही हीनपन है, हम जूते हैं, यों कहने से उत्कर्ष का निरूपण किया है, बाधित अर्थत्व तो स्पष्ट ही है॥३८॥

आभास—तर्ह्येवं सति किं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **अहो ऐश्वर्यमत्तानामिति** ।

आभासार्थ – यों है तो क्या करना चाहिये जिसका उत्तर 'अहो ऐश्वर्यमत्तानां' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—अहो ऐश्वर्यमत्तानां मत्तानामिव मानिनाम् ।
असम्बद्धा गिरो रूक्षाः कः सहेतानुशासिता ॥३९॥

श्लोकार्थ—अहो! मद्यपान किये हुए के समान, ऐश्वर्य मद से उन्मत्त अहङ्कारी पुरुषों की असम्बद्ध तथा रूक्ष वाणी को शिक्षा देने को समर्थ कौन सहन करेगा । अर्थात् कोई नहीं ॥३८॥

सुबोधिनी—तेषां वाक्यं न सोढव्यम् । ततो यत्कर्तव्यम्, तदग्रे वक्ष्यते । आदरणीयानां वाक्यं कर्तव्यम् । लोकेऽपि मत्तास्त्वनादरणीयाः । तत्राप्यैश्वर्येण नित्यमत्ताः । बहिर्व्यवहारे माननीयत्वमाशङ्क्य मत्तत्वाज्ज्ञानादेव तथात्वमिति ज्ञापयन् दृष्टान्तमाह मत्तानामिवेति । इवेत्यग्रेऽपि सम्बध्यते । मानिनामिवेति च । आत्मानमेव बहु मन्यमाना उन्मत्ता भवन्ति । ते सर्वदैव न माननीया इति दृष्टान्तद्वयम् । किञ्च । वाक्यान्यप्यसम्बद्धार्थानीत्याह असम्बद्धा गिरो रूक्षा इति । स्नेहेन बाधितार्था अपि प्रयोजका भवन्तीति, तदभावमाह रूक्षा इति । तत्र सहनमुभयेषां सम्भवति, विवेकिनामसमर्थानां च । वयं तु नोभयविधा इत्याह अनुशासितेति । लोके अनुशासनाधिकारिभिर्न सोढव्या इति ॥३९॥

व्याख्यार्थ—उनके वचन सहने योग्य नहीं है अतः सहने नहीं चाहिये, अनन्तर जो करना चाहिये, वह आगे कहेंगे, जो आदर करने के योग्य हैं उनका कहना मानना चाहिये । लोक में भी उन्मत्त, आदर देने के योग्य नहीं है, उनमें भी जो ऐश्वर्य से सदैव उन्मत्त रहते हैं, यद्यपि बाहर व्यवहार में मान देने के योग्य हैं, किन्तु ऐश्वर्य मद से मत्त होने के कारण अज्ञानी हो जाने से वैसे हो गये हैं जिसको जताने के लिये दृष्टान्त देते हैं, जैसे मनुष्य यों तो व्यवहार आदि में योग्य हैं किन्तु जब मद्य पान करता है तब मत्त होने से अपनी समझ गंवा देता है यथा तथा प्रलाप करता है, वैसे ही ऐश्वर्य से उन्मत्त भी होते हैं, किन्तु वे अपने को ही बड़े समझते हैं, जिससे सदैव उन्मत्त बने रहते हैं, अतः वे हमेशा मान देने योग्य नहीं है इसलिये दो दृष्टान्त दिये हैं, उनके वचन भी असम्बद्ध अर्थवाले होते हैं यदि वैसे भी वाक्य स्नेह से कहे जावें तो बाधित अर्थ वाले होने पर भी प्रयोजनवाले बन जाते हैं किन्तु उनमें स्नेह का अभाव है, जिससे वे रूक्ष होने से अप्रयोजक हैं (१) जो विवेकी होते है और (२) जो असमर्थ होते हैं, हम तो दोनों प्रकार के न होकर शासन करने वाले हैं, लोक में जो शासन करने वाले अधिकारी वर्ग है उनको सहन नहीं करने चाहिये ॥३९॥

आभास—ततो यत्कर्तव्यं तत्प्रतिजानीते अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामिति ।

आभासार्थ—अनन्तर जो कर्त्तव्य है उसकी 'अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामि' श्लोक में प्रतिज्ञा करते हैं—

श्लोक—अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामित्यमर्षितः ।
गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ दहन्निव जगत्त्रयम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—आज मैं पृथ्वी को कौरव हीन कर डालूंगा, यों क्रोध में आकर, हल हाथ में लेकर उठ खड़े हुए जिससे यों समझ में आया कि अब त्रिलोकी को जलाने के लिये कदाचित् तैयार हुवे हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—यादवेभ्यः कौरवमात्रस्यैव तैरुत्कर्षो निरूपित इति, भगवद्धस्ते मृतानां स्वर्गोऽस्तीति भूमिमेव निष्कौरवीं प्रतिजानीते । आदौ मनसि तस्योद्यममाह अमर्षित इति । कायिकमाह गृहीत्वा हलमुत्तस्थाविति । तस्योद्यमः सर्वजनीनो जात इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह दहन्निव जगत्त्रायमिति । सङ्कर्षणो हि प्रलये तथोत्तिष्ठति, यस्य मुखाद्वह्निरुद्गच्छति, त्र्यक्षश्च महादेवः, तद्रूपं प्रकटितवानित्यर्थः ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ—उन्होंने यादवों से कौरव मात्र का उत्कर्ष निरूपण किया है, भगवान् के हस्त से जो मरते हैं उनको स्वर्ग मिलता है, इसलिये पृथ्वी को ही बिना कौरव वाली करने के लिये प्रतिज्ञा करते हैं, पहले मानसिक उद्यम किया जिसके 'लिये अमर्षित विशेषण दिया है अर्थात् क्रोध आने से मन में यह निश्चय किया है कि पृथ्वी पर से कौरव मात्र का नाश करूंगा, फिर कायिक उद्यम किया, जैसे हल उठा कर खड़े हो गये, उनका उद्यम सर्वजनिन हो गया, यह जताने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि मानों तीनों लोकों को अब जला देंगे । सङ्कर्षण प्रलय करने के समय इस प्रकार ही उठते हैं, जिनके मुख से अग्नि प्रकट होती रहती है, त्र्यक्ष अर्थात् महादेव का स्वरूप अब प्रकट किया है ॥४०॥

आभास—क्रियामाह लाङ्गलाग्रेणेति ।

आभासार्थ—अब कौरव नाश के लिये जो क्रिया की उसका 'लाङ्गलाग्रेण' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—लाङ्गलाग्रेण नगरमुद्विदार्य गजाह्वयम् ।
विचकर्ष स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः ॥४१॥

श्लोकार्थ—हल के अग्र भाग से हस्तिनापुर को खोद कर गङ्गा में प्रवाहित करने के लिये खेंचने लगे ॥४१॥

सुबोधिनी- स्त्रियो बालाश्च युद्धे मारयितुमशक्या इति तस्यां भूमावुत्पन्नाः कौरवा एवेति, लोके प्रसिद्धा भविष्यन्तीति, नगरमेवोद्धिदायं जन्मान्तरेऽपि तथात्वाभावाय गङ्गायां प्रहरिष्यन् विचकर्ष । क्रियाद्वयं निष्पन्नम्, तृतीयां क्रियां निवारयितुं चकारः । प्रहरणे विलम्बहेतुमाह अमर्षित इति । अतिक्रोधावेशान्न कृतवान् । अविचारे वा, प्रहरणसङ्कल्पे हेतुः ॥४१॥

व्याख्यार्थ – युद्ध में स्त्रियां और बालक मारने कठिन हैं, इसलिये उस भूमि पर उत्पन्न कौरव ही मारे गये यों लोक मे प्रसिद्ध होगा, नगर को ही उखाड़ कर गङ्गा में डालते हुए खींचने लगे, इस प्रकार दो कार्य पूर्ण किये, तीसरी क्रिया नहीं की इसलिये 'च' अक्षर मध्य में दिया है प्रहरण में विलम्ब का कारण 'अमर्षित' है अति क्रोध से नहीं किया अथवा विशेष क्रोध होने के समय विचार बराबर नहीं रहता है, ऐसे समय में मारने का सङ्कल्प किया था अतः तीसरी क्रिया नहीं हुई ॥४१॥

आभास—कथमेतावता शिक्षा जातेत्याकाङ्क्षायामाह जलयानमिति ।

आभासार्थ – इतनी शिक्षा कैसे हुई ? जिसका उत्तर 'जलयानं' श्लोक में देते है—

श्लोक—जलयानमिवाघूर्णं गङ्गायां नगरं पतत् ।
आकृष्यमाणमालोक्य कौरवा जातसम्भ्रमाः ॥४२॥
तमेव शरणं जग्मुः सकुटुम्बा जिजीषवः ।
सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्बं प्राञ्जलयः प्रभुम् ॥४३॥

श्लोकार्थ – नाव की तरह घुर घुराते और किसी से खेंचे जाते नगर को गङ्गाजी में गिरते देख कर कौरव घबरा गये ॥४२॥

सकुटुम्ब, जीने की इच्छा वाले वे कौरव लक्ष्मणा सहित साम्ब को आगे कर हाथ जोड़ उन प्रभु श्री बलरामजी की शरण में गये ॥४३॥

सुबोधिनी—आ समन्तात् घूर्णा यस्मिन् तदाघूर्णं नगरम् । अत्रन्तं क्रिया वा । भिन्नं वाक्यं गङ्गायां पतदिति । मरणावश्यकताप्रतिबोधनं मरणं च ज्ञापितवान् । तत्र हेत्वन्तरनिराकरणाय बलक्रियादर्शनं कौरवाणामाह आकृष्यमाणमिति। कौरवत्वात्सहजदोषाभावः । जातसम्भ्रमा भीताः। अनेन गर्वनिवृत्तिरुक्ता । अतो दोषस्य निवृत्तत्वात् गुणस्य च विद्यमानत्वात् तमेव शरणं जग्मुः । ऐकमत्यमाह सकुटुम्बा इति । मोक्षाभावायाह जिजीषव इति । निमित्ते विद्यमाने शरणागतिमपि नाङ्गीकुर्यादिति साम्बस्य सभार्यस्यानयनमाह सलक्ष्मणमिति । लक्ष्मणासहितम् । प्राञ्जलयो विज्ञापनार्थाः । कथमपकर्षोऽङ्गीक्रियत इति चेत्, तत्राह प्रभुमिति ॥४२-४३॥

व्याख्यार्थ —जिसमें चारो तरफ घुर घुरा शब्द होने लगा वैसा वह हस्तिनापुर नगर गङ्गाजी मे गिरता देख कर समझने लगे कि अब हम अवश्य मरेंगे जिसका कारण अन्य कुछ नहीं है किन्तु

बलरामजी इसको खींच रहे हैं, कौरव होने का इनमें स्वाभाविक दोष तो था ही नहीं अतः भयभीत हुए, डर गये, यों कहने से यह बताया कि उनका अहङ्कार नष्ट हो गया,जिससे, दोष निवृत्त हो गये, गुण तो विद्यमान ही थे इसलिये उनकी ही शरण गये, यों नहीं था, कि कोई गया कोई नहीं गया सब साथ होकर सम्मत हो शरण गये. इसलिये कहा है कि 'सकुटुम्बा' कुटुम्ब सहित सब शरण गये। यदि प्रभु की क्रिया से मरते तो मुक्त हो जाते है, परन्तु वे मोक्ष न चाहकर जीना चाहते थे, 'निमित्त' विद्यमान होने पर शरणागति को भी अङ्गीकार न करे इसलिये स्त्री सहित साम्ब को साथ में ले आये, हाथ जोड़े, जिसका आशय प्रार्थना करनी है, ऐसे ऐश्वर्य मदोन्मत्तों ने अपना अपकर्ष कैसे अङ्गीकार किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'प्रभुः' श्री बलरामजी प्रभु हैं अर्थात् सर्व सामर्थ्य युक्त हैं, अतः यदि अपना अपकर्ष न मानते तो नष्ट हो जाते इसलिये नाश होने से अपने को बचाने के लिये अपना अपकर्ष माना ॥४२-४३॥

आभास—ते हि पूर्वं वार्तामात्रहारित्वं भगवतो ज्ञातवन्तः पश्चात्क्रोधे कृते भीताः स्तोत्रमाहुः पञ्चभिः राम रामेति ।

आभासार्थ—उन (कौरवों) ने पहले यों समझा कि यह बलरामजी केवल संदेश ले आने वाले हैं.अनन्तर जब उन्होंने क्रोध किया उस क्रोध को देखकर डर गये जिससे पांच श्लोकों से स्तुति करने लगे

श्लोक—राम रामाखिलाधार प्रभावं न विदामहे ।
मूढानां नः कुबुद्धीनां क्षन्तुमर्हस्यधीश्वरः॥४४॥

श्लोकार्थ—हे राम! हे राम! हे सबके आधार! हम आपके प्रभाव को नहीं जानते हैं, हम जो मूर्ख और कुबुद्धि हैं, उनके अपराध आपको क्षमा करने चाहिये, क्योंकि आप ईश्वरों के भी ईश्वर हैं ॥४४॥

पहले किये हुए अपराध की क्षमा का यह वर्णन करते हैं

कारिका—पूर्वं कृतापराधस्य क्षमापनमिहोच्यते ।
क्रीडार्थत्वं तत्र हेतुर्महत्त्वं चापि सान्त्वने ।
अन्यार्थं च समारम्भः शरणं च वयं गताः ॥१॥

कारिकार्थ—इस प्रकार लीला करने का 'हेतु' क्रीडा है शान्ति कराने में ही महत्व होता है यह समारम्भ अन्य के लिये है, अतः हम (कौरव) शरण गये ॥१॥

सुबोधिनी—तत्रापराधक्षमायां पञ्चहेतूनाह रामेति । रमणात्मकस्यादरेण द्विःसम्बोधनम् । अयमपि हेतुः । परं भगवद्धर्मः । अखिलाधारेति । वयमाधेयाः । न हि यो यं बिभर्ति, स तदपराधं

मन्यते । अज्ञानमपि हेतुरित्याह प्रभावं न विदामह इति । यद्यपि सहजः प्रभावो ज्ञायते, तथाप्यत्राविष्कारं (न) करिष्यसीति न जानीमः । सर्वत्रावतारेषु प्रतिज्ञातार्थमात्रपूरकत्वात् । नन्वेतादृशोऽप्यर्थः प्रतिज्ञासिद्ध एवेति कथमज्ञानम्, तत्राह मूढानामिति । विचाररहितानामिति । ननु सर्वेषां कथं विचाराभावः, तत्राह कुबुद्धीनामिति । दुर्बुद्धित्वात् केश्चिदुक्तमपि न गृहीतमित्यर्थः ।४४।

व्याख्यार्थ—कौरवों ने अपराधों की क्षमा मांगी, जिसके पांच हेतु कहते हैं—राम! राम! दो बार आदर के लिये कहा, जो प्रभु रमण करते हैं उनके लिये आदर होना चाहिये, यह भी (१) हेतु है भगवत् धर्म है, (२) हेतु कहते हैं कि 'अखिलाधारः' सब के आधार हैं, जिससे हम आधेय हो गये अत. जो आधार होकर जिसका पालन करते हैं उसके अपराध को ध्यान में नहीं लाते हैं, (३) हेतु बताते है-कि हम आपके प्रभाव को नहीं जानते है क्योंकि हममें अज्ञान है, यद्यपि आपका प्रभाव सहज है, सब जान सकते है फिर भी आप यहाँ प्रकट नहीं कर रहे हैं, इसलिये नहीं जान सकते हैं, यद्यपि सर्वत्र अवतारों में प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ मात्र के आप पूरक हैं यों होने पर प्रतिज्ञा सिद्ध हो है, फिर प्रभाव को नहीं जान सकते है यों कैसे कहते हो इस पर कहते है कि 'मूढानां' हम मूढ़ अर्थात् विचार हीन है, सब तो विचार हीन नहीं हो सकते है? जिसका समाधान करते हैं कि हम सब कुबुद्धि है, दुष्ट बुद्धि वाले होने से किसी का भी कहना नहीं माना ।।४४।।

कारिका—बुद्धीर्न शुद्धा नो शास्त्रं नापि ज्ञानं स्वतः क्वचित् ।
प्रभुः स्वामी भवांश्चापि धारकः क्षन्तुमर्हति ।।२।। ४४ ।।

कारिकार्थ—कौरवों को बलरामजी ने क्षमा दी जिसका कारण कौरवों में स्थित तीन हेतु हैं, (१)-देखा कि इनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है (२)-शास्त्र भी पढ़ा नहीं है और (३)-न स्वतः कोई स्वाभाविक ज्ञान इनमें है, इसलिये इन्होंने जो किया अथवा कहा वह ध्यान में लाने योग्य नहीं है, बलरामजी में दो गुण स्वतः है (१) आप प्रभु हैं तथा स्वामी हैं अतः आश्रय देने वाले तो क्षमा करना ही अपनी योग्यता समझते हैं-अतः क्षमा करते हैं—

आभास—किञ्च । अस्माभिरेवमपि न प्रार्थयितव्यम्, अतस्तवैव लीलास्थानं जगदिति तदाह स्थित्युत्पत्तीति ।

आभासार्थ—विशेष यह है कि हमको इस प्रकार भी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये कारण कि यह जगत् आपका ही लीला स्थान है कौरवों के इस लीला स्थान जगत् की पुष्टि श्री शुकदेवजी 'स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां त्वमेको हेतुर्निराश्रयः ।
लोकान्क्रीडनकानीश क्रीडतस्ते वदन्ति हि ।।४५।

श्लोकार्थ—इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति और नाश का निराधार आप ही एक कारण हैं. हे ईश! ये लोक, आप खिलाड़ी के खिलौने हैं ॥४५॥

सुबोधिनी—एकेनैवोत्पत्त्यादिकं क्रियते, स्वस्मिन्नेव स्थितेन। तत्र तथा करणे प्रयोजनं लीला। तदाह लोकान्क्रीडनकानिति। ईश इति सम्बोधनमन्यथा न कुर्यादिति ज्ञापयति। क्रीडनका यन्त्रादयः। अन्यक्रीडार्थपक्षं व्यावर्तयति क्रीडतस्त इति। वदन्तीति प्रमाणं व्यासादयः। युक्तश्चायमर्थः। पूर्णस्यान्यथा प्रवृत्तिरयुक्ता ।४५।

व्याख्यार्थ—अपने में ही स्थित एक, इस जगत् की उत्पत्ति पालन और नाश करते हैं, यों करने का कारण वा प्रयोजन 'लीला' है, इसकी पुष्टि के लिये कहते हैं, 'लोकान् क्रीड़कान्' ये लोक खिलौनेहैं. ईश! यह सम्बोधन देकर यह समझाया है कि स्वामी हैं अतः लीला करते है यदि स्वामी नहीं होते तो लीला न करते, खिलौने है तो कोई भी उनसे खेल सकता वा उनको अपना खिलौना बना सकता है, इस पर कहते है कि 'क्रिडतस्ते' आप ईश होने से खेलते हो.खिलाड़ी के खिलौने होते हैं दूसरे के नहीं। अतः ये खिलौने आप के हैं, इसमें प्रमाण क्या है? तो कहते हैं कि 'वदन्ति' व्यास आदि ऋषीश्वर यों कहते हैं - यह तात्पर्य उचित ही है, क्योंकि जो पूर्ण हैं उनकी लीला के सिवाय प्रवृत्ति उचित नहीं कही जाती ॥४५॥

आभास—किञ्च। समानेषु दण्डः क्रियते, न तु मशकतुल्येषु अतोऽतितुच्छत्वादस्मासु क्रोधो न युक्त इत्याशयेनाह **त्वमेव मूर्ध्नीदमिति**

आभासार्थ—किञ्च समान हो उनको दण्ड किया जाता है, न कि मच्छर जैसे तुच्छों को, अतः हम जो अति तुच्छ हैं उन पर क्रोध करना उचित नहीं है इस आशय को 'त्वमेव मूर्ध्नी' श्लोक में व्यक्त करते हैं —

श्लोक—त्वमेव मूर्ध्नीदमनन्त लीलया भूमण्डलं बिभर्षि सहस्र मूर्धन्।
अन्ते च यः स्वात्मनि रुद्धविश्वः शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे सहस्र मस्तक वाले हे अनन्त आप ही इस भूमण्डल को लीला से अपने शिर पर धारण करते हैं और प्रलय काल में अपने में जगत् को समा लेते हैं अन्त में आप ही एक शेष रहते हो जिससे आपका नाम शेष पड़ा है ॥४६॥

सुबोधिनी—अस्य नगरस्य कियती वार्ता, पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णं भूमण्डलं हे अनन्त मूर्ध्नि लीलया बिभर्षि। तादृशसहस्रमूर्धा भवान्। भूमण्डलादधिकमात्रपरिमाणमायाति, न व्यापकतेत्यनन्तेति। न केवलमन्यप्रेरणया धारणम्, किन्तु स्वरुच्या। यतः अन्ते स्वात्मनि रुद्धं विश्वं यतस्तादृशो भवान् अद्वितीयः शेषे शिष्टो भवसि। यतः परिशिष्यमाणः स्वयमेव। अतः शेषनामेति भावः ॥४६॥

व्याख्यार्थ - हे अनन्त! इस नगर की क्या कहें. पञ्चाशत् कोटि जिसका विस्तार कहा जाता है वैसा भूमण्डल लीला से मस्तक पर धारण करते हो ऐसे आप सहस्र मूर्धा हैं अतः भूमण्डल से आपका अधिक परिमाण आता है न कि व्यापकपन है इसलिये आप अनन्त हैं, इस भूमण्डल को अन्य की प्रेरणा से आपने धारण नहीं किया है. किन्तु अपनी प्रसन्नता से धारण किया है, क्योंकि अन्त में अपने विश्व को समाकर आप ही एक शेष पर पौढे रहते हो जिससे आपका नाम शेष है ॥४६॥

आभास—एवमपि महतः अत्यल्पेषु क्रियाविष्कारोऽनुचित इति निरूप्य कृतस्य कोपस्यान्यथा विनियोगमाह कोपस्त इति ।

आभासार्थ – इस तरह भी महान् का अति तुच्छों पर क्रिया का आविष्कार करना उचित नहीं है. यह निरूपण कर कहते हैं कि आपके किये हुए क्रोध का विनियोग अन्य प्रकार से है, जिसका वर्णन 'कोपस्ते' श्लोक में करते है —

श्लोक—कोपस्तेऽखिलशिक्षार्थं न द्वेषान्न च मत्सरात् ।
बिभ्रतो भगवत्सत्त्वं स्थिति पालनतत्परः ॥४७॥

श्लोकार्थ—आप द्वेष से अथवा मत्सर से क्रोध नहीं करते हो किन्तु लोक की शिक्षा के लिये कोप करते हो. सतोगुण को धारण कर अब जगत् की मर्यादा की रक्षा करने में संलग्न हैं ॥४७॥

सुबोधिनी – लोके द्वेषा कोपो भवति, द्विष्टे वा महत्युत्कर्षासहनाद्वा । तदुभयं न प्रकृते. किन्तु शिक्षार्थमेव । सर्व एव भगवतो बालका इति ज्ञापयितुमखिलपदम् । तत्र हेतुः बिभ्रतो भगवत्सत्त्वमिति । गुणान्तरैरसंस्पृष्टसत्त्वम् । अन्यथा बाधितं स्यात् । सत्त्वस्य च महत्प्रयोजनमित्याह स्थितिपालनतत्पर इति । जगतो मर्यादापालनं चान्यथा न स्यात् ॥४७॥

व्याख्यार्थ – लोक में कोप दो प्रकार से होता है (१) शत्रु पर द्वेष से (२) बड़े का उत्कर्ष सहन न होने से ईर्षा से होता है. वे दोनों ही आप में इस समय नहीं हैं, किन्तु अखिल (सर्व के शिक्षार्थ कोप कर रहे हो, 'अखिल' पद देने का आशय यह है कि सब भगवान् के बालक हैं, जिसमें कारण यह है कि आपने इस समय सतोगुण को ग्रहण कर लिया है वह सतोगुण भी शुद्ध हैं अन्य रजो वा तमोगुण ने उसका स्पर्श मात्र नहीं किया है, यदि उनसे मिलित न होवे तो जो लीला जिस प्रकार आप कर रहे हैं वैसे न बनती, आप तो अब 'स्थित पालन तत्पर' मर्यादा की रक्षा में संलग्न हैं, यदि इस शुद्ध सत्व को धारण न करते तो मर्यादा का संरक्षण न हो सकता ॥४७॥

आभास—शरणागतिं प्रार्थयितुं नमस्यन्ति नमस्त इति

आभासार्थ - शरणागति की प्रार्थना के लिये नमेंगे, यह 'नमस्ते' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक— **नमस्ते सर्वभूतात्मन्सर्वशक्तिधराव्यय ।**
विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः ॥४८॥

श्लोकार्थ—हे सर्वभूतों की आत्मा ! हे सर्वशक्ति को धारण करने वाले ! हे अविकारी ! हे विश्वकर्मन् ! आपको नमस्कार है, हम आपकी शरण आए हैं ॥४८॥

सुबोधिनी नमनमात्रेणैव प्रसादयोगाय । सर्वभूतात्मन्निति । आत्मा स्वल्पेनापि तुष्यति । सर्वशक्तिधरेत्यस्मदादितामसशक्तयोऽपि तवैव । अस्मदीयं सर्वं धर्माधर्मश्च भवानित्युक्तम् । एवं सत्यस्मदीयदोषसम्बन्धः स्यादित्याशङ्क्याह अव्ययेति । किञ्च । एतत्पुरभङ्गे पुनरप्येतत्कर्तव्यं स्यादित्याशयेनाह विश्वकर्मन्निति । विश्वं कर्म यस्येति । अन्यदाप्यतिक्रमाभावाय नमनं प्रार्थयन्ते नमस्तेऽस्त्विति । एवं प्रसन्नं विधायाहुः त्वां वयं शरणं गता इति ॥४८॥

व्याख्यार्थ– नमन मात्र से ही कृपा होती है, केवल नमन से कृपा का कारण यह है कि आप सर्व भूतों की आत्मा है, आत्मा स्वल्प से भी प्रसन्न होती है, हम मे जो तामस गुण है वह भी आपका ही है क्योंकि आप सर्व शक्तियों को धारण करते है अतः वे तामसादि शक्तियां आपकी ही है, हमारा सर्व धर्म तथा अधर्म आप है, यदि यों होगा तो हम मे भी दोषो का सम्बन्ध हो जायेगा, इसका उत्तर देते है कि नहीं, क्योंकि आप अव्यय अर्थात् अविकारी है इस नगरी को नाश करोगे तो फिर भी आप को ही बनानी पड़ेगी, कारण कि आप ही विश्वकर्मा हैं फिर भी कोई अतिक्रम न हो इसलिये कहते हैं कि आपको प्रणाम है, इस प्रकार स्तुति पूर्वक प्रणाम करने से प्रसन्न कर, फिर कहते है कि हम आपकी शरण आये हैं । ४८॥

आभास— तैः स्वाभिप्रायो ज्ञात इति प्रसन्नो जात इत्याह एवमिति ।

आभासार्थ—कौरवों का अभिप्राय जानकर प्रसन्न हुए बलदेवजी ने उनको अभय दिया, जिसका वर्णन 'एवं प्रपन्नैः' श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं—

श्लोक—**श्रीशुक उवाच–एवं प्रपन्नैः संविग्नैर्वेपमानायनैर्बलः ।**
प्रसादितः प्रसन्नोऽसौ मा भैष्टेत्यभयं ददौ ॥४९॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि इस प्रकार शरणागत, उद्वेग वाले और जिनका पुर कांप रहा था, वैसे कौरवों की प्रार्थना से प्रसन्न हुए बलरामजी ने **मत** डरो कहकर अभय दान दिया ॥४९॥

सुबोधिनी—प्रपत्तिः प्रतीकारः । संविग्ना मनसि पूर्वधर्मरहिताः । वेपमानमयनं स्थानं गृहं शरीरं च येषामिति भये हेतुः । शरीरे च गर्वाभाव उक्तः । अतस्त्रिधोत्तमधमवद्भिः प्रसादितः प्रसन्नो जातः प्रसादकार्यं कृतवानित्याह **मा भैष्टेत्यभयं ददाविति** । वाचा सह कायिकमकृत्वा मानसमभयं ददौ ॥४९॥

व्याख्यार्थ—शरणागत होना प्रतीकार (उपाय) है, मन में जो अहङ्कार था वह अब नहीं रहा, इतना ही नहीं किन्तु जिनका आश्रय स्थान गृह तथा शरीर काम्प रहा था जिसको देख डर रहे थे अतः शरीर में गर्व न रहा, जिससे उत्तम धर्मवालों ने तीन प्रकार से बलदेवजी को प्रसन्न किया, प्रसन्न होने से जो कार्य किया वह कहते है कि 'मत डरो' यों कहने से उनको अभय दिया वाणी और कायिक कार्य न कर मानस अभय दिया ॥४९॥

आभास—भयात्कन्यासमर्पणं वारयितुं पारिबर्हदानमाह दुर्योधन इति ।

आभासार्थ—दुर्योधन ने भय से कन्या दी, जिसका निवारण करने के लिये 'दुर्योधनः' श्लोक में कहते हैं कि दहेज पूर्वक कन्या दी—

श्लोक— दुर्योधनः पारिबर्हं कुञ्जरान्षष्टिहायनान् ।
दद्रौ च द्वादशशतान्ययुतानि तुरङ्गमान् ॥५०॥

श्लोकार्थ—दुर्योधन ने कन्या-दहेज में ६० वर्ष की आयु वाले १२०० हस्ती और एक लक्ष बीस सहस्र घोड़े दिए ॥५०॥

सुबोधिनी—षष्टिहायनाः पूर्णसंवत्सराः सहस्रं शतद्वयं च गजा द्वादशैवायुतानि तुरङ्गमाः ॥५०॥

व्याख्यार्थ—साठ वर्ष की आयु अर्थात् पूर्ण आयु वाले १२०० हस्ती और १ लाख २० हजार घोडे दुर्योधन ने पुत्री को दहेज में दिये ॥५०॥

श्लोक—रथानां षट्सहस्राणि रौक्मारणां सूर्यवर्चसाम् ।
दासीनां निष्ककण्ठीनां सहस्रं दुहितृवत्सलः ॥५१॥

श्लोकार्थ—पुत्री पर वात्सल्य भाववाले दुर्योधन ने पुत्री को और भी ६हजार सूर्य जैसे प्रकाश वाले सुनहरी रथ तथा पदक पहनी हुई हजार दासियाँ भी दी ॥५१॥

सुबोधिनी—रुक्मसम्बद्धानां रथानामिति । बलप्रीतिः सूचिता । सूर्यवर्चसां सर्वलोकप्रसिद्धानाम् । मासाः संवत्सरा ऋतवश्च शतादिसङ्ख्यया प्रीणिता इति कालस्त्रेधा सन्तोषितः । साम्बश्च महादेवावतारः, बलश्च, तथा कोपश्च त्रयोऽपि प्रीणिताः । अम्बां प्रीणयति दासीनामिति सहस्रेण । दुहितृवत्सल इति । दाने तस्याभिप्रायः । अदाने कदाचित्तो दुहितरि कोपं कुर्युरिति ॥५१॥

व्याख्यार्थ—सुवर्ण जड़ित ६ हजार रथ देकर बलरामजी को प्रीति का सूचन किया, वे रथ सूर्यवत् चमक रहे थे यों कह कर उनकी सर्व लोक में प्रसिद्धि प्रकट की, इनकी संख्या से मास, संवत्सर और ऋतु तीन प्रकार के काल को प्रसन्न किया, अर्थात् काल को तीन प्रकार से प्रसन्न किया, साम्ब

महादेव का अवतार है जिसको, तथा बलदेवजी और क्रोध को भी प्रसन्न किया. हजार दासियों के दान से अम्बा को प्रसन्न करते हैं, क्योंकि पुत्री पर वात्सल्य भाव है. दान करने में इस (दुर्योधन) का अभिप्राय यह है कि यदि इस प्रकार दहेज में न दूँ तो मेरी पुत्री पर ये (ससुराल वाले लोग) कोप करे अत. इतना भारी दहेज दिया ॥५१॥

आभास—तेषां प्रणिपत्तिमुक्त्वा बलभद्रस्य तदङ्गीकारमाह प्रतिगृह्येति ।

आभासार्थ—उनकी नम्रता आदि कह कर अब बलदेवजी ने दहेज स्वीकार किया यह वर्णन 'प्रतिगृह्य' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक— प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं भगवान्सात्त्वतर्षभः ।
ससुतः सस्नुषः प्रायात्सुहृद्भिरनुमोदितः ॥५२॥

श्लोकार्थ—यादव श्रेष्ठ बलदेवजी ने वह सब दहेज लेकर, कौरवों से सन्मान प्राप्त कर बेटे और बहू के साथ द्वारका को प्रस्थान किया ॥५२॥

सुबोधिनी—दानाभिनन्दनार्थं प्रतिग्रहपदम् अभयं स्वयं दत्तवान्, स्वयं च तद्दत्तं गृहीतवान् । तत्सर्वमिति । असङ्कोचात् शुद्धभावः तस्य स्थापितः । तत्र हेतुर्न दानम्; किन्तु स्वपक्षे भगवान् तत्पक्षे सात्त्वतर्षभ इति । भक्तानां स्वामी । अन्यजीवाः सापराधा एव भवन्तीति तथाविधस्यानङ्गीकारे भक्तिमार्गः उत्सन्नः स्यात् । स्वस्य तद्ग्रहणं वारयति ससुत. सस्नुष इति । सुहृद्भिरनुमोदित इति । पराक्रमेण वैषम्याभाव उक्तः । ॥५२॥

व्याख्यार्थ—दुर्योधन ने जो दिया उसकी बलरामजी ने प्रशंसा की इसलिये 'प्रतिग्रह' पद दिया है, आप (बलदेवजी) ने तो अभय दिया है, और उनका दिया हुआ दहेज ग्रहण किया वह सब ग्रहण किया, सब शब्द कहने का आशय सङ्कोच न कर शुद्ध भाव स्थापित किया इसमें कारण दान नहीं है, किन्तु अपने पक्ष में भगवान् हैं उनके पक्ष में यादव श्रेष्ठ हैं, भक्तों के स्वामी हैं, दूसरे जीव अपराध वाले होते हैं यदि उनका दिया हुआ ग्रहण न किया जावे तो भक्ति मार्ग छिन्न भिन्न हो जाय अतः ग्रहण किया, किन्तु पुत्र तथा बहू के लिये लिया, जिसके लिये कहते हैं कि 'स सुतः-सस्नुष, बेटे और बहू के साथ मित्रों से सम्मान पाकर प्रस्थान किया, पराक्रम से विषमता का अभाव कहा ॥५२॥

आभास—बलभद्रचरित्रस्य प्रत्यापत्तिमाह ततः प्रविष्ट इति ।

आभासार्थ—बलभद्र चरित्र की प्रत्यापत्ति[1] 'ततः प्रविष्टः' श्लोक में कहते हैं—

१—चतुर्थ अध्याय में भगवान् ने बलदेवजी में प्रविष्ट होकर निरोध रूप चरित्र किया अनन्तर बलदेवजी स्वयं निरोध करेंगे इस समय बलदेवजी में भगवदावेश नहीं है । अब बलदेवजी में विचार का अभाव है यह कह कर सिद्ध किया है—

श्लोक——ततः प्रविष्टः स्वपुरीं हलायुधः समेत्य बन्धूननुरक्तचेतसः ।
शशंस सर्वं यदुपुङ्गवानां मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम् ॥५३॥

श्लोकार्थ—बलदेवजी अपनी पुरी में प्रविष्ट हुए, वहाँ प्रेमी बान्धवों से मिलकर, यादव श्रेष्ठों की सभा में सबके सामने जो कुछ वहाँ कौरवों के साथ चेष्टा की, वह सुनाई ॥५३॥

सुबोधिनी—अन्यथा 'नन्दव्रजं गत' इतिवत् भगवतः किञ्चित्कर्तव्यशङ्का स्यात् । स्वपुरीं द्वारकाम् । निर्विचारप्रवेशार्थमुक्तम् । हलायुध इति विचाराभावः । सर्वान् जापयित्वा समलङ्कृते पुरे प्रवेष्टव्यम् । विवाहे विरोधो वा न वर्तव्यः, मैत्री वेति उभयकरणाद्विचाराभावः । ततः पुरप्रवेशानन्तरं बन्धून् समेत्य असम्मत्यभावायानुरक्तचेतस इति । स्वपौरुषं च स्वयमेवोक्तवान् । तन्निमित्तं च स्वचेष्टितं नगराकर्षणम् । ॥५३॥

व्याख्यार्थ - यदि आप ही अपनी चेष्टा न कह सुनाते तो 'नन्द व्रजं गत' की तरह भगवान् को कुछ कर्त्तव्य की शङ्का हो जाय. अतः स्वय कहा. कारण कि अपनी पुरी मे पधार गये है, पुरी में प्रवेश बिना विचारे ही किया क्योंकि 'हलायुद्धः' है जिससे उनमें विचार का अभाव रहता है, सर्व को जता कर समलङ्कृत नगर में प्रवेश करना चाहिये. अथवा दोनों मे मैत्री होने से विचार करना आवश्यक न समझा वा अभाव ही था, नगर मे प्रवेश के अनन्तर बान्धवों के पास आकर वा बान्धवो मे मिल कर अपना पौरुष बिना पूछे अपने आप ही कहने लगे, सम्मति भी नही ली, कौरवो के अहङ्कार नाशार्थ आपने जो नगर का आकर्षण आदि किया वह सर्व कहा ॥५३॥

आभास—तस्य चरित्रस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वमाह अद्यापीति ।

आभासार्थ—उनका चरित्र लोक प्रसिद्ध हो गया है यह 'अद्यापि' श्लोक से कहते है—

श्लोक—**अद्यापि च पुरं ह्येतत्सूचयद्रामविक्रमम् ।**
समुन्नतं दक्षिणतो गङ्गायामनु दृश्यते ॥५४॥

श्लोकार्थ--अब भी यह हस्तिनापुर, बलदेवजी के पराक्रम की सूचना कर रहा है जैसा कि दक्षिण की ओर ऊँचा और गङ्गाजी की ओर ढालू मालूम हो रहा है ॥५४॥

सुबोधिनी एतत् हस्तिनपुरम् । गङ्गायां गङ्गासमीपे गङ्गामध्य इव वा । तस्य सहजरूपं तत्र भवतीत्याह **सूचयद्रामविक्रममिति** अतो दक्षिणत समुन्नत कूलस्थानम् । कूलप्रदेश एवोन्नतो भवति नत्वपरः । इदं तु विपरीतमिति रामपराक्रमस्य सूचकं भवति । इदानीं तु तन्नगरं पतितम्, गङ्गायां पतितमिति ज्ञातव्यम् । 'गजाह्वये हृते नद्या' द्वादशे वक्ष्यति । अतो न दर्शनविरोधः शङ्कनीय । भागवतकथनसमये तु दृश्यत एव ॥५४॥

व्याख्यार्थ—यह हस्तिनापुर इस समय यों देखने में आता है कि गङ्गा के समीप अथवा मानों गङ्गा के मध्य में है, उसका यह रूप स्वाभाविक नहीं है, तो ऐसा क्यों दीखता है जिसका उत्तर देते हैं कि 'सूचयद्रामविक्रमम्' यों दीखने का कारण यह है कि इससे बलरामजी के पराक्रम की सूचना देकर कह रहा है कि मेरा रूप ऐसा नहीं था किन्तु बलरामजी ने ऐसा किया है, अतः दक्षिण से मेरा भाग उन्नत है, जिससे यों दीखता है कि अब नगर गङ्गाजी में गिरता है ऐसा होना तो विपरीत है कि यह रूप रामजी के पराक्रम का सूचक है, 'गजा ह्वये हृते नद्या' यह द्वादश में कहेंगे अत: देखने में विरोध की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि भागवत के कहने के समय तो यों दीखता ही था ॥५४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे एकोनविंशोध्यायः ॥१६॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ६५वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्विक प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का पांचवां अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

साम्ब विवाह

राग आसावरी :—

स्याम बलराम गुन सदा गाऊँ।
स्याम बलराम बिनु दूसरे देव कौं,
सपनहूँ मैं नहीं सीस नाऊँ॥
स्याम सुत सांब गयौ हस्तिनापुर तुरत,
लछमना तहँ स्वयंबर रचायौ।
देखतैं सबनि कैं ताहि लैठारि रथ,
आपने देस कौं पलटि धायौ॥
करन दुरजोधनादिक लियौ घेरि तिहिं,
करन ढिग आइ बहु बान मारे।
सांब तिहिं काटि निज बान संधान करि,
तुरँग रथ तासु के सब संघारे॥
हन्यौ पुनि सारथी एक ही बान करि,
परयो सो धरनि सब सुधि बिसारी।
एक इक बान भेज्यौ सकल नृपति प,
मनौ सब साय कीन्ही जुहारी॥

देखि यह फुरति घनि घन्य सबहिनि कियौ,
पुनि करन अस्व रथ के संघारे।
सांब कौं पकरि बैठारि रथ आपनैं,
सुभट सब हस्तिनापुर सिधारे॥
आइ नारद कह्यौ तुरत भगवान सौं,
चले भगवान हलघर निवारे॥
कह्यौ मैं जाइ कै ल्याइहौं सांब कौं,
कौरवनि सौं सदा हित हमारे।
प्रीति की रीति समुझाइहौं प्रथम उन,
काज दोउ ओर पूरन सँवारौं॥
जौ न मानैं कह्यौ राज अभिमान करि,
एक ही मूसल सबकौं सँहारौं॥
जाइ बलराम भेंटे सकल कौरवनि,
बहुरि तिन सबनि यह कहि सुनायौ।
सांब सौं चूक जो भई बालक हुतौ,
तुम्हें नहिं बूझियै जो बँधायौ॥
कह्यौ दुरजोधन अति कोप इहि दोष नहिं,
दोष सब लगै पुरषनि हमारे।
जो इन्हैं कियौ सनमान निज सभा मैं,
बहुरि इहिं ओर हित करि निहारे॥
जांबवंत सुता सुत कहाँ कहँ मम सुता,
बुद्धिवँत पुरुष यह सब विचारे।
अरु सदा देत जादव सुता कौरवनि,
कहत अब बात बल बिनु सँभारे॥
कह्यौ बलराम यह सांब सुत स्याम कौ,
रुद्र विधि रेनु जाकी न पावैं।
इन्द्र सुर सकल दरबार ठाढ़े रहैं,
सिद्ध गंधर्व गुन सदा गावैं॥
बहुरि करि कोप हल अग्र पर नग्र धरि,
गंग मैं डारि चाहत डुबायौ।
कौरवनि मिलि बहुत भाँति बिनती करी,
दोष तिनकौ द्विजनि मिलि छमायौ॥
सांब कौं लछमना सहित ल्याये बहुरि,
दियौ दाइज अगन गनि न जाए।
सूर प्रभु राम बल अतुल को तुलि सकै,
करत आनन्द निज पुरी आए॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

ाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६९वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६६वाँ अध्याय

उत्तरार्ध २०वां अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

"पञ्चम अध्याय"

देवर्षि नारदजी का भगवान् की गृहचर्या देखना

—सात्त्विकानां निरोधे तु कुह्यो नारद ईरितः ।
अतस्तस्यापि वक्तव्यं पूर्वबुद्धेर्निवारणम् ॥१॥

भक्तिमार्गानुरोधस्य पृथक्त्वं स्याद्यतः स्फुटम् ।
विंशे नारददृष्टानां कृष्णानां चरितं महत् ॥२॥

अलौकिकत्वसिद्ध्यर्थं निरोधे विनिरूप्यते ।
प्रकीर्णके प्रकरणे न सङ्गतिरिहोच्यते ॥३॥

तथापि साम्बकथने समायातस्तथाकरोत् ।
भ्रान्त्यभावाय भगवान् बोधयामास तादृशम् ॥४॥

निरोधस्तेन संसिद्धः सात्त्विकानामतः परम् ।

कारिकार्थ—सात्विकों का निरोध करना है, उनमें नारद मुख्य है, इसलिए पहले जो संसार में उसकी आसक्त बुद्धि थी, उस बुद्धि को मिटा और उसका वर्णन भी करना चाहिए। स्नेह ही भक्ति है, वह निरोध रूप तब हो, जब प्रपञ्च की विस्मृति होवे, अतः नारद की प्रपञ्च विस्मृति का प्रथम वर्णन करने से ही नारद के निरोध का प्रकट ज्ञान होगा तात्पर्य यह है कि नारद में प्रथम केवल भक्ति थी, जब प्रपञ्च की विस्मृति हुई, तब निरोध सिद्ध होकर प्रकट देखने में आया। इस उत्तरार्द्ध के अध्याय में नारद ने कृष्ण के अनेक स्वरूप तथा महान् चरित्र देखे। गृहस्थ धर्म भी अलौकिक है, यह समझाने के लिए वा सिद्ध करने के वास्ते निरोध प्रकरण में भगवान् ने नारद को यह लीला दिखाई है। इस प्रकरण प्रकरण में यद्यपि इसकी सङ्गति नहीं कही जाती, तो भी साम्ब हस्तिनापुर में बन्धन में पड़ा है, यह समाचार सुनाने आए हुए नारद को भगवान् ने संशय ग्रस्त देखा; क्योंकि उस समय भगवान् नरकासुर को मार कर षोडश सहस्र स्त्रियाँ ले आए थे और उनसे विवाह किया था, यह जान कर नारद संशय में पड गया था कि कृष्ण एक ने इतनी स्त्रियों से विवाह कैसे किया और प्रत्येक को कैसे मिल सकेंगे? उसका यह संशय भगवान् ने सर्वत्र अपने स्वरूप से लीला करते हुए दर्शन देकर मिटा दिया, जिससे उसका निरोध सिद्ध हो गया, इसके बाद सात्विकों का निरोध सिद्ध किया है ॥१–४½॥

आभास—पूर्वाध्याये साम्बवृत्तज्ञापनार्थं समागतो नारदः शास्त्रदृष्ट्या निर्दोषपूर्ण-गुणविग्रहो भगवानिति, लोके च पुत्रं हत्वा तदवरोधात् बह्वयः स्त्रियः समानीता इति शास्त्रलोकविरोधमाशङ्क्य, तं विरोधं स्वदृष्ट्या साधयन् पश्चादन्यतरनिर्धारं करिष्यन् स्वयं द्रष्टुं प्रवृत्त इत्याह नरकं निहतं श्रुत्वेति।

आभासार्थ—पूर्वाध्याय में साम्ब का समाचार सुनाने के लिए नारदजी आए, शास्त्र दृष्टि से भगवान् निर्दोषपूर्ण गुण विग्रह हैं अर्थात् भगवान् में किसी प्रकार दोष नहीं है, नारद ने आकर सुना कि भगवान् नरक को मार कर १६ हजार स्त्रियाँ ले आए हैं और उनसे विवाह भी किया है, यह कार्य लोक में शास्त्र विरुद्ध देख नारद शङ्काशील होने लगा, अतः इस विरोध को अपने आँखों से जाकर देखूँ तो सही यह है क्या? अनन्तर दूसरा निर्धार करूँगा, यह विचार कर स्वयं भगवान् को देखने को प्रवृत्त हुआ, यह 'नरकं निहतं' श्लोक में कहते हैं।

श्लोकः—श्रीशुक उवाच–नरकं निहतं श्रुत्वा तथोद्वाहं च योषिताम्।
कृष्णेनैकेन बह्वीनां तद्दिदृक्षुः स्म नारदः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि नरकासुर को मार, अकेले भगवान् ने बहुत स्त्रियों से विवाह किया है, यह सुनकर उसको देखने के लिए नारदजी आए ॥१॥

सुबोधिनी—केचित्तु इत प्रभृति सात्त्विक-प्रकरणमाहुः त्रयस्त्रिंशदध्यायैः पूर्व इति च। तत्र नारदः सात्त्विकेषु मुख्य इति स निरूप्य इति। तत्र वैकादशैकैकादशभिः तेषामवान्तरप्रकरण-व्यवस्था। सात्त्विकास्तु द्विविधा एव सकाम-निष्कामभेदेनेति। तेषां मते दशेन्द्रियाणि अन्तः-करणं च निरुध्यन इति निरोधसिद्धिः। एतन्म-तमवष्टभ्यास्माभिर्निबन्धे निरूपित लक्ष्मणाहर-णावधीति। एतावता स्त्रिय समाप्ताः। तासु भोगो भगवत्कृत शास्त्रविरोधान्न मन्तव्य इति प्रामाण्यार्थं नारददृष्टिरनुवर्ण्यते। नारदो हि भग-वदीयशास्त्रेषु अक्लिष्टचरित्राण्येव श्रुतवानिति नरकवधादिकं न पूर्वं श्रुतवान्। यद्यपि नरक-वधमात्रं पूर्वसिद्धम्, तथापि तदवरोधाद्विवाह साम्प्रतमेव श्रुत इति स विचारणीयः। इद चरित्रं न पूर्वं ऋषिभिर्विचारितम्। अत. परं सहस्रेष्वपि चरित्रेषु मीमांसितमेव चरित्रं विचार्यते। अत एव जाता लौकिकदृष्टिर्भगवतै-वाग्रे निवारणीया। यदैव नरको हत., तदैव तेनैव प्रक्रमेण योषितामुद्वाहश्च श्रुतः। एक-स्मिन् क्षणे नानागारेषु विद्यमानानां एकेन कृष्णेन. तत्र यद्यपि रूपभेद स्पष्ट एव, 'उरुरूप' इति वाक्यात्। तथा सति अवतारान्तरन्यायेन भिन्नावतारत्व स्यात्। तत कृष्णेनैव विवाहिता न भवेयु.। न हि सर्वास्ता देवकीपुत्रवध्वो भवन्ति। तस्मैवानन्तरूपत्व तु पूर्वावतारेषु न सिद्धमिति श्रेमस्तं कर्तुमर्चित.। वाक्योक्त तु युक्त्या बाधितुं शक्यते, न तु दृष्टम्। 'न हि दृष्टे अनुपपन्नं नामेति। बह्वीनामेकेन कृष्णेन उद्वाहो विचित्रमिति तद्दिदृक्षुर्नारदो जात इत्यर्थः ॥१॥

व्याख्यार्थ—कितनेक यहाँ से सात्त्विक प्रकरण कहते हैं तेतीस अध्यायों से पूर्व यों है। वहाँ नारद सात्त्विकों मे मुख्य है, यों निरूपण कर दिया है। वहाँ ही पर ११-११ अध्यायों से अवान्तर प्रकरणों की व्यवस्था कही है, क्योंकि सात्त्विक दो प्रकार के है (१) सकाम सात्त्विक और दूसरे निष्काम सात्त्विक है। उनके मत में दश इन्द्रिया और एक अन्त करण का जब निरोध होता है तब निरोध की सिद्धि होती है, इस मत को लेकर हमने निबन्ध मे लक्ष्मणा हरण की अवधि पर्यन्त निरूपण किया है, एतावता स्त्रियां समाप्त हुई। उनमें भगवत्कृत भोग शास्त्र से विरूद्ध होने से नहीं मानना चाहिये यों प्रमाण के लिये नारद की दृष्टि से वर्णन किया है. नारद ने भगवदीय शास्त्रों में भगवान् के अक्लिष्ट चरित्र ही सुने हैं। नरक वध आदि चरित्र पहले नहीं सुने हैं, यद्यपि केवल नरक वध पहले ही सिद्ध है तो भी उसके अवरोध से विवाह तो अब ही सुना है, इसलिए वह विचार करने योग्य है। इस प्रकार इस चरित्र का ऋषियों ने पहले विचार नहीं किया है इसके अनन्तर भगवान् के अनेक चरित्रों में से जो चरित्र मीमांसा करने योग्य हैं उसका विचार किया जाता है, अतएव इस चरित्र में से जो लौकिकी दृष्टि उत्पन्न हुई है, उसका निवारण भगवान् ही आगे करेंगे। जब ही नरकासुर मरा तब ही उन हो प्रक्रम से स्त्रियों का विवाह भी सुना, एक ही क्षण मे अनेक गृहो मे एक कृष्ण का विद्यमान होना यद्यपि वहाँ 'उरुरूप' इस वाक्य से रूप भेद स्पष्ट ही है यदि यों है, तो अवतारान्तर न्याय से पृथक् अवतारत्व होना चाहिये, इससे, कृष्ण से ही विवाहित हुई न होनी चाहिये, वे सर्व देवकी के पुत्र की पत्नियां नहीं हो सकती है, उसके ही

अनन्त रूपत्व पूर्वाविचारों में सिद्ध नहीं हुआ है, इसलिये इस पर विचार करना उचित ही है, वाणी में कहे हुए को तो युक्ति से बाध किया जा सकता है किन्तु प्रत्यक्ष देखे हुए का बाध नहीं हो सकता है देखे हुए में कुछ अनुपपन्न (अनुचित) नहीं है, बहुत स्त्रियों का एक कृष्ण से विवाह होना विचित्र चरित्र है इसलिये उसको देखने की इच्छा से नारद जी वहाँ आये ॥१॥

आभास—ननु भगवच्चरित्रे किमिदमाश्चर्यम्, यतो नारदस्यापि दिदृक्षेत्याशङ्क्य, वैचित्र्यमुपपादयति चित्रमिति ।

आभासार्थ—भगवान् के चरित्र में यह आश्चर्य कैसे ? जिससे नारद को देखने की इच्छा हुई यह शङ्का कर इसकी विचित्रता 'चित्र बत' श्लोक से प्रतिपादन करते हैं--

श्लोक— चित्रं बत तदेकेन वपुषा युगपत्पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥२॥

श्लोकार्थ—यह बड़ी आश्चर्य की बात है कि जो अकेले भगवान् ने एक शरीर से एक साथ अलग-२ घरों में सोलह हजार स्त्रियों का पाणिग्रहण किया ॥२॥

सुबोधिनी—बत इति हर्षे । तदा यत्रैत्रैव स्थिता भक्ता भगवता अनुग्राह्या इति न क्वापि गमनक्लेश इति । एकेन वपुषेति । वपुषो ब्रह्मवदचिन्त्यैश्वर्यं न शास्त्रसिद्धम् । वपुर्भेदे तु कृष्णपत्नीत्वं तासु न स्यात् । अतो वपुषो ब्रह्मधर्मत्वं वा अवपुष्ट्वं वा कल्पनीयं स्यात् । तत्रावपुष्ट्वे लौकिकधर्मसम्बन्धो न युक्तः । ब्रह्मधर्मत्वे तु वैलक्षण्यमावश्यकम् । ब्रह्मणोऽप्येकत्र यो धर्मः, स नान्यत्रेति । लोके तथा दर्शनात् । नारदश्च सूक्ष्मदर्शी । तत उभयमपि अनुपपन्नमिति चित्रम् । युगपदेकस्मिन् काले एकेन वपुषा करणेन पृथक् पृथक् गृहेषु स्थिताः द्व्यष्टसहस्रसङ्ख्या व्याप्ताः । कलानामिवानन्त्यपक्षेऽपि श्रुवाया नानन्त्यमिति षोडशसहस्रे भवत्येव वैचित्र्यम् । स्त्रिय इति तासां योगजधर्मो निवारितः, येनैकत्र जातो दृश्येत । आकाशवत्परिच्छेदभेदेन मायावदयथात्वेन वा विवाहपक्षं व्यावर्तयति एक इति । उद्वाहश्च यावदवतारं परिपालनीय इति न प्रदर्शनमात्रपरत्वम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'बत' पद यहाँ हर्ष वाचक है, तत्र तत्र स्थान पर स्थित भक्तों पर भगवान् स्वतः स्वयं अनुग्रह करते हैं, इसलिये कहीं भी जाने का क्लेश नहीं, 'एक शरीर से' इसकी व्याख्या करते हुए विचार विमर्श करते हैं 'शरीर' है इसलिये इसमें ब्रह्म के समान अचिन्त्य ऐश्वर्य मान लेना शास्त्र से सिद्ध नहीं है, यदि शरीर में भेद माना जाय तो उन सर्व स्त्रियों में कृष्ण पत्निपन सिद्ध नहीं हो सकता है, अतः शरीर में ब्रह्म धर्म पन अथवा ब्रह्मत्व की कल्पना करनी चाहिये, यदि ब्रह्मत्व माना जाय तो लौकिक धर्म से सम्बन्ध उचित नहीं है । ब्रह्म धर्मत्व मानने से विलक्षणता आवश्यक है, ब्रह्म का भी जो धर्म एक स्थान पर है. वह दूसरे स्थान पर नहीं है. लोक में इस प्रकार देखने में आता है, नारद तो सूक्ष्मदर्शी है, इसमें दोनों उचित नहीं है, इसलिये आश्चर्य

है। एक ही काल में साधन रूप एक ही शरीर से भिन्न-भिन्न गृहों में १६ हजारों में व्याप्त हैं, आनन्त्य पक्ष में भी ध्रुवा का आनन्त्य नहीं होता है इसलिये सोलह हजारों में विचित्रता होती ही है, 'स्त्रियः' शब्द देकर उनका योगज धर्म का निवारण किया जिससे एक स्थान पर प्रकट हुआ देखने में आवे, आकाश की तरह परिच्छेद भेद से माया की तरह असत् पन से विवाह पक्ष को एक पद से असिद्ध करता है और विवाह जब तक अवतार है तब तक विवाहिताओं का पूर्ण रीति से पालन करना चाहिये, इसलिये यह विवाह केवल दिखावा नहीं है ॥२॥

आभास—अतो हेतोरुत्सुको जात इत्याह इत्युत्सुको द्वारवतीमिति ।

आभासार्थ—इस कारण से नारदजी को इस लीला के देखने की लालसा उत्पन्न हुई, तदर्थ द्वारका आये जिसका वर्णन 'इत्युत्सुको' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—इत्युत्सुको द्वारवतीं देवर्षिर्द्रष्टुमागमत् ।
पुष्पितोपवनारामद्विजालिकुलनादिताम् ॥३॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार उत्सुक हो नारदजी द्वारका आए, जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जहाँ फुलवाड़ी और आरामों में पक्षी तथा भौरों के झुण्ड नाद कर रहे हैं ॥३॥

सुबोधिनी—स हि देवगुह्यमपि जानाति । अतो देवर्षिः देवानामपि मन्त्रद्रष्टा । अयं हि गुप्तार्थोपदेष्टा । अतो द्रष्टुमागमत् । नारदस्य द्वारकायां लौकिकबुद्धिसिद्धचर्थं तां वर्णयति पुष्पितोपवनामिति सार्धैस्त्रिभिः । पुष्पितान्युपवनानि तेषु ये आरामाः क्रीडास्थानानि तेषु द्विजानामलीना च यानि कुलानि अवान्तरजातिभेदाः। तैर्नादितां तच्छब्दप्रचुरामिति सहजो मधुरः शब्दस्तत्रत्यो निरूपितः ॥३॥

व्याख्यार्थ—वे नारदजी देवों की गुप्त बातें भी जानते हैं, इस कारण से देवों में भी ऋषि[१] होने से, देवर्षि कहे जाते हैं, क्योंकि ये गुप्त अर्थों का उपदेश करने वाले हैं अतः देखने के लिये आये है। नारदजी की द्वारका में लौकिक बुद्धि सिद्ध करने के लिये द्वारका का साढ़े तीन श्लोकों से वर्णन इस तरह करते हैं कि जहाँ फुलवाड़ियो में जो आराम अर्थात् क्रीड़ा के स्थान थे, उनमें अनेक प्रकार के पक्षी तथा भौरे प्रचुर मधुर गुञ्जार कर रहे हैं ॥३॥

आभास—द्वारका वनजलस्थलरूपा त्रिविधा भवति, तत्र वनरूपा निरूपिता, जलरूपां निरूपयति उत्फुल्लेति ।

१—मन्त्र द्रष्टा को ऋषि कहते हैं

आभासार्थ—द्वारका वन, जल और स्थल रूप से तीन प्रकार की है जिसमें वनरूपा का वर्णन किया अब जल रूपा का 'उत्फुल्लेन्द्' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—उत्फुल्लेन्दीवराम्भोजकल्हारकुमुदोत्पलैः ।
छुरितेषु सरस्सूच्चैः कूजितां हंससारसैः ॥४॥

श्लोकार्थ—फूले हुए इन्दीवर, अम्भोज, कल्हार, कुमुद और उत्पलों से व्याप्त सरोवरों में हँस और सारस पक्षी ऊंचे स्वर से कूज रहे हैं ॥४॥

सुबोधिनी—उत्फुल्लानीन्दीवरादीनि यानि पञ्चविधानि पुष्पाणि तैश्छुरितेषु व्याप्तेषु सरस्सु हंसैः सारसैः तत्र कूजद्भिर्जुष्टामित्यग्रेण सम्बन्धः। ॥४॥

व्याख्यार्थ—इन्दीवर आदि पाञ्च प्रकार के पुष्पों से व्याप्त सरोवरो में मधुर शब्द करने वाले हंस और सारसों से (वह नगरी) शोभायमान थी ॥४॥

आभास—भूमिरूपां वर्णयति प्रासादलक्षैरिति ।

आभासार्थ—'प्रासादलक्षै' श्लोक से भूमि रूपा द्वारका का वर्णन करते हैं

श्लोक—प्रासादलक्षैर्नवभिर्जुष्टां स्फाटिकराजतैः ।
महामरकतप्रख्यैः स्वर्णरत्नपरिच्छदैः ॥५॥

श्लोकार्थ—स्फटिक मणि और चाँदी के बने हुए घर थे, जिनमें अमूल्य मरकत मणियाँ जगमगा रही थीं और रत्नों से जड़ित अन्य वस्तुएँ रखी हुई थीं, जिनसे वे नव लक्ष गृह शोभित थे ॥५॥

सुबोधिनी—नवलक्षप्रासादाः महतां गृहाः । स्फटिकमयाः रजतमयाश्च भित्तिस्तम्भभेदेन । राजताः स्तम्भाः महामरकतनिर्मिता भूः तया प्रख्याः प्रसिद्धाः प्रासादाः । स्वर्णरत्नमयानि परिच्छदानि येषु । यथा गृहे दारुमयानि, तथा स्वर्णमयानि, यथा शिलामयानि, तथा रत्नानि । गृहोपकरणान्यपि परिच्छदानीत्युच्यन्ते । तथाप्यनवसरत्वान्न तानि ग्राह्याणि ॥५॥

व्याख्यार्थ—जिस द्वारका में महान् पुरुषों के नव लाख घर थे, जिन घरों के स्तम्भ तथा भित्तियां (भींते) स्फटिक मणि एवं चान्दी से बनी हुई थी । चान्दी के स्तम्भ थे महा मरकत मणि से पृथ्वी जड़ी हुई थी, इस प्रकार से बने हुए महल प्रसिद्ध थे जैसे साधारण गृहों में काष्ट (लकड़ी) के छज्जे होते है वैसे यहां रत्नों से बनाये हुए छज्जे थे परिच्छद शब्द से गृह के पात्र आदि भी कहे हैं अर्थात् वे उपकरण भी सोने के बने हुए तथा रत्नों से जड़ित थे, तो भी अवसर ही न मिलता जो उन उपकरणों को काम में लाया जावे अर्थात् अनेक प्रकार के अनन्त उपकरण थे ॥५॥

आभास—एवं पुरीं बहिर्वर्णयित्वा अन्तस्तां वर्णयति विभक्तेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार पुरी के बाहर भाग का वर्णन कर भीतर का वर्णन करते हैं—

श्लोक—विभक्तरथ्यापथचत्वरापणैः शालासभाभी रुचिरां सुरालयैः ।
संसिक्तमार्गाङ्गणवीथिदेहलीं पतत्पताकाध्वजवारितातपाम् ॥६॥

श्लोकार्थ—जिस नगरी की गलियाँ संकीर्ण (सँकड़ी) नहीं थीं, अलग-२ थीं और राज मार्ग विशाल थे, वैसे चौहट्टे, दुकानों, शालाओं और सभाओं से तथा देव मन्दिरों से शोभायमान थे एवं सर्वत्र मार्ग, मैदान, गलियाँ और दहेलियों में छिरकाव हो गया था व उड़ती हुई ध्वजाओं और पताकाओं से धूप देखने में नहीं आती थी ॥६॥

सुबोधिनी—विभक्ताः पृथक् पृथक् कृता रथ्यादयः, न तु सङ्कीर्णाः रथ्या राजमार्गाः पन्थानः । चत्वरमङ्गणम् । आपणः पण्यवीथिका । गतिस्थानान्येतानि । स्थितिस्थानान्याह । शाला अन्नादिभोजनस्थानानि । सभा उपवेशनस्थानानि । ताभिः रुचिराम् । ऐहिकार्थद्वयमेव । पारलौकिकार्थमाह सुरालयैश्च रुचिरामिति । नैमित्तिकातिशयमाह संसिक्तेति । सम्यक् सिक्ताः मार्गादिदेहल्यन्ता यस्याम् । उपरिशोभामाह । पतत्पताकाध्वजैः वारितः आतपो यस्यामिति ॥६॥

व्याख्यार्थ—द्वारका की गलियां और राज-मार्ग अलग अलग बड़े बड़े थे सङ्कीर्ण नहीं थे जिससे आने जाने में किसी प्रकार घबराहट नहीं होती थी, अतः रथ, अश्व आदि और पैदल चलने वाले सरलता से निर्भय होकर आवागमन करते थे, मैदान, बाजार ये सब आने जाने के मार्ग वैसे स्वच्छ तथा बड़े थे । ठहरने के स्थानों को बताते हैं, 'शाला' अन्न आदि भोजन के स्थान 'सभा' बैठने के स्थान वे भी सुन्दर बने हुए थे जिससे नगरी सुन्दर दीखती थी, ये दो तो ऐहिकार्थ हैं, अब पारलौकिक के लिये कहते हैं कि देव मंदिरों से मनोहर थी, निमित्त से उसकी विशेषता का वर्णन करते हैं कि जिसमें मार्गों पर देहली तथा सर्वत्र छिरकाव से स्निग्धता एवं ठडंक दृष्टिगोचर होती थी, ऊपर की शोभा का वर्णन करते हैं उड़ती हुई ध्वजा तथा पताकाओं ने धूप को हटा दिया है ॥६॥

आभास—सामान्यतो नगरीं वर्णयित्वा विशेषतो भगवद्गृहं वर्णयति, नारददृष्टम् ।

आभासार्थ—नगरी का सामान्य प्रकार से वर्णन कर अब नारद ने जो भगवद्गृह की विशेषता देखी जिसका 'तस्यामन्तःपुरं' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—तस्यामन्तःपुरं श्रीमदर्चितं सर्वधिष्ण्यपैः ।
हरेः स्वकौशलं यत्र त्वष्ट्रा कात्स्न्र्येन दर्शितम् ॥७॥

श्लोकार्थ—उस द्वारका में सर्व लोकपालों की सम्पत्ति से सजाये और उनसे पूजित भगवान् का अन्तःपुर था, जिसमें विश्वकर्मा ने अपना सर्व चातुर्य दिखलाया है ॥७॥

सुबोधिनी—एवंप्रकारेण नारदो दृष्टवानिति। तदा लौकिकोत्कर्षः सम्पद्यते। तच्च तस्यानभिप्रेतमिति। सिद्धे हि लौकिकत्वे तत्र बुद्धिस्थैर्ये लौकिकस्य निरोधः सम्पद्यत इति। तस्यां द्वारकायाम्। हरेरन्तःपुरं श्रीमत्, स्वतः शोभायुक्तम्। अनेन वैकुण्ठातिरेकस्तत्र निरूपितः। लक्ष्मीस्थितिर्वा। अन्यत्रावतारेषु अवतीर्णैव लक्ष्मीस्तिष्ठति, न मूलरूपेणेति। उपपत्त्या अन्तःपुरं वर्णयति। सर्वधिष्ण्यैरर्चितं स्वकौशलं त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन प्रदर्शितमिति प्रकारद्वयेन। रत्नस्वर्णादयस्तु पुरे एव निरूपिता न भगवदन्तःपुरे विशेषं सम्पादयन्ति। वक्तव्यश्च विशेषः। अतो भूमिष्ठाः पदार्थाः साधनभावान्निरूपिताः। इन्द्रादयो हि धिष्ण्यपाः लोकपालाः। तेषामपि परम्परोपार्जितान्यतिदुर्लभानि रत्नादीनि पूजासाधनानि भवन्ति। तैरर्चितमिति। तन्निर्माणार्थं तैस्तानि दत्तानीत्येके, यतः अग्रे त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा शिल्पाचार्येण हरेरर्थे स्वकौशलं प्रदर्शितम्, अतिनैपुण्येन निर्मितम्। रत्नानि इन्द्रादिभिर्दत्तानि, विश्वकर्मणा तु सम्यग्योजितानीत्यर्थः। ७॥

व्याख्यार्थ—नारद ने इस प्रकार से जो देखा तो उससे लौकिक उत्कर्ष प्रकट होने लगा, वह उसको अभिप्रेत नहीं था लौकिक सिद्ध होने से उसमें बुद्धि की स्थिरता से लौकिक निरोध होता है, उस द्वारका में भगवान् का अन्तःपुर स्वतः शोभा से युक्त था, इससे उसमें वैकुण्ठ का आवेश निरूपण किया है अथवा लक्ष्मी यहां ही विराजती है यह सिद्ध किया है अन्य अवतारों में लक्ष्मी अवतार लेकर आती है, यहां तो मूलरूप से ही रहती है उपपत्ति से द्वारका में दो प्रकार से अन्तःपुर का वर्णन करते है (१) सर्व लोकपालों से पूजित और दूसरा विश्वकर्मा ने अपना कौशल्य सम्पूर्ण प्रकार प्रकट किया है। रत्न और सुवर्ण आदि का तो नगर में ही निरूपण किया है। भगवान् के अन्तःपुर में वर्णन नहीं किया, वहां तो विशेषता दिखाते हैं, और उसमें विशेष ही कहना चाहिये, अतः भूमि में स्थित पदार्थ साधन भाव ने निरूपण किये हैं। इन्द्र आदि जो लोकपाल है उनके पास परम्परा से इकट्ठे किये हुए जो दुर्लभ रत्न आदि है वे पूजा के साधन होते हैं अर्थात् वे पूजनीय होते है, उनसे वह अन्तःपुर सुशोभित था, कितनेक कहते हैं कि अन्तःपुर के निर्माण के लिये लोकपालों ने वे रत्न दिए थे, जिनसे शिल्प के आचार्य विश्वकर्मा ने भगवान् के लिये अन्तःपुर में अपना कौशल्य दिखलाया है अर्थात् विशेष निपुणता (चतुराई) प्रकट की है, शारांश (तात्पर्य) यह है कि वहां जो रत्न जड़े हुए थे वे लोकपालों ने दिये हैं और विश्वकर्मा ने उनको सम्यक् प्रकार से जोड़ा है, जिससे प्रभु का गृह विशेष दीप्तिमान् था ॥७॥

आभास—एवं सामान्यतोऽन्तःपुरं वर्णयित्वा, तत्रस्थान् गृहान् प्रत्येकं वर्णयितुं विभागमुक्त्वैकं गृहं वर्णयति **तत्र षोडशभिरिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार सामान्य रीति से अन्तःपुर का वर्णन कर उसमें स्थित प्रत्येक गृह का विभाग कर एक गृह का वर्णन 'तत्र षोडशभिः' श्लोक से करते है—

श्लोक—**तत्र षोडशभिः सद्मसहस्रैः समलङ्कृतम् ।**
विवेशैकतमं शौरेः पत्नीनां भवनं महत् ।।८।।

श्लोकार्थ—वहाँ उस दीप्तिमान् अन्तःपुर में भगवान् की पत्नियों के सोलह सहस्र सद्म सुशोभित थे, जिनमें से एक बड़े भवन में नारदजी ने प्रवेश किया ।।८।।

सुबोधिनी—ते गृहाः स्वतः प्रधानभूता अपि परस्परमेकस्यापि सर्वे शोभाजनका भवन्ति । समप्राधान्ये तु विशिष्टो रसो नोत्पद्यत इति यदेव गृहं निकटे स्थितम्, तत्रैव नारदस्य विशिष्टबुद्धिरुत्पन्नेति तत्र प्रविष्टः । एकमपि गृहं षोडशभिः सद्मसहस्रैः समलङ्कृतम् । ते च गृहाः पत्नीनामेव । तन्निकटे गतस्य तदेव गृहं महत्त्वेन भासत इति महदित्युक्तम्, न तु गृहेषु न्यूनाधिकभावोऽस्ति । तथा सति भगवतस्तत्र वैषम्यं स्यात् । सर्वत्र विवाहरमणपुत्रसम्पदां तुल्यत्वात् ।।८।।

व्याख्यार्थ—वे सब गृह स्वतः अपने आप में प्रधान भूत होते हुए भी प्रत्येक गृह सर्व द्रष्टाओं को अपनी ओर आकर्षण कर रहा था, यदि सबको समान प्रधानता वा शोभा होती तो विशिष्ट रस पैदा न हो सकता, इस कारण से जो गृह नारद के समीप होता, उसमें ही नारद की विलक्षण श्रेष्ठ बुद्धि उत्पन्न हो जाती, इसलिए उस एक में प्रवेश किया, एक भी गृह अर्थात् प्रत्येक गृह सोलह हजार सद्मों से समलङ्कृत था, वे गृह भगवत्पत्नियों के थे, 'महत्' शब्द का भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि किसी भी घर के निकट जाने वाले को वह ही घर महान् देखने में आता था इसलिये भवन को 'महत्' विशेषण दिया है, घरों में न्यून वा अधिक भाव नहीं है, सर्व में समानता न होती तो भगवान् में वैषम्य दीखता, सर्वत्र विवाह रमण पुत्रादि सम्पदा समान थी अतः न्यूनाधिक भाव नहीं था ।।८।।

आभास—अतस्तं वर्णयति स्थालीपुलाकन्यायेन **विष्टब्धमिति** ।

आभासार्थ—अतः स्थाली पुलाक न्याय से उसका वर्णन 'विष्टब्धं' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**विष्टब्धं विद्रुमैः स्तम्भैर्वैडूर्यफलकोत्तमैः ।**
इन्द्रनीलमयैः कुड्यैर्जगत्या चाहतत्विषा ।।९।।

श्लोकार्थ—विद्रुम मणि के खम्भे जिसमें लगे हुए हैं, उन पर वैडूर्य मणि के उत्तम पट्टे लगे हैं, इन्द्र नील मणि की भीतें और अखण्ड कान्ति वाली इन्द्र नील मणियों के कारण सबकी कान्ति बढ़ रही है, जिससे महल की शोभा विशेष हो रही थी ।।९।।

सुबोधिनी— पुरुषार्थचतुष्टयसम्पन्नमिति ज्ञापयितुं चतुर्भिः । प्रवालस्तम्भैर्विष्टब्धं धृतम् । वैडूर्यनिर्मितफलकैस्तदाच्छन्नम् । अनेन स्तम्भा उपरिप्रसारितदारुरूपाश्च द्विविधा ज्ञातव्याः ।

उपरिफलकानामेव वैडूर्यमयत्वम् । स्थूलफलकाः स्तम्भेष्वेव विशालाः स्थापिताः । तत्रापि कक्ष्यान्तर्गतस्तम्भानां तथात्वं वक्तव्यमिति धरणीस्तम्भाश्चात्र विद्रुममया ज्ञातव्याः । इन्द्रनीलमयैर्मणिभिः कुड्यानि । जगती भूमिः कुट्टिमा तत्रत्या । अलङ्कृतमिति सम्बध्यते । न सूर्यादिभिरहता त्विड्यस्याः तादृश्या जगत्यालङ्कृतमिति ॥६॥

व्याख्यार्थ—प्रवाल युक्त चारु स्तम्भों से यह जताया है कि यह गृह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों से युक्त है । वे स्तम्भ वैदूर्य मणि के पट्टों से आच्छादित हैं, इससे यह समझाया है कि स्तम्भ दो प्रकार के थे । ऊपर जो प्रसारित थे वे काष्ठरूप थे, और उनके ऊपर जो पट्टे लगे थे वे वैदूर्य मणि के थे वे स्थूल बड़े-२ पट्टे काष्ट के स्तम्भों पर जड़े गये थे इन थंभों में भी जो कटि के अन्तर्गत स्तम्भ थे वे वैसे थे, और जो दूसरे जो पृथ्वी पर स्तम्भ खड़े किये गये थे वे विद्रुम मणियों से जडित थे, इन्द्र नील मणियों से भीतें और पृथ्वी के फर्श भी उनके थे, जिससे सारा महल उत्तम प्रकार से चमक रहा था, वहां के प्रकाश को सूर्यादि का प्रकाश भी कम नहीं कर सकता था ॥६॥

श्लोक—वितानैर्निर्मितैस्त्वष्ट्रा मुक्तादामविलम्बिभिः ।
दान्तैरासनपर्यङ्कै र्मण्युत्तमपरिष्कृतैः ॥१०॥

श्लोकार्थ—मोतियों की झालर लटक रही है, ऐसे विश्वकर्मा के बनाए हुए चँदोवा, हाथी दाँत के उत्तम मणियों से खचित आसन व पलङ्गों से घर सुशोभित था ॥१०॥

सुबोधिनी—वितानैश्चन्द्रातपैस्त्वष्ट्रा निर्मितैरित्यद्भुतत्वम् । मुक्तादामानि विलम्बन्ते येष्विति । दन्तनिर्मितैरासनैः पर्यङ्कैश्चालङ्कृतम् । मण्युत्तमैर्मणिश्रेष्ठैरलङ्कृता आसनपर्यङ्काः ॥१०॥

व्याख्यार्थ—विश्वकर्मा के निर्मित चंदवाओं से अद्भुत शोभित हो रहा था उनमें मोतियों की झालरें लटक रही थी, हाथी दान्तों से बने हुए आसन और पलङ्गों से गृह सजाया हुआ था वे आसन और पलङ्ग उत्तम मणियों से अलङ्कृत थे ॥१०॥

आभास—स्त्रियः पुरुषाश्च दासीदासरूपा शोभायामवश्यं वक्तव्या इति तान्निर्दिशति दासीभिरिति ।

आभासार्थ—पुरुष तथा स्त्रियाँ दास और दासियों के रूप में जो वहाँ रहती थी उनकी भी शोभा अवश्य कहनी चाहिये इसलिये 'दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः' श्लोक से उनका वर्णन करते हैं—

श्लोक—दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः सुवासोभिरलङ्कृतम् ।
पुम्भिः सकञ्चुकोष्णीषसुवस्त्रमणिकुण्डलैः ॥११॥

श्लोकार्थ—गले में पदक पहिरे तथा सुन्दर वस्त्रों से अलङ्कृत दासियाँ और अङ्गरखा, पगड़ी एवं सुन्दर वस्त्र तथा मणियों के कुण्डलों से सुशोभित पुरुष थे, जैसे दास-दासियों से घर अलङ्कृत था ॥११॥

सुबोधिनी—नित्याभरणेषु सत्स्वेव पदकाभरणमिति निष्ककण्ठीभिरित्यनेन कटककुण्डलाद्याभरणानि सूचितानि। सुवासोभिरिति। सर्वतः शोभार्थमुक्तम्। यादृशैरेव वस्त्रैः शोभा सम्पद्यते। अन्यथा शोभाकथनं व्यर्थं स्यात्। पुम्भिरप्यलङ्कृतम्। पाश्चात्यो वेष इति। उत्तमानि कञ्चुकानि उष्णीषाणि मध्ये बन्धकानि मणियुक्तानि कुण्डलानि च येषामिति सर्वतोऽलङ्कारो भगवद्गृहदासानामुक्त ॥११॥

व्याख्यार्थ—श्लोक मे 'निष्ककण्ठीभि' पद का आशय स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते है कि पदक आभूषण तो नित्य पहिना जाता है अत यहा 'निष्ककण्ठीनां' कहने से बताया है कि पदक के सिवाय अन्य जो सुवर्ण के कड़े कुण्डल आदि होते है वे भी पहने थे सुन्दर सुन्दर वस्त्र भी धारण किये थे, जिससे चारो तरफ शोभा का होना कहा है. जिन प्रकार के वस्त्रों से शोभा हो वैसे वस्त्र धारण किये थे नही तो शोभा का कहना ही व्यर्थ हो जाता, न केवल स्त्रियों से शोभित था किन्तु पुरुषो से भी अलङ्कृत था, पुरुषो का वेष पाश्चात्य था, उत्तम अङ्गरखे, पगड़ी और मणियो से जड़े हुए कड़े और कुण्डल जिन्होने धारण किये है वैसे दास थे भगवान् के गृह में जो दास और दासियां थीं वे इस प्रकार अलङ्कारादि धारण किये हुए थे जिनसे गृह की शोभा बढ रही थी ॥११॥

आभास—सार्वकालीनशोभामुक्त्वा रात्रौ विशेषतः शोभामाह **रत्नप्रदीपनिकरेति**।

आभासार्थ—सर्व समय की सब शोभा का वर्णन कर रात्रि की विशेष शोभा 'रत्न प्रदीप' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—रत्नप्रदीपनिकरद्युतिभिर्निरस्तध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षैर्निर्यान्तमीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्तः ॥१२॥

श्लोकार्थ—रत्नों के समूह की कान्ति से गृह का अन्धकार नाश हो रहा है और महल की जालियों से निकले हुए अगर के धूप को देख, उसे मेघ समझ मयूर छज्जों पर बैठ शब्द करते हुए नृत्य कर रहे थे ॥१२॥

सुबोधिनी—रत्नसमूहकान्तिभिर्निरस्तं ध्वान्तमन्धकारो यत्र। रात्रौ गार्हस्थ्ये कामरसो वर्ण्यत इति उद्दीपनविभावान्वर्णयति। विचित्रवलभीषु मणिमया निर्मितचन्द्रकेषु मयूरा स्थिता. मत्ता नृत्यन्ति। **अङ्गे**ति सम्बोधनं स्नेहसूचकम्। तेनास्याः कथाया. भगवद्भोगविषयत्वाद्योगिचिन्त्यत्वमेव. न तु बाह्यतया साधारणत्वमिति सूचितम्। नृत्ये अलौकिक हेतुं वर्ण-

यति । यत्र विहितागुरुधूपं गृहसंस्कारार्थं कृतं गवाक्षमार्गेण निर्यान्तं निरीक्ष्य घनोऽयमिति तेषां बुद्धिरुत्पन्नेति घनबुद्धयः । अत एव ऊर्ध्व नदन्तो जाताः । मेघागमे हि तेषां नृत्यं भवति । नृत्यदर्शने च रस आविर्भूतो भवतीति, गीता-वाद्यरहितं नृत्यं न शोभां करोतीति, उन्नादो हि द्विःस्वभावो निरूपितः ॥१२॥

व्याख्यार्थ--जहां घर में रत्न समूह के प्रकाशों से अन्धकार नष्ट हो गया है, गार्हस्थ्य में रात्रि के समय काम रस का वर्णन किया जाता है, इसलिये काम को जगाने वाले विभावों का वर्णन करते हैं, विचित्र भीतों पर बनाये हुए मणि निर्मित छज्जों पर मयूर खड़े हो नाच करते हैं, हे अङ्ग ! यह सम्बोधन स्नेह का सूचक है, इसमें यह कथा, भगवद्योग सम्बन्धी होने से योगियों के ही चिन्तन करने योग्य है, न कि बाह्यपन से इस कथा का साधारणत्व है यह सूचन किया है, मयूरों के नृत्य में अलौकिक हेतु का वर्णन करते हैं-गृह को शुद्ध एवं सुगन्धित करने के लिये जो अगुरु धूप किया है वह धूप जालियों से बाहर निकलता देख, मयूरों ने समझा कि ये मेघ हैं, जिससे वे जोर से केका ध्वनि करने लगे, क्योंकि जब मेघ आते हैं तब उनको देख मयूर नृत्य भी करते हैं' उनका नृत्य देखने से रस प्रकट होता है, गीत तथा वाद्य के बिना नृत्य की शोभा नहीं होती है, इसलिये यहां मयूरों की केका गीत तथा वाद्य दोनों को प्रकट करती है अतः दोनों प्रकार की है यह दिखाया है ॥१२॥

आभास—यदर्थमेतन्निरूपितं तन्निरूपयति तस्मिन्निति ।

आभासार्थ—जिसके लिये इतना निरूपण किया, अब उसका 'तस्मिन्' श्लोक से निरूपण करते हैं—

श्लोक—तस्मिन्समानगुणरूपवयस्सुवेषदासीसहस्रयुतयानुसवं गृहिण्या ।
विप्रो ददर्श चमरव्यजनेन रुक्मदण्डेन सात्वतपतिं परिवीजयन्त्या ॥१३॥

श्लोकार्थ—उस गृह में अपने समान वय रूप, सुन्दर वेष और गुणोंवाली सहस्र दासियों से मिलकर श्रीमती रुक्मिणीजी सोने के दण्ड वाला चँवर हस्त में लेकर जिस समय यादव पति श्रीकृष्ण को पवन कर रहीं थी, उस समय नारदजी ने भगवान् का दर्शन किया ॥१३॥

सुबोधिनी—समाना गुणा औदार्यादयः रत्युपयोगिनो वा मृदुत्वादयः । रूपं सौन्दर्यम् । वयस्तारुण्यम् । सुवेषो वस्त्रादिभिः । रसो हि निर्बद्धः शङ्कां करोतीति, स्वल्पश्च न पोषको भवतीति, महारसानुभवार्थं दास्यो निरूप्यन्ते । नायिकानां मेलने भिन्नस्वभावत्वात् रसो नोत्पद्यत इति, तासां च कामना नैवंविधेति, केवल-भोगशीलत्वं वारयितुमाह गृहिण्येति । अनुसवं सर्वकालं दासीसहस्रयुतया भार्यया चमरव्यजनेन सात्त्वतपतिं वस्तुतः स्वपतिं परिवीजयन्त्या सह

सात्वतपतिं ददर्शेति सम्बन्धः। चमरकृतं व्यजनं उद्दीपनकरम्, तथा सुवर्णदण्डयुक्तं च। अयं भगवत्यद्भुतः प्रकारो निरूपितः। नैवंविधः समानानां प्रकारो लोके सामान्यानां सम्भवति। अनेन रात्रावयं भोगकाले गत इति सूचितम्। ॥१३॥

व्याख्यार्थ—दासियों में भी श्री रुक्मिणीजी जैसे गुण थे उनका वर्णन करते हैं, १–उदारता आदि गुण अथवा रति क्रीडा के उपयोगी मृदुत्व आदि गुण उनमें भी थे, २–सौन्दर्य, ३– युवावस्था ४–सुन्दर वस्त्र आदि इत्यादि मे समानता प्रकट की है, इस प्रकार समानता वाली इतनी दासियों की क्या आवश्यकता है ? शङ्का का समाधान करते हैं कि काम रस का भोग एकान्त मे ही होता है, जिससे उस समय मन मे यह शङ्का बनी रहती है कि कोई प्रतिबन्ध करने वाला तो आता नही ? मन में इस प्रकार शङ्का उत्पन्न होने से रस उत्पन्न नहीं होता है, इसलिये प्रतिबन्ध को रोकने के लिये दासियों की आवश्यकता थी, यदि काम क्रीड़ा स्वल्प समय हो तो वह नायिका रूप विभाव रस पोषक नहीं होता है उस समय रस पुष्ट न होने से पूर्ण महान् रस को प्राप्ति नहीं होती है, अतः महान् रस के अनुभव करने के लिये दासियों का निरूपण करते हैं, यदि अनेक नायिका रूप विभाव होवे तो रस उत्पन्न नही होता है क्योंकि प्रत्येक का स्वभाव पृथक् पृथक् होता है अतः रसोत्पत्ति उनसे नही होती है, इसलिये नायिका एक ही गृहिणी दिखायी है, अन्य दासियों अनेक प्रकार के कटाक्षादि से पोषित रस विशेष उद्दीप्त होता है जिसका अनुभव मुख्य नायिका गृहिणी से प्राप्त होता है, इसलिये वे दासियां केवल उद्दीपन करने के लिये है न कि भोगार्थ हैं। भोगार्थ महान् रसानुभव के लिये तो 'गृहिणी' मुख्य नायिका है वह, सर्व काल सहस्र दासियों से युक्त हो, चँवर के पवन से यादवपति को वस्तुतः अपने पति की सेवा कर रही थी, तब नारदजी ने जाकर उस लीला के दर्शन किये, चँवर का वायु उद्दीपन करने वाला है, उसमें भी सुवर्ण दण्डवाला विशेष है यह अद्भुत प्रकार भगवान् में निरूपण किया, वह प्रकार सामान्य और समानों में नही होता है इससे यह दिखाया कि नारदजी रात्रि में भोग के समय वहा गये है ॥१३॥

आभास—तत्र भगवता आतिथ्यप्रकारमाह तं सन्निरीक्ष्येति त्रिभिः।

आभासार्थ—'तं सन्निरीक्ष्य' से तीन श्लोकों में भगवान् ने जिस प्रकार अतिथि सत्कार किया उसका वर्णन करते हैं—

श्लोक—तं सन्निरीक्ष्य भगवान्सहसोत्थितः
श्रीपर्यङ्कतः सकलधर्मभृतां वरिष्ठः।
आनम्य पादयुगलं शिरसा किरीट-
जुष्टेन साञ्जलिरवीविशदासने स्वे ॥१४॥

श्लोकार्थ—नारदजी को देखते ही सकल धर्मधारियों में परम श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी तुरन्त रुक्मिणीजी के पलङ्ग से उठ खड़े हो गए और किरीट सहित मस्तक से उन (नारदजी) के चरणों को प्रणाम कर हाथ जोड़ उनको अपने आसन पर विठाये ॥१४॥

सुबोधिनी—कायिकमानसिकवाचनिकैः । कायिकपूजा सर्वेणापि स्वयोग्या कर्तव्या । अतो भगवानपि तं दृष्ट्वा स्वपदे निवेशितवानिति निरूप्यते । नह्येतस्मादधिका पूजा सम्भवति । अन्या या लौकिकी सा सर्वसाधारणी अन्यदोषत्वेन निरूप्यते । एवंकरणे हेतुमाह भगवानिति । अन्यथा अन्यस्माद्भगवति को विशेषः स्यात् । यदि स्वपदे नोपवेशयेत् । सहसोत्थित इति तं प्रति लौकिकभावस्थैर्यं सूचितम् । अन्यथा स्वधर्माविर्भावे सेवकं प्रति भगवदुत्थानं नोचितं स्यात् । 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति भगवत्प्रतिज्ञा । स च लौकिकबुद्ध्या भगवन्तं दृष्टवानिति भगवानपि तथैव चकार । श्रीपर्यङ्कत इति । अनौचित्यं निरूपितम् । केवललौकिकप्रकारेणापि तथात्वं भवतीति वैदिकप्रकारमाह सकलधर्मभृतां वरिष्ठ इति । धर्मभृतो निरन्तरधर्मकर्तारः । ते जीवा एव भवन्ति । तेषां मध्ये श्रेष्ठ इति सजातीयोत्कर्षात् बहिर्दृष्टिरेव तस्य स्थिरीक्रियते । अत एव भगवान् पादयुगलमानम्य । तत्रापि शिरसा धर्मनिष्ठां सूचयितुम् । किरीटजुष्टेनेति लोकनिष्ठा । न केवलं स्वयं तद्धर्मावलम्बनं कृतवान्, किन्तु तं चापि स्वधर्मेयोजितवानित्याह सञ्जलिः स्वे आसने अवीविशदिति । स्वासने तं निवेशयामासेत्यर्थः । अन्तर्भावितणिच्प्रयोगः । भगवानेव तत्र वस्तुतः स्वधर्मं स्थापितवानिति स्वयमेव तत्रोपविष्ट इति धर्मव्यत्यासं स्थापयितुं अवीविशदित्युक्तवान् । आसनं च श्रीपर्यङ्कमित्येव लक्ष्यते । तत एवोत्थित इति स्वपदेनापि तदेवेति गम्यते । आसनपदेन स्वसिंहासनमिति । तथापि अग्रे पृथुकोपाख्याने 'निवासित प्रियाजुष्टे पर्यङ्के' इति वाक्यात् पर्यङ्कमेवासनस्थानीयम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने नारदजी का कायिक, मानसिक और वाचिक तीनों प्रकार आतिथ्य किया जिसका तीन श्लोकों से वर्णन करते है, काया से अतिथि का पूजन सत्कार सबको अपनी योग्यतानुसार करना ही चाहिये अत. भगवान् ने भी उनको देखते ही लाकर अपने स्थान पर विराजमान किया. यों निरूपण किया जाता है क्योंकि कायिक पूजन इससे विशेष अन्य कोई नही है और. दूसरी जो लौकिक कायिक सेवा है वह अन्य शेषत्व से निरूपण की जाती है, इस प्रकार करने में कारण दिखाते है कि आप भगवान् है,यों न करे तो दूसरों से भगवान् में कौनसी विशेषता देखने मे आवे, यदि अपने स्थान पर उनको विराजमान न करे,तुरन्त उठ खड़े हुये जिससे उनके प्रति लौकिक भाव की स्थिरता दिखाई, यदि लौकिक भाव न होवे तो और अपना भगवद्धर्म प्रकट करते तो सेवक के आने पर उठ कर खड़ा होना उचित न होता। भगवद्गीता मे भगवान् ने प्रतिज्ञा की है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' जो मेरे पास जिस भाव से आते हैं वा शरण लेते हैं उनका भजन मैं उसी भाव से करता हूं, अतः नारद इस समय लौकिक भाव से भावित होकर आया था जिससे भगवान् ने भी उसका आतिथ्य लौकिक भाव प्रकट करते हुए किया है, 'श्रीपर्यङ्कत' रुक्मिणीजी के पलङ्ग से, यह तो अनुचित निरूपण किया है, केवल लौकिक प्रकार से भी वैसे हो सकता है, इसलिए वैदिक प्रकार भी दिखाते हैं कि आप समस्त धर्मधारियों में परमोत्तम हैं, 'धर्मधारी वे कहे जाते हैं, जो निरन्तर धर्मकर्त्ता होते हैं अर्थात् सर्व समय में धर्म पर चलने वाले हो, वे जीव होते हैं, उनमें श्रेष्ठ हैं', इस प्रकार सजातीय उत्कर्ष दिखाकर नारद की बहिर्दृष्टि ही स्थिर की जाती है, इस कारण से ही भगवान् ने नारद के चरणों में मुकुट सहित सिर से प्रणाम किया है, सिर से प्रणाम कर अपनी धर्म में निष्ठा प्रकट कर दिखाई है और मुकुट से लोक-निष्ठा को सूचित किया है, केवल आपने उसके धर्मों का अवलम्बन नहीं किया है, किन्तु उसमें भी अपने धर्मों को प्रवेश कराया है, वे कहते है कि

हाथ जोड़कर उसको अपने आसन पर विराजमान[1] किया, भगवान् ने ही वास्तविक रीति से अपने धर्म उसमें स्थापित किए, यों 'अवीविशत्' पद कह कर धर्म व्यत्यास स्थापन किया, यह दिखाया है अर्थात् जहाँ आप विराजे थे, वहाँ नारद को बिठाया और जहाँ नारद के बैठने का स्थान था, वहाँ आप विराजे; इस प्रकार धर्म व्यत्यास प्रकट दिखाया, यहाँ 'आसन' तो रुक्मिणीजी का पलङ्ग ही था, यों समझा जाता है, उससे ही आप खड़े हुए थे, 'स्व' अपना स्थान कहा, जिसमें भी पर्यङ्क ही आसन था, यों जाना जाता है, 'आसन' पद से 'अपना सिंहासन' इतना ही कहा है, तो भी पृथुकोपाख्यान में 'निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के' इस वाक्य से पलङ्ग ही आसन है ॥१४॥

श्लोक—तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना
बिभ्रज्जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि ।
ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणनाम युक्तं
तस्यैव यच्चरणशौचमशेषतीर्थम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—जगत् के जो गुरु हैं, उनमें भी उत्तम भक्तों के पति भगवान् ने उसके चरण धोकर वह जल अपने मस्तक पर चढ़ाया, जिस भगवान् के चरणों का जल (गङ्गा) सबको पवित्र करने वाली तीर्थरूप है, ऐसे प्रभु ब्राह्मणों के हितकर होने से इसको देव मानते हैं, भगवान् ने अपने गुण और नाम के अनुरूप उचित कार्य ही किया ॥१५॥

सुबोधिनी—ततस्तस्य चरणाववनिज्येति कायिकोऽपि व्यापारः मानसशेषत्वेन निरूप्यते । स्वतः प्रक्षालनं भक्तस्यैव सम्भवति । तदपः पादावनेजनीरापः स्वस्मिन् नारदधर्मावेशाद्भक्तानां भगवच्चरणारविन्दोदकं धार्यमेवेति स्वमूर्ध्ना अबिभ्रत् । नन्वेवमपि लोको भगवान्माहात्म्याभिज्ञः कथं मन्येत, तत्राह **जगद्गुरुतरोऽपीति** । यद्यपि जगतामत्यन्तं गुरुः शास्त्रप्रणेता उपदेष्टा प्रेरकः उपदेशश्च । तथापि सतां पतिर्भवति । 'यद्यदाचरति श्रेया'निति वाक्यात् भगवत्कृतमेव भगवदीयः करोतीति सतां पालनार्थं तथा कृतवान् । अन्यथा गजेन्द्रवद्वैष्णवानामुपद्रवोऽपि सम्भवेत् । तस्माद्भगवता युक्तमेव भक्तरक्षार्थं कृतमिति हिशब्दार्थः । नन्वेवं सति भक्तिमार्गे विरोधः स्यात्, तत्राह **ब्रह्मण्यदेव** इति । ब्राह्मणानां हितस्तेषां कार्यसाधको देवः । ब्रह्मण्यश्चासौ देवश्चेति तेषामेव पूज्यः । इदं भगवतो गुणनाम तदैव युक्तं भवति, यदि तन्मनोरथं साधयेत् । ब्राह्मणाश्च पूजां वाञ्छन्ति, नत्वन्नसत्रम् । तद्भगवत्येव तद्धर्मप्रवर्तके अन्यः प्रवर्तेत, न तु यस्मिन्कस्मिश्चित् । ननु एतावतापि कथं लोकः प्रवर्तेत, तत्राह **तस्यैव यच्चरणशौचमिति** । अशेषाणि तीर्थानि यस्मिन् गङ्गाजले 'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी चे'ति वाक्यात् । अनेन स्वापकर्षाभावोऽपि निरूपितः ॥१५॥

१– 'अवीविशत्' यह प्रयोग अन्तर्भावितणिच् प्रयोग है ।

व्याख्यार्थ—पलङ्ग पर विराजमान करने के पश्चात् भगवान् ने नारदजी के चरण धोये, यह धोने का कार्य कायिक होते हुए भी मानस शेषत्व से निरूपण किया जाता है, स्वतः पादों (चरणों) का धोना भक्ति से ही होता है, पाद प्रक्षालन का वह जल भगवान् ने अपने मस्तक पर धराया; क्योंकि उस समय भगवान् में नारदजी के धर्म का आवेश था, अतः भक्तों को भगवच्चरणारविन्द का जल अपने मस्तक पर धारण करना चाहिए, इस प्रकार होवे तो भी भगवान् के माहात्म्य को जानने वाले इस बात को कैसे मानेगे ? इस पर कहते है कि जगत् के बहुत गुरु हैं, जैसे कि शास्त्र बनाने वाले, उपदेश देने वाले, प्रेरणा करने वाले इत्यादि हैं, इन सब में भगवान् ही उत्तम महान् गुरु हैं, तो भी भक्तों के पति हैं, 'यद्यदा चरति श्रेष्ठः' इस गीता वाक्यानुसार जो कुछ आचरण भगवान् करते है, उनको देखकर भगवदीय भी करते हैं, इसलिए भक्तों के रक्षार्थ भगवान् ने यों किया है, यों न करते तो गजेन्द्र की तरह वैष्णवों को उपद्रव भी हो सकता । 'हि' शब्द इसलिए दिया है कि भगवान् ने यह कार्य जो किया है, वह भक्तों की रक्षा के लिए किया है, इसलिए योग्य ही किया है, यदि यों है तो भक्ति मार्ग में विरोध होगा । इसके उत्तर में कहते हैं कि 'ब्रह्मण्य देव.' ब्राह्मणों के हित को सिद्ध करने वाले देव हैं अर्थात् वह कार्य करते हैं, जिससे ब्राह्मणो का हित होवे. ब्रह्मण्य और वही देव है, अत. उनका ही पूज्य है. भगवान् नाम और गुण तब ही सार्थक हो. जब ऐसा कार्य करे. जिससे ब्राह्मणो का मनोरथ सिद्ध हो जाय. ब्राह्मण तो पूजा सत्कार चाहते है. न कि अन्न का सत्र अर्थात् भरपूर अन्न मिले. किन्तु अनादर हो, वह नही चाहते हैं, केवल सत्कार से प्रसन्न होते हैं, यह तब हो सकता है, जब धर्म प्रवर्तक भगवान् इस प्रकार का मार्ग बतावे न कि जैसा-वैसा अन्य बतावे तो हो सकता है, एतावता भी लोक कैसे प्रवृत्त होगे ? इस पर उत्तर देते हैं कि उस भगवान् के चरण से निकला जो जल है, 'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च' इस शास्त्रानुसार उसमे सब तीर्थ है, इतना होते हुए भी नारद के चरण का जल सिर पर चढा कर अपने अपवर्ग का अभाव भी निरूपण किया है ॥१५॥

आभास—स्तोत्रमाह सम्पूज्येति ।

आभासार्थ—'सम्पूज्य' श्लोक मे स्तुति करते है—

श्लोक—सम्पूज्य देवऋषिवर्यमृषिः पुराणो
नारायणो नरसखो विधिनोदितेन ।
वाण्याभिभाष्य मितयामृतमिष्टया
तं प्राह प्रभो भगवते करवाम ते किम् ॥१६ ।

श्लोकार्थ—नर के मित्र नारायण, पुराण ऋषि देवर्षि श्रेष्ठ नारदजी का विधि अनुसार पूजन कर, अमृत समान मिष्ट स्वल्प वाणी से वार्तालाप कर पूछने लगे कि हे प्रभो ! आपके लिए मुझे क्या कर्त्तव्य है ? ॥१६॥

सुबोधिनी—पूजाया अनुवादः उत्तरशेषत्वेन । तेन पूजा वाक्यापेक्षया हीना निरूपिता । **देवर्षिवर्यमिति** । अनेन देवा ऋषयश्च पूजितेन प्रीता भवन्तीति । गार्हस्थ्ये ऋणत्रयापाकरणे आवश्यके द्वयमनेनैव भवतीति तस्यावश्यकता सूचिता । ऋषिरिति । नारायणोऽयं अनिरुद्धांशेनैवं करोतीति सूचितम् । पुराण ऋषिर्नारायण एव, तथापि वेदोद्गमरूपोऽपि भवतीति तन्निराकरणार्थं नारायणो नरसख इति निरूपितम् । तस्य च अस्यैव प्रकरणस्यान्ते प्रत्यापत्ति वक्ष्यति । 'प्रत्येष्यतां निकाशं म' इति वाक्ये । **विधिनोदितेनेति** पूजायां प्रकार उक्तः । अन्यथा ऐश्वर्येण राजसी पूजा प्राप्नोति । वाण्या अमृतया अतिमिष्टया आभाष्य, भो भो नारदेत्युक्त्वा, तं नारदं प्राह । सर्वोत्कर्षः स्वस्वामित्व स्वस्य च तदाज्ञाकारित्वं पदत्रयेणाह **भगवते**, हे **प्रभो, ते किं करवामेति** । तृतीयं पदत्रयात्मकं त्वत्सेवा त्रिविधाप्यत्र कर्तव्येति सूचनार्थम् । तदाज्ञापयेति वाक्यशेषाभिप्रायः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—उत्तर शेषत्व से पूजा का अनुवाद है, इससे वाक्य की अपेक्षा से पूजा हीन निरूपण की है । 'देवर्षिवर्यमिति' इससे देव और ऋषि पूजित होने से प्रसन्न होते हैं, गृहस्थाश्रम में तीन ऋणों का उतारना आवश्यक है, दो तो इससे ही उतर जाते हैं इसलिये उसकी आवश्यकता सूचित की है, 'ऋषिरिति' इस पद का भावार्थ बताते हैं कि, यह नारायण अनिरूद्ध का अंश है अतः यों करता है, पुराण ऋषि नारायण ही है तो वेदोद्गमरूप भी होते हैं इसलिये उसके निराकरण के लिए कहा है कि यह नारायण नर का सखा है, उसकी और इसकी भी प्रकरण के अन्त में प्रत्यापत्ति (निर्णय) कहेंगे, 'प्रत्येष्यतां निकाशं म' इति वाक्ये । विधि नोदितेन पद से पूजा का प्रकार कहा है, जो यों नहीं कहते तो ऐश्वर्य के कारण विधि अनुसार पूजा न होकर राजसी पूजा हो जाती । अति मिष्ट अमृत सम वाणी से भो भो नारद ! यों सप्रेम सम्बोधन कर नारद को तीन पदों-(१) भगवते, (२) हे प्रभो, (३) ते- से सूचित करने लगे कि (१) आप सब ऋषि आदि में श्रेष्ठ हैं, २-अपना स्वामीपन, ३-हम आपके आज्ञाकारी हैं, अतः आज्ञा कीजिए आपके लिये हमारा क्या कर्त्तव्य है ? तीन पदों का यह भी भावार्थ है कि आपकी तीन प्रकार की सेवा भी हमको करनी चाहिए, वह बतलाइए आज्ञा कीजिए ॥१६॥

आभास—तत्रोत्तरमाह नारदः **नैवाद्भुतमिति** ।

आभासार्थ—'नैवाद्भुतं' श्लोक से नारदजी उत्तर देते हैं—

श्लोक—नारद उवाच—**नैवाद्भुतं त्वयि विभोऽखिललोकनाथे**
मैत्री जनेषु सकलेषु दमः खलानाम् ।
निःश्रेयसाय हि जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां
स्वेच्छावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु ॥१७॥

श्लोकार्थ—नारदजी ने कहा कि हे सर्व समर्थ ! हे सकल लोकों के नाथ ! हे उरुगाय ! आप सब सज्जनों पर स्नेह रखते हैं; क्योंकि लोकनाथ हैं, दुष्टों को दमन

करते हैं कारण कि जगत् का धारण, पालन और कल्याण करने के वास्ते ही यह आपका इच्छानुसारी अवतार है, अतः यह ब्राह्मण पूजन करना आपके लिए कोई अद्भुत कर्म नहीं है ॥१७॥

सुबोधिनी—वक्तव्यं तु न किञ्चित्, कृतानुमोदनं नु कर्तव्यं भवति। अन्यथा पूजा कृतैव न स्यात्। अनङ्गीकारात्। नत्स्वतोऽङ्गीकारे अयुक्तं स्यात् अतो भगवदीयधर्मत्वेनाभिनन्दनमुच्यते। हे विभो, सर्वकरणसमर्थ। एतद्ब्राह्मणपूजनं त्वयि नाद्भुतम्, अखिललोका शिक्षणीया इति। भगवांश्चाखिललोकनाथः। त्रिविधं हि कर्म जगद्रक्षार्थं क्रियते। खलानां दमः, अन्तर्यामितया सर्वसख्यम्, एतादृशी ब्राह्मणपूजा च। एतस्य कर्मणः बन्धहेतुत्वमाशङ्क्य निराकरोति निःश्रेयसायेति। अन्येषामपि मोक्षार्थमेतत्करणं श्रोतृणां कीर्तयितॄणां च। युक्तश्चायमर्थः। अन्यथा त्रिविधानि कर्माणि लोकानां न शान्तानि भवेयुः। सजातीयनिवर्तकाभावात्। एतज्जीवैरपि कर्तुं शक्यत इति भगवतो विशेषं वक्तुमाह **जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां सहेति**। स हि जगत् स्वात्मनि धारयति, पालयति च। **स्वेच्छावतारेति** सम्बोधनं तादृशस्यापि कर्मकरणं लीलार्थमिति सूचयति। सप्तम्यन्तं वा पदं हेतुप्रकथनाय, अन्यथा कथं लोकाः कीर्तयेयुः, कथं वा मुक्ता भवेयुरिति। अत्र प्रमाणमाह **विदामेति**। सुष्ठ्विति अनुभवश्रुतिभ्याम्, न तु तर्कमात्रेण ॥१७॥

व्याख्यार्थ--कहने योग्य तो नवीन कुछ नहीं है केवल किये हुए कार्य का अनुमोदन करना है. यदि किये हुए कार्य की अङ्गीकृति न की जावे तो की हुई पूजा, मानों की ही नहीं है यों समझा जाय, स्वतः अङ्गीकार करने में भी औचित्य नहीं, अतः भगवदीय धर्मपन से अभिनन्दन कहा जाता है, हे विभो! अर्थात् सर्व करण समर्थ, यह जो आपने ब्राह्मण का पूजन किया है, वह आप में अद्भुत नहीं है, भगवान् होने से आप अखिल लोक नाथ हैं, जिससे सब लोकों को आपको शिक्षा देनी है, आप लोक रक्षा के लिये तीन प्रकार के कर्म करते हो १- खलों का दमन करते हो, अन्तर्यामी होने से सब से मैत्री करते हो और इस प्रकार की ब्राह्मण पूजा करते हो. इस प्रकार त्रिविध कर्म करने से तो बन्धन होगा? जिसके उत्तर में कहा है कि निःश्रेयसाय, यह कर्म दूसरों के भी मोक्ष के लिये करते हो, इन कर्मों के श्रवण करने वाले तथा कीर्तन करने वालों का भी मोक्ष हो, अतः यह अर्थ उचित है, अन्यथा ये लोकों के त्रिविध कर्म सजातीय निवर्तक के अभाव से, शान्त न हो सके, यह जीव भी तो कर सकते हैं तो भी भगवान् में इनकी विशेषता दिखाते हैं कि भगवान् ये कर्म जगत् की स्थिति तथा रक्षण के साथ करते है. जीव यों नहीं कर सकते हैं, प्रभु जगत् को अपने स्वरूप में धारण करते है एवं पालन करते हैं कारण कि स्वेच्छावतारी के भी ऐसे कर्म लीलार्थ ही हैं, यह सूचन होता है, 'त्वयि' सप्तमी विभक्ति हेतु कहने के लिये है, नहीं तो लोक, उन कर्मों का कीर्तन कैसे करे? और उनकी मुक्ति कैसे हो? इसमें प्रमाण देते हैं, कि हम अनुभव और शास्त्र श्रवण से अथवा वेदों की श्रुतियों में इसको अच्छी तरह जानते हैं, न कि केवल तर्कों से जानते है ॥१७॥

१- यदि भगवान् इस प्रकार की लीला कर कर्म न करें तो

आभास—एवं कृताभिनन्दनं कृत्वा भगवदुक्तं नान्यथा कर्तव्यमित्यभिप्रेत्य स्वाभिलषितं किञ्चित् प्रसङ्गात् प्रार्थयते **दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलमिति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के किये कर्मों का अभिनन्दन कर भगवान् का कहा हुआ अन्यथा नहीं करना चाहिये, यों ध्यान में लाकर प्रसङ्ग से अपने कुछ अभिलषित को "दृष्ट" श्लोक में प्रार्थना करते हैं-

श्लोक—**दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं**
ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं ध्याय-
श्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात् ।।१८।।

श्लोकार्थ—अगाध ज्ञान वाले ब्रह्मादि देव, जिन चरणों का ध्यान करते हैं, जो चरण मनुष्य मात्र के मोक्ष रूप हैं और संसार कूप में पड़े हुओं का उससे निकलने के लिए आश्रय हैं, उन चरणों के मैंने दर्शन किए, अतः अब आप ऐसी कृपा करो जिससे उन चरणों का सदैव ध्यान करता हुआ भ्रमण करूँ एवं ऐसी स्मृति सर्वदा रहे ।।१८।।

सुबोधिनी—यदेतत् दृष्टम्, तद्ध्यायन् सर्वत्र चरामीति स्वाध्यवसायः। **अत्र** यथा स्मृतिः स्यात्, तथा अनुगृहाणेति कर्तव्यप्रार्थना । दुर्लभं ह्येतदेव । प्राप्तेऽपि बहवो बाधकाः । अतः स्मृतिर्भविष्यतीति न विश्वासः। कर्तव्यं च मम नान्यत् । अतश्चरणस्मरणार्थमनुग्रह एव कर्तव्यः । **दृष्टमित्यनेन** ज्ञानपक्षो निराकृतः । भगवच्चरणयोरेव जीवब्रह्मत्वात् स्वात्मपरमात्मसाक्षात्कारः सिद्ध एव । मोक्षपक्षमपि व्यावर्तयति । जनताया एवापवर्गं करोतीति । तत्रास्मदपवर्गे कः सन्देह इति भावः । एतास्मान्नान्यद्दुर्लभमस्तीत्यभिप्रायेणाह । **अगाधबोधैः** पूर्णज्ञानैरपि ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमेव, न तु साक्षाद्द्रष्टुं शक्यम् । तस्माद्ब्रह्मादीनामप्येतदेव दुर्लभमिति नातः परतरं किञ्चिन्मृग्यम् । अनेन चरणस्य ऐहिकपारलौकिकफलेभ्योऽपि महत्त्वं निरूपितम् । किञ्च । भक्तिमार्गस्यैतदेव प्रवर्तकमित्याह **संसारकूपेति** । 'यावन्नृकाय'मिति न्यायेन शास्त्रानुसारेण ये स्वहितं न कृतवन्तः, 'तान्नो चेत् प्रमत्त'मिति न्यायेन विषयाः कूपे (निपातयन्ति । ते कूपे) पतिताः, तेषामुत्तरणे तीर्थाभावात् पक्षाभावाच्च कर्मवल्ली अन्तरेव संवृता नोपरिनयतीति, ज्ञानं च सूत्रवत् नो पर्याकर्षतीति, भगवच्चरणारविन्दद्वयमेव संसारकूपे पतितानां तत उत्तरणे अवलम्बनं भवति । अतो मार्गत्रयेऽप्येतदेव शरणमिति ध्यायंश्चरामि । एतावदुक्त्वा भगवता अनुज्ञातः निर्गत इति ज्ञातव्यम् ।।१८।।

व्याख्यार्थ—मेरा यही सदैव उद्यम वा कार्य रहे, जिन चरणों के दर्शन किए हैं, उनका ध्यान करता हुआ अटन करूँ, अध्यवसाय (व्यापार) की जैसे स्मृति बनी रहे, वैसी कृपा कीजिए, इस

प्रकार अनुग्रह करने की प्रार्थना इसलिए की है कि एक तो आपका ध्यान सदैव रहे, यह दुर्लभ है और दूसरा यदि ध्यान किया जाय वा होवे तो भी उसमें बाधक बहुत होते हैं, अतः भगवान् के चरणों के ध्यान करने की स्मृति रहेगी. ऐसा विश्वास नहीं होता है, इसके सिवाय मेरा दूसरा कर्त्तव्य ही नहीं है, अतः चरणों की स्मृति के लिए आपको मेरे ऊपर अनुग्रह ही करना चाहिए, आपके अनुग्रह बिना यह दुर्लभ एवं बहुत बाधकों वाला ध्यान हो नहीं सकता है, अतः कृपा करो, यह प्रार्थना है. केवल मुझे ऐसा ज्ञान है, इस पक्ष का भी निराकरण करने के लिए कहा है कि मैंने प्रत्यक्ष दर्शन किए. भगवच्चरण जीव और ब्रह्मरूप होने से अपनी आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार सिद्ध ही है अर्थात् भगवान् के चरण अक्षर ब्रह्मरूप हैं और जीव अक्षर का अंश है, अतः अंश का अंशी अक्षर से अभेद होने से जीव अक्षर रूप ही है, जिससे जीव को अक्षर का साक्षात्कार सिद्ध ही है. मोक्ष के लिए प्रार्थना करना, इस पक्ष का भी निराकरण करता है, जब ये चरण ही जनता का मोक्ष करते है, तब हम लोगो के मोक्ष में कौनसा सन्देह है? जो हम मोक्ष के लिए प्रार्थना करे. इनसे अन्य कोई भी दुर्लभ नहीं है, इस अभिप्राय को प्रकट सिद्ध करने के लिए नारदजी कहते हैं कि ये चरण पूर्ण ज्ञानी ब्रह्मादि को भी चिन्तन करने योग्य है; क्योंकि ये चरण ऐसे दुर्लभ है कि साक्षात् देखने में अशक्य है, इस कारण से ब्रह्मादिकों को भी इनके दर्शन दुर्लभ है, इनसे परे कुछ ढूंढने योग्य नहीं है, यों कह कर ऐहिक और पारलौकिक फलों से भी चरणों का महत्त्व निरूपण किया है और विशेषता यह है कि भक्ति मार्ग के प्रवर्तक ये चरण ही हैं, जब तक मनुष्य शरीर है, तब तक शास्त्रों मे कहे हुए अपने धर्मों का पालन करना चाहिए, किन्तु जो इस प्रकार धर्मों का पालन न कर अपना हित नहीं कर सकते है, उनको विषय संसार कूप[1] में ढकेल देते है. वह कूप कर्म बेलो से बन्द हो जाने के कारण उससे निकलना कठिन हो जाता है. ऐसे कूप मे पड़े हुए को निकालने के लिए तीर्थ की भी सामर्थ्य नहीं. ज्ञान भी सूत्र की तरह ऊपर नहीं खींच सकता है, ऐसी अवस्था में केवल भगवच्चरण युगल ही संसार कूप में पतितों का अवलम्बन है, अतः कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों के होते हुए भी यह चरण युगल ही रक्षक हैं, इसलिए इसका ध्यान करता हुआ घूम रहा हूँ. इतना कहकर भगवान् से आज्ञा लेकर पधार गए, यों जानना चाहिए ।।१८।।

आभास—ततो निर्गतस्य गृहान्तरप्रवेशमाह ततोऽन्यदाविशद्गेहमिति ।

आभासार्थ—'ततोऽन्यदाविशद्गेह' श्लोक में कहते हैं कि वहाँ से गए हुए, नारदजी ने दूसरे गृह में प्रवेश किया—

श्लोक—**ततोऽन्यदाविशद्गेहं कृष्णपत्न्याः स नारदः ।**
योगेश्वरेश्वरस्याङ्ग योगमायाविवित्सया ।।१९।।

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! पश्चात् वह नारदजी, कृष्ण पत्नी के दूसरे गृह में, योगेश्वरों के ईश्वर की योग माया को जानने की इच्छा से गये ।।१९।।

१- अहन्ता ममता रूप कूप

सुबोधिनी—अन्यत्पूर्वोक्तं समानम् । कृष्ण-पत्न्या इति । भगवान् पूर्वगृहे दृष्ट इति नारदस्य भगवत्पत्नी वात्र स्थास्यतीति बुद्धिरिति कृष्ण-पत्न्या इत्युक्तम् । स तु कृपां प्रार्थयित्वा निर्गतः । ततोऽपि बहिर्मुखत्वाद्गृहान्तरमेव प्रविष्टः । यतो नारं द्यति खण्डयति व्यसनस्वभावः । तस्य गृहान्तरप्रवेशे मनीषितमाह **योगेश्वरेश्वरस्येति** । योगस्यैव गतिर्दुर्ज्ञेया, अलौकिकत्वात् । तत्रापि योगेश्वरस्य । यो योगमपि वशीकृतवान्, तेषाम-पीश्वरो भगवान् । तस्यापि योगमाया । तस्या विवित्सा, यस्याः वैभवं भगवानपि न मन्यते एतावदिति । **अङ्ग**त्यप्रतारणार्थं सम्बोधनम् ॥

व्याख्यार्थ—दूसरा सर्व, पहले कहे हुए के समान है, कृष्ण पत्नी के दूसरे गृह में गये, यों कहने का आशय यह था कि नारदजी ने मन मे समझा था कि इस घर में तो कृष्ण विराजते है दूसरे गृह में केवल कृष्ण की दूसरी पत्नी ही होगी,इसलिये कृष्ण पत्नी के गृह में कहा है, वह नारद-जी,कृपा हो,यह प्रार्थना कर वहां से निकले,इसके अनन्तर भी नारदजी में बहिर्मुखता थी जिससे दूसरे गृह में देखने के लिए गये,क्योंकि नारदजी व्यसनों को खण्डन करनेवाले हैं इसलिये खण्डनार्थ व्यसनों की पर्यालोचना करने के स्वभाव वाले होने से बहिर्मुख कहा है, उनका गृहान्तर प्रवेश में जो विचार था वह कहते है, 'योगेश्वरेश्वरस्य' योग की ही गति नहीं जानी जाती है क्योंकि अलौकिक है, उसमें फिर योगेश्वरों की गति कैसे जानी जायेगी? जो योगेश्वर योग को अपने वश में रखते है,उन योगेश्वरों के भी थे, भगवान् ईश्वर हैं उनकी भी फिर योगमाया, उसको जानने की इच्छा से गृहान्तर में प्रविष्ट हुए थे, जिसके वैभव को भगवान् भी नही जान पाता है. हे अङ्ग ! यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि, इसमें प्रतारणा (छल) नही है ॥१६॥

आभास—तत्र स्थितस्य भगवतः पूर्वदृष्टापेक्षया भिन्नमेव सन्निवेशमाह **दीव्यन्तमक्षैरिति** ।

आभासार्थ—उस अन्य गृह में स्थित भगवान् पहले गृह में देखे हुए की अपेक्षा से दूसरी ही लीला कर रहे हैं जिसका वर्णन 'दीव्यन्तमक्षै' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च ।**
(पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥२०॥)

श्लोकार्थ—वहाँ भी देखा तो भगवान्, उद्धवजी और प्रिया के साथ चौपड़ खेल रहे हैं, भगवान् नारदजी को देखते ही उठ खड़े हो गए और परम प्रेम से आसन आदि देकर उनकी पूजा की ॥२०॥

सुबोधिनी—सर्वत्र तादृश एव सन्निवेशो वक्तव्यः, येन पूर्वगृहे स्थितस्य शीघ्रं समागमन-शङ्कापि न सम्भवति । तत्रापि 'भगवन्तं ददर्श'ति पूर्वा क्रियैवानुसन्धेया । परं प्रियया भार्यया उद्ध-वेन च सह अक्षैर्दीव्यन्तमिति ॥२०॥

व्याख्यार्थ—सब स्थानों में वैसा ही सम्यक् प्रवेश कहना चाहिये, जिससे पहले घर में बैठे हुए की यहाँ शीघ्र आ जाने की शङ्का भी न हो सके, वहाँ भी भगवान् को देखा पहले कही हुई क्रिया का अनुसन्धान करना चाहिए, विशेष में प्यारी भार्या तथा उद्धवजी से चौपड़ खेलते हुए प्रभु को देखा ॥२०॥

आभास—तस्य नारदस्य भगवान् मायया तथा प्रदर्शयतीति बुद्धिव्यावृत्त्यर्थं भगवान् किञ्चिदुक्तवानित्याह **पृष्टश्चाविदुषेवासाविति** ।

आभासार्थ—भगवान् यह सब माया से दिखा रहे है, नारद की ऐसी बुद्धि का बदलने के लिए भगवान् 'पृष्टश्चाविदुषेवासौ' श्लोक में कुछ कहते है—

श्लोक—पृष्टश्चाविदुषेवासौ कदायातो भवानिति ।
क्रियते किं नु पूर्णानामपूर्णैरस्मदादिभिः ॥२१॥

श्लोकार्थ—मानो अनजान है, ऐसे बन कर भगवान् ने नारदजी से पूछा कि आप कब पधारे हैं ? आप तो पूर्ण हो, हम अपूर्ण आपकी क्या सेवा कर सकते है? ॥२१॥

सुबोधिनी—असौ पूर्वदृष्ट एव भगवान् प्रत्यभिज्ञानस्य दृढत्वात्, तथापि कदायातो भवान् इति पृष्टवान् । असौ नारदो भगवता पृष्टः, यथा स स्वाकारगोपन करोति परीक्षार्थम्, तथा भगवानपि कृतवानित्यभिप्रायेणाह तथा **अविदुषेवेति** । चकारात्पूजा । कृत सर्वं कृतवान् । स्तुतिं च कृतवानित्याह **क्रियते किं नु पूर्णानामिति** । पूर्ववद्भगवन्नारदयोः धर्मव्यत्यासो द्रष्टव्यः । तदोपपद्यत एव । पूर्णाना भवतां अपूर्णैरस्मदादिभिः किं कर्तव्यमिति । यथा अज्ञाननाट्यम्, एवं तत्कार्यनाट्यवाक्यमपीति केचित् । लौकिकी वा भाषा तन्मोहार्था, तद्बुद्धौ भगवान्परिच्छिन्नो भासत इति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति न्यायेन भगवद्वचनमित्यपरे ॥२१॥

व्याख्यार्थ—यह भगवान् पहले देखे हुए ही हैं इस प्रकार का पूर्ण ज्ञान दृढ है, तो भी आप कब आये? यों पूछे गये. इस नारद से भगवान् ने पूछा, जिस प्रकार नारदजी परीक्षार्थ अपने स्वरूप को छिपाते हैं,वैसे भगवान् भी अपने को छिपाते हैं.इसलिये कहा है कि 'अविदुषा' मानो अनजान की तरह पूछा 'च' पद से पूजा कही है, जो कर्त्तव्य करना चाहिये वह सब किया और स्तुति की, वह कहते हैं कि 'क्रियते किं नु पूर्णानाम्' हम अपूर्ण,आप पूर्णो की क्या सेवादि कर सकते है, यो कहकर नारद और भगवान् के धर्म का परस्पर व्यत्यास[1] बताया है, अथवा यों कहने से भगवान् और नारद मे धर्म का व्यत्यास देखना चाहिये. तब ही यह कहना बन सकता है. पूर्ण जो आप[2] हैं उनका अपूर्ण

१ बदलना. २ नारद

हम क्या करहैं ? जैसे अज्ञान से नाट्य किया जाता इसी तरह यह कार्य नाट्य का वाक्य भी है, यों कोई कहते हैं, अथवा यह लौकिकी भाषा उसको मोहित करने के लिये हैं उसकी[1] बुद्धि में भगवान् परिछिन्न भासते हैं, यों 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस न्यायानुसार भगवान् के वाक्य हैं, यों अन्य कहते हैं ।।२१।।

आभास—तथापि समागतस्य भगवद्गुणनिर्धारार्थं प्रवर्तमानस्य हितं कर्तव्यमिति भक्तिशास्त्रमनुसृत्याह **अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मन्निति** ।

आभासार्थ—तो भी भगवान् के गुणों का निर्धार करने के लिये जो सभा में आया है उसका हित करना चाहिये, यों भक्ति शास्त्र का अनुसरण कर 'अथापि' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मञ्जन्मैतच्छोभनं कुरु ।**
स तु विस्मित उत्थाय तूर्णमन्यदगाद्गृहम् ।।२२।।

श्लोकार्थ—तो भी हे ब्रह्मन् ! कुछ आज्ञा कर जन्म सफल करो, नारदजी तो विस्मय में पड़ गए और वहाँ से उठकर अन्य गृह में शीघ्र चले गए ।।२२।।

सुबोधिनी—अस्मान्प्रति ब्रूहि. किञ्चित्प्रार्थयेत्यर्थः । **ब्रह्मन्निति** ब्राह्मणस्य याचनमुचितमिति । किञ्च । एतन्मम जन्म अवतारः भक्तोद्धारक एवेति । तत्र मुख्यो भवानिति स्वात्मानं पूर्णं कुर्वन् जन्म शोभनं कुरु । स्वजन्म वा । ततो यज्जातं तदाह **स तु विस्मित उत्थायेति** । पारमार्थिकमेतद्वचनं न भवतीति स्वमनसि निश्चित्य, मां वञ्चयति, शीघ्रं ततः आगत्येति सम्भावनां कुर्वन्, शीघ्रमुत्थाय, ततो गत इत्याह । हेत्वदर्शनाद्विस्मितो जातः । भगवतो वैभवेन समागमनं निराकरोति **तु**शब्दः । उत्थाय तूर्णमेव अन्यद्गृहमगात् ।।२२।।

व्याख्यार्थ—हमको कहो, अर्थात् प्रार्थना करो, हे ब्रह्मन् ! इस सम्बोधन देने का आशय प्रकट करते हैं कि ब्राह्मण को याचना करनी योग्य ही है, और विशेष यह है कि मेरा यह अवतार भक्तों के उद्धार के लिये ही है, उनमें मुख्य भक्त आप हैं, इसलिये अपनी आत्मा को पूर्ण बना कर मेरा जन्म वा अवतार सफल करो अथवा अपना जन्म सफल करो, भगवान् के इन वचनों के कहने के पश्चात् जो कुछ हुआ वह कहते हैं नारद ने सोचकर निश्चय किया, भगवान् जो कुछ वचन कह रहे है वे पारमार्थिक नहीं है, यों कहकर मुझे ठगते हैं, इस प्रकार सम्भावना कर, वहाँ से शीघ्र उठकर दूसरे गृह में गये, भगवान् ने कोई हेतु नहीं दिखलाया इससे अचम्भे में पड़ गये, 'तु' शब्द से भगवान् के वैभव से समागमन का निराकरण करते हैं ।।२२।।

आभास—तत्र सन्निवेशान्तरमाह **तत्राप्यचष्टे**ति ।

१--नारद की

आभासार्थ—वहां प्रवेश के अनन्तर जो देखा वह 'तत्राप्यचष्ट' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**तत्राप्यचष्ट गोविन्दं लालयन्तं सुतान् शिशून् ।**
ततोऽन्यस्मिन्गृहेऽपश्यन्मज्जनाय कृतोद्यमम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—वहाँ भी भगवान् को छोटे-२ बालकों को खिलाते देखा, वहाँ से फिर अन्य गृह में देखा तो भगवान् स्नान की तैयारी कर रहे हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—शिशून् पुत्रादीन् । तत्र भगवन्तं दूरादेव प्रविष्टानन्तरमेव स्थितं दृष्ट्वा, तत्त्वमङ्गुष्ठपर्यन्तं तत्तद्भावस्थितं भगवन्तं पश्यन्, तत्र तत्र प्रविश्य, ततस्ततो निर्गत इत्याह ततोऽन्यस्मिन्नित्यादि । अर्थोवाचेत्यत्र प्राक्तनेन । मज्जनाय मर्दनानन्तरं स्नानाय कृत उद्यमो येन ॥२३॥

व्याख्यार्थ—छोटे छोटे पुत्रादिकों को न कि प्रौढों को खेलाते भगवान् स्थित थे, वहां दूर से ही प्रवेशानन्तर, भगवान् को उस उस भाव से स्थित अन्य अन्य गृहों में और प्रवेश कर २४ प्रकार से देखता हुआ निकल गया, अन्यत्र देखा तो प्रभु शरीर का मर्दन (मालिश) कर स्नान के लिये तैयारी कर रहे हैं ॥२३॥

श्लोक—**जुह्वन्तं च वितानाग्नीन्यजन्तं पञ्चभिर्मखैः ।**
भोजयन्तं द्विजान्क्वापि भुञ्जानमवशेषितम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—कही आह्वनीय अग्नि में होम करते थे, कहीं पञ्च यज्ञ कर रहे थे, कहीं ब्राह्मणों को भोजन कराते थे और कही पाँच यज्ञों से शेष अन्न से स्वयं भोजन करते थे, इस प्रकार भगवान् को पृथक्-२ कार्य करते नारद ने देखा ॥२४॥

सुबोधिनी—वितानाग्नीन् यज्ञविताने स्थितान् गार्हपत्यादीन् । 'सोमं विधाय अवभृथस्नानानन्तरं सा यावद्रात्रेः संतिष्ठत' इति न्यायेन मध्यरात्रावप्यग्निहोत्रहोमः । तथैवान्यत्र पञ्च मखाः देवयज्ञादयः पञ्चगृहेषु । क्वापि गृहे द्विजान् भोजयन्तं रात्रिभोजनेन । ततोऽवशेषितं भुञ्जानं गृहान्तरे । एते नव गृहाः पूर्वोक्तैः सह द्वादश । ॥२४॥

व्याख्यार्थ—गार्हपत्य आदि अग्नि में होम कर रहे थे, 'सोमं विधाय' मन्त्र में कहा है कि, सोम यज्ञ को करने के बाद यज्ञीय स्नान कर उसके अनन्तर रात्रि हो जाय तो मध्य रात्रि में भी अग्नि होत्र होम करना ही चाहिये इसी प्रकार अन्य गृहों में पञ्च यज्ञ अर्थात् देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, भूत यज्ञ, मनुष्य यज्ञ, और ब्रह्म यज्ञ आदि पांच यज्ञ गृहों में कर रहे थे, किसी गृह में, ब्राह्मणों को रात्रि भोजन से, भोजन कराते थे, दूसरे गृह में उससे बचे हुए अन्न से स्वय भोजन करते थे, ये नव गृह, पूर्व कहे हुए गृहो सहित द्वादस हुए ॥२४॥

आभास—पुरुषार्थचतुष्टयं साधयन्तमाह ।

आभासार्थ—पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि कर रहे भगवान् का 'क्वापि सन्ध्या' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—क्वापि सन्ध्यामुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम् ।
एकत्र चासिचर्मभ्यां चरन्तमसिवर्त्मसु ॥२५॥

श्लोकार्थ—कहीं सन्ध्योपासना कर रहे थे, कहीं वाणी का संयम कर ब्रह्म का जप करते थे. कहीं तो तलवार और ढाल लेकर यह किस प्रकार चलानी चाहिए ? इसका शास्त्रों में कही हुई नीति-अनुसार अभ्यास करते थे ॥२५॥

सुबोधिनी—तत्र धर्मं क्वापि सन्ध्यामुपासीनम् अन्यत्र जपन्तम्, तस्यैव विशेषणं वाग्यतमिति । मौनव्रतधरं भिन्नमितिर्विमर्शः । एकत्र असिचर्मभ्यां चरन्तं असिवर्त्मसु शास्त्रोक्तखड्गमार्गशिक्षायाम् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—वहां धर्म पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये कहीं सन्ध्योपासना करते थे, अन्यत्र जप करते थे.'वाग्यतं' पद 'जपन्तं' का विशेषण है,अतः मौन व्रत धारण के साथ ब्रह्म का जप कर रहे थे, एक किसी स्थान पर तलवार और ढाल का अभ्यास शास्त्रानुसार कर रहे थे ॥२५॥

श्लोक—अश्वै रथैर्गजैक्वापि विचरन्तं गदाग्रजम् ।
क्वचिच्छयानं पर्यङ्के स्तूयमानं च बन्दिभिः ॥२६॥

श्लोकार्थ—नारद ने कहीं घोड़े, हस्ती और रथ पर बैठे फिरते हुए भगवान् को देखा, कहीं तो आप पलङ्ग पर पोढ़े-२ बन्दीजनों की स्तुति सुन रहे हैं ॥२६॥

सुबोधिनी—तथैव अश्वै रथैर्गजैः सह विचरन्तम् । गदाग्रजं भक्तरक्षार्थं तथा यतमानमित्यर्थः पर्यङ्के क्वचिच्छयानम् । अन्यत्र बन्दिभिः स्तूयमानम् । दशधाऽयं धर्मो निरूपितः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—कहीं देखा तो भगवान् भक्तों की रक्षा के लिये घोड़े, रथ और हस्ती पर चढ़ फिर रहे हैं, कहीं पलङ्ग पर पोढे हुए बन्दी जनों की की हुई स्तुति सुन रहे है ॥२६॥

आभास—अर्थं निरूपयति मन्त्रयन्तमिति ।

आभासार्थ—'मन्त्रयन्त' श्लोक में 'अर्थ' का निरूपण करते है—

श्लोक—मन्त्रयन्तं च कस्मिंश्चिन्मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः ।
जलक्रीडारतं क्वापि वारमुख्याबलावृतम् ।।२७।।

श्लोकार्थ—किसी गृह में उद्धवादि मन्त्रियों से मन्त्रणा कर रहे हैं, कहीं वारविलासितियों से वेष्टित हो जलक्रीडा कर रहे हैं ।।२७।।

सुबोधिनी—कामं निरूपयति जलक्रीडारतमिति ।।२७।।

व्याख्यार्थ—इस २७ वें श्लोक के प्रथम अर्द्ध 'मन्त्रयन्तं में अर्थ विषयक मन्त्रणा का वर्णन है और उत्तरार्द्ध 'जल क्रीडारतं' में काम का निरूपण है ।।२७।।

आभास—मोक्षं निरूपयन् सर्वाण्यङ्गानि निरूपयति कुत्रचिद्द्विजमुख्येभ्य इति ।

आभासार्थ—मोक्ष का निरूपण करते हुए सर्व अङ्गों का 'कुत्रचित्' श्लोक से निरूपण करते है—

श्लोक—कुत्रचचिद्द्विजमुख्येभ्यो ददतं गाः स्वलंकृताः ।
इतिहासपुराणानि शृण्वन्तं मङ्गलानि च ।।२८।।

श्लोकार्थ—किसी स्थान पर देखा तो अलङ्कृत की हुई गौ ब्राह्मणों को दान कर रहे हैं और अन्यत्र इतिहास, पुराण और भगवद्गुणों को सुन रहे हैं ।।२८।।

सुबोधिनी—शृण्वन्तमिति इतिहासपुराणानीति विशेषः । मङ्गलानि भगवद्गुणान् ।।२८।।

व्याख्यार्थ—इतिहास पुराण सुनते थे यह विशेष है, मङ्गलानि भगवद्गुणों को भी सुन रहे थे ।।२८।।

आभास—ऋणमपाकुर्वन्निवाह हसन्तमिति ।

आभासार्थ—मानों ऋण को उतार कर 'हसन्तं' श्लोक में कहतेहैं—

श्लोक—हसन्तं हास्यकथया कदाचित्प्रियया गृहे ।
क्वापि धर्मं सेवमानमर्थकामौ च कुत्रचित् ।।२९।।

श्लोकार्थ—कभी गृह में हास्य कर प्यारी के साथ हँस रहे हैं, कहीं धर्म का कार्य कर रहे हैं और कहीं अर्थ तथा काम का सेवन कर रहे हैं ।।२९।।

सुबोधिनी—त्रैवर्गिकं तत्रैव शेषभूतमाह धर्मं सेवमानमिति ।।२९।।

व्याख्यार्थ—'धर्मं सेवमानं' इस श्लोक में यहां ही त्रैवर्गिक शेष रूप से वर्णन कर दिया है ।।२९।।

श्लोक—ध्यायन्तमेकमासीनं पुरुषं प्रकृतेः परम् ।
शुश्रूषन्तं गुरून्क्वापि कामैर्भोगैः सपर्यया ।३०।

श्लोकार्थ—कहीं प्रकृति से परे पुरुष का एकान्त में ध्यान कर रहे हैं, कहीं इच्छित काम और भोगादि योग्य पदार्थों से गुरुओं की सेवा कर रहे हैं, ऐसे श्री-कृष्ण को नारदजी ने देखा ।।३०।।

सुबोधिनी—ध्यायन्तमेकमिति निदिध्यासितम् । शुश्रूषन्तं गुरूनिति । गुरुसेवा त्रिविधा ।।

व्याख्यार्थ—अकेले प्रकृति से परे पुरुष का ध्यान करते हुए अर्थात् निदिध्यासन करते हुए और तीन प्रकार की गुरु सेवा करते हुए प्रभु के नारद जी ने दर्शन किये ।।३०।।

आभास—एवमलौकिकपुरुषार्थानुक्त्वा लौकिकं व्यवहारमाह कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चिदिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार अलौकिक पुरुषार्थों का वर्णन कर 'कुर्वन्तं विगृहं' श्लोक से लौकिक व्यवहार कहते है—

श्लोक—कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चित्सन्धिं चान्यत्र केवलम् ।
कुत्रापि सह रामेण चिन्तयन्तं सतां शिवम् ।।३१।।

श्लोकार्थ—कहीं किसी के साथ विग्रह कर रहे हैं तो कहीं सन्धि कर रहे हैं, कहीं बलरामजी के साथ मिल सज्जनों के कल्याण का विचार कर रहे हैं, ऐसे प्रभु को नारदजी ने देखा ।।३१।।

सुबोधिनी—राज्यान्तरशिष्टा नाङ्गीकृताः । सन्धावङ्गीकृताः । केवलमित्यनेन समयभेदेनापि सन्धिविग्रहौ निरूपितौ । ततो लोकन्यायेन बल-भद्रेण सह मन्त्रणं कथं सतां शिवं भवेदिति । अलौकिकेन वा कलावुत्पत्स्यमानानाम् ।।३१।।

व्याख्यार्थ—अन्य राज्यों के शिष्टों का यों ही अङ्गीकार नहीं किया, किन्तु सन्धि में अङ्गीकार किया, 'केवल' पद देकर यह सूचित किया है कि समय भेद से सन्धि और विग्रह का निरूपण

किया, अर्थात् सन्धि के समय सन्धि और विग्रह के समय विग्रह करते थे, इस कारण से लोक न्यायानुसार बलभद्र के साथ यह मन्त्रणा करते थे कि सत्पुरुषों का कल्याण कैसे हो ? कलियुग में उत्पन्न हुए पुरुषों का तो अलौकिक प्रकार से ही कल्याण हो सकेगा ।।३१।।

श्लोक—पुत्राणां दुहितॄणां च काले विध्युपपादनम् ।
दारैर्वरैस्तत्सदृशैः कल्पयन्त विभूतिभिः ।।३२।।

श्लोकार्थ—कहीं बड़ी धूम-धाम के साथ पुत्रों का योग्य वधूओं के साथ और कहीं कन्याओं का योग्य वरों के साथ विधिवत् विवाह कर रहे हैं ।।३२।।

सुबोधिनी—पुत्राणां विवाहो दुहितॄणां च । विधिपूर्वकमुपपादनं काले युक्तसमये । विश्च । पुत्राणां दारैः सह विभूतिभिः कल्पयन्तम् । क्वचिद्गृहे पुत्रं सभार्यं परमोत्सवयुक्तं करोतीत्यर्थः । तथा दुहितॄणामपि तत्सदृशैर्वरैः सहितानां विभूतिभिः कल्पयन्तम् । जामातृसहिता दुहितरः ऐश्वर्यादिसम्पन्नाः कृता इत्यर्थः । ।।३२।।

व्याख्यार्थ—पुत्रों का और कन्याओं का, उचित समय में अर्थात् शुभ मुहूर्त योग्यवय में शास्त्र विधि अनुसार कर रहे थे और विशेष में कहते हैं कि पुत्र तथा पुत्रवधुओं को बहुत आभूषण वस्त्रादि विभूतियों से विभूषित किया था, किसी गृह में स्त्री सहित पुत्र को परमोत्सव युक्त करते थे, वैसे ही कन्याओं को भी उनके समान वरों के साथ अलङ्कार वस्त्र आदि विभूतियों से सुसज्जित किया था, अर्थात् जवाँईयों सहित बेटियों को ऐश्वर्यादि युक्त किया था ।।३२।।

श्लोक—प्रस्थापनोपानयनैरपत्यानां महोत्सवान् ।
वीक्ष्य योगेश्वरेशस्य येषां लोका विसिस्मिरे ।।३३।।

श्लोकार्थ—कहीं अपनी (सन्तानों को) कन्याओं को वर के घर रवाने करते और कहीं पीछा बुलाने के कार्यों में तत्पर तथा योगेश्वरों के ईश्वर के किए हुए अपने बालकों के महोत्सवों को दिखाकर लोगों को विस्मय में डालते हुए भगवान् को नारदजी ने देखा ।।३३।।

सुबोधिनी—तासामेव प्रस्थापनं उपनयनं च भर्तृगृहात्स्वगृहे समानयनम् । पुत्रवधूनां वा अपत्यानां महोत्सवान् कल्पयन्तमिति सम्बन्धः । आवश्यकत्वादनभिनिवेशेन करणं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं महतीं समृद्धिमुपपादयति **वीक्ष्येति**। योगेश्वराणामपीश्वरत्वात्सामग्रीमनेकविधां अनायासेन शीघ्रं सम्पादयति । ततो येषां महोत्सवानां सम्बन्धिनो लोकाः तां दृष्ट्वा अभूतपूर्वत्वाद्विसिस्मिरे ।।३३।।

व्याख्यार्थ—कन्याओं को ससुराल भेजते फिर वहाँ से मंगाते, और पुत्रवधुओं का तथा पुत्रों

का महोत्सव करते हुए भगवान् को नारद ने देखा, ये कार्य आवश्यक करने, होने से, अभिनिवेश के सिवाय करना सम्भव होता है जिसकी व्यावृत्ति के लिये महती समृद्धि तैयार करते हैं, जिसका वर्णन 'वीक्ष्य योगे विसिस्मिरे' कहकर किया है, आप योगेश्वरों के भी स्वामी हैं अतः बिना परिश्रम के अनेक प्रकार की सामग्री आपने शीघ्र तैयार करली है, महोत्सव से सम्बन्ध रखने वाले लोक उन अभूतपूर्व सामग्रियों को देख कर चकित हो गये ।।३३।।

आभास—एवं लौकिकधर्मेषु केवललौकिकानुपपाद्य तदनुरूपधर्मानुपपादयति **यजन्तं स्वकलान् देवानिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार लौकिक कर्मों में केवल लौकिक का वर्णन कर उनके योग्य धर्मों को 'यजन्तं स्वकलान्' श्लोक मे वर्णन करते है—

श्लोक—यजन्तं स्वकलान्देवान्क्वापि क्रतुभिरूर्जितैः ।
पूर्तयन्तं क्वचिद्धर्मं कूपाराममठादिभिः ।।३४।।

श्लोकार्थ—कहीं बड़े-२ यज्ञों द्वारा अपनी कलायुक्त देवों का यजन करते हुए और कहीं कूप, आराम और मठ आदि बनाकर उनके वास्तु पूजन धर्म को करते हुए भगवान् को नारदजी ने देखा ।।३४।।

सुबोधिनी—स्वस्य कला येषु । भगवदावेशयुक्तान् । ऊर्जितै लौकिकसाधनैः पुष्टै । क्रतुभिर्यज्ञादिभिः शान्तिकपौष्टिकैर्वा । पूर्तमप्याह पूर्तयन्तमिति । कूपारामादिप्रतिष्ठार्थं देवतावाहनं कृत्वा अधिवासने उपविष्टमित्यर्थः । आरामा वाटिकाः, तत्र आलयाः गृहाः, देवस्थानानि वा । तामसादिभेदा उक्ता इति । अन्येषां तदादित्वम् । ।।३४।।

व्याख्यार्थ—जिन देवों में अपनी कला है, अर्थात् जो देव भगवदावेश युक्त हैं, उनका पूजन, लौकिक साधनों से पुष्ट, शान्तिक और पौष्टिक यज्ञों द्वारा कर रहे हैं, भगवान् को नारदजी ने देखा और कहीं देखा तो प्रभु कूप, आराम एवं मठ आदि की प्रतिष्ठा के लिये देवताओं का आवाहन कर अधिवासन में बैठे हैं, आराम (बाग) उसमें विश्राम के लिये गृह अथवा देव स्थान, तामस आदि भेद कहे हैं, 'आदि पद से अन्य भी समझ लेने ।।३४।।

श्लोक—चरन्तं मृगया क्वापि हयमारुह्य सैन्धवम् ।
घ्नन्तं ततः पशून्मेध्यान्परीतं यदुपुङ्गवैः । ३५।।

श्लोकार्थ—कहीं तो सैन्धव (अश्व) पर चढ़कर शिकार खेलते हुए, वहाँ यादव श्रेष्ठों से घिरे हुए, पवित्र पशुओं को मारते हुए श्रीकृष्ण को नारदजी ने देखा ।।३५।।

सुबोधिनी— ततोऽन्तःपुरस्थपर्वतोपवनादिषु सैन्धवं समुद्रोद्भवं हयमारुह्य मृगयां चरन्तम् । रात्रावपि गृहे प्रविष्टः गृहस्थैस्तथोक्तः मृगयास्थाने तथाविधं दृष्टवानित्यर्थः । तथैव क्वचिन्मेध्यान्पशून् श्राद्धाद्यर्थं घ्नन्तम् । तत्रान्येषामप्यर्थे तथा करोतीति ख्यापयितुं परीतं यदुपुङ्गवैरित्युक्तम् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् अन्तःपुरस्थ पर्वत और उपवन आदि में समुद्र से उत्पन्न अश्व पर बैठ कर शिकार खेलते हुए प्रभु को नारद ने देखा, रात्रि के समय गृह में प्रविष्ट हुए, गृहस्थो ने वैसा ही कहा, अर्थात् शिकार खेलने के स्थान पर वैसा देखने में आये, उसी तरह कहीं श्राद्ध आदि के लिये पवित्र पशुओं का वध करते हुए प्रभु को नारद ने देखा, यादव श्रेष्ठों से घिरे हुए थे जिसका आशय है कि पवित्र पशुओं का वध दूसरों के लिये भी कर रहे थे ॥३५॥

आभास—गुप्तचर्यां चरन्तं दृष्टवानित्याह अव्यक्तलिङ्गेति ।

आभासार्थ—छिपे हुए कार्य करते हुए को देखा जिसका वर्णन 'अव्यक्त लिङ्ग' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—अव्यक्तलिङ्गं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु ।
क्वचिच्चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सया ॥३६॥

श्लोकार्थ—अपनी प्रजा अथवा अन्तःपुर वाला कोई भी न जान सके, इसी प्रकार प्रजा तथा अन्तःपुरस्थों के भावों को जानने की इच्छा वाले प्रभु गुप्त प्रकार से फिर रहे थे, जिनको नारद ने देखा ॥३६॥

सुबोधिनी—अव्यक्तानि लिङ्गानि सत्त्वासत्त्वख्यापकानि । यासां प्रकृतीनां स्त्रीणामन्तःपुरे गृहादिकं येषां तेषामपि तस्य तस्य सतोऽसतो वा भावबुभुत्सया क्वचिच्चरन्तम् । गूढरीत्या यथा राज्ञां गुप्तचर्या भवति । तत्रैव नारदः स्वयमपि तादृशधर्मपर इति । नारदादीन् भगवान् पुनरन्वेषतीति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति समानशीलत्वात्तत्र भगवत्साक्षात्कारो जातः ॥

व्याख्यार्थ—जिनके चिन्ह (भावादि) प्रकट नहीं ऐसी स्त्रियों के, और अन्तःपुर में गृहों वाले पुरुषों के, सत् अथवा असत् भावों को जान लेने की इच्छा से राजाओं की तरह गुप्त रूप से फिरते हुए भगवान् को नारद ने देखा, उस समय नारद भी गुप्त रूप में था 'नरदादीन् भगवान् पुनरन्वेषतीति', 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इन वाक्यों के अनुसार समान शील होने से भगवान् ने नारद को देखा और नारद ने भगवान् का साक्षात्कार किया ॥३६॥

आभास—ततो निकटे मिलितः, पलायनेऽप्यशक्तः, लज्जितः सन् किञ्चिद्भगवन्तमुवाचेत्याह अथोवाचेति ।

ग्राभासार्थ—पश्चात् ऐसे निकट में मिले जो नारद भाग भी न सका, ग्रतः लज्जित होके भगवान् को कुछ 'ग्रथोवाच' श्लोक में कहने लगा—

श्लोक—ग्रथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव ।
योगमायोदयं वीक्ष्य मानुषीमीयुषो गतिम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—इन्द्रियों के ईश भगवान् ने मनुष्य भाव को स्वीकारते हुए जो योग माया का प्रभाव नारद को दिखाया, उसको देख मानो हँसता हुग्रा भगवान् को कहने लगा ॥३७॥

सुबोधिनी—हृषीकेशत्यनेन स्वापराधो निवारितः। भगवतैव तथा प्रेरित इति। ग्रादावन्योन्यदर्शनेन प्रहसनम्। ततो लज्जया विषादादिवेति। एतावद्दर्शनेन नारदस्य किं मौढ्यमासीत्, ग्राहोस्विद्भगवदचिन्त्यैश्वर्यपरिज्ञानेन तथात्वम्, ग्रथवा मायैवेति। मायापक्षे सर्वथा प्राकृतबुद्धिः। प्रथमपक्षे तु नारदस्य सर्वथा प्राकृतत्वम्। मध्यमे तूभयोरुत्तमत्वमिति। त्रयोऽपि बुद्धिविशेषा नारदबुद्धौ न स्फुरिताः, किन्तु योगपतिरेषेति स्वस्य भगवतश्च तुल्यतया परिज्ञानं मध्यमभावश्च स्फुरित इति ज्ञापयन्नाह योगमायोदयं वीक्ष्येति। योगमाय(ा)या दिव्या ग्रपि गतयो भवन्तीति कथमियमेव लीला दृष्टेत्याशङ्क्याह मानुषीमीयुषो गतिमिति। योगेश्वरो हि यादृशीं रतिं वाञ्छति, तदनुरूपा भवति। योगमाया योगस्याधिदैविकी देवता, साधनरूपा वा भगवच्छक्तिस्तथेति ॥३७॥

व्याख्यार्थ—नारद ने भगवान् को हृषीकेश कहा, जिसका भावार्थ है कि ग्राप इन्द्रियों के स्वामी हैं जैसे इन्द्रियों को प्रेरणा देते हो वैसे ही इन्द्रियां करती हैं, ग्रतः मेरी इन्द्रियों को भी ग्रापने ही इस प्रकार प्रेरित किया है जिससे यों करने में मेरा दोष नहीं है, परस्पर देखने से पहले हँसने लगे, पश्चात् लज्जा ग्राई, मानों ग्रपना विषाद् प्रकट करने लगा इस प्रकार दर्शन करने से क्या मूर्ख वा ग्रज्ञान हुग्रा ? या भगवान् के ग्रचिन्त्यैश्वर्य ज्ञान के होने से पुरुषोत्तम के स्वरूप का ज्ञान हुग्रा ? ग्रथवा नारद ने यों समझा कि यह माया ही है, यदि यह माया ही है ऐसा ज्ञान हुग्रा तो सवर्था बुद्धि प्राकृत बनी रहेगी, प्रथम[1] पक्ष में तो नारद का सर्व प्रकार से प्राकृतपन होगा, मध्यम पक्ष में[2] तीनों भी बुद्धि विशेष, नारद की बुद्धि में स्फुरित न हुवे, किन्तु यह योग गति है ग्रपना ग्रौर भगवान् का सादृश्य है ऐसा मध्यम भाव का ज्ञान स्फुरित हुवा यह जताते हुए कहते हैं कि 'योगमायोदयं' योग माया की गतियां दिव्य होती है तो कैसे यह ही लीला देखी। इस शङ्का के निवारण के लिये कहते हैं कि 'मानुषी मीयुषो गतिं' योगेश्वर जिस रति की इच्छा करते हैं उसके

१- मौढ्य पक्ष में नारद का प्राकृतत्व होगा तो भगवत्स्वरूप का ग्रज्ञान रहेगा।

२- मध्यम पक्ष में ब्रह्म ही ग्रनन्त मूर्ति है यह भाव उत्तम है, ग्रर्थात् योग बल से नाना रूप धारण करते हैं यह मध्यम भाव उत्तम है,यह मध्यम भाव प्रमाण मार्ग में उत्तम है।

अनुरूप सर्व क्रिया होती है, 'योगमाया' योग की आधिदैविकी देवता है अथवा साधन रूप भगवच्छक्ति नानारूप है ।।३७।।

आभास—तावन्मात्रं ज्ञातं विनिश्चित्य तत्रैव पर्यवसितमतिः अधिकार्थापरिज्ञानात् नायकोत्कर्षाभावे प्रमेयभक्तिमार्गो न साधीयानिति ततो निवृत्तिं वाञ्छन्निव प्रमाण-बलेनैव भक्तिमार्गमुपदेक्ष्यामीति निश्चित्य भगवन्तं प्रार्थयते **विदामेति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—मध्यम पक्ष मात्र से जो जान लिया उसका ही निश्चय कर उसमें ही बुद्धि स्थिर कर दी, क्योंकि अधिक अर्थ का ज्ञान नहीं था नायक के उत्कर्ष को भी न समझ सका जिससे ऐसी बुद्धि हुई कि प्रमेय भक्ति मार्ग अच्छा नहीं है इसलिये उससे निवृत्ति की मानों इच्छा करता हुआ, प्रमाण बल से ही भक्ति मार्ग का उपदेश करूंगा, यह निश्चय कर भगवान् को 'विदाम' और 'अनुजानीहि' दो श्लोकों से नारद प्रार्थना करता है—

श्लोक—विदाम योगमायास्ते दुर्दर्शा अपि योगिनाम् ।
योगेश्वरात्मन्निर्भाता भवत्पादनिषेवया ।।३८।।

अनुजानीहि मां देवलोकांस्ते यशसाप्लुतान् ।
पर्यटामि तवोद्गायंल्लीला भुवनपावनीः ।।३९।।

श्लोकार्थ—हम जानते हैं कि आपकी योगमाया को योगी भी नहीं जान सकते हैं, योगेश्वरात्मन् उस योगमाया को आपके चरणों की सेवा से मैंने अब जाना है । ३८।।

आप मुझे अब आज्ञा दो कि मैं जगत् को पवित्र करने वाली आपकी लीलाओं का गान उन लोगों में करता फिरूँ, जो लोग आपके यश से पूर्ण हो अर्थात् आपके भक्त हो । ३९।।

सुबोधिनी—ते योगमायाः यथेच्छं प्रवर्तमानस्य तत्तदिच्छापूरिकाः विदामः । इदं ज्ञानं स्वस्यैवासाधारणमिति ज्ञापयितुमाह **दुर्दर्शा अपि योगिनामिति** । कारणपरिज्ञानं योगिनामपि दुर्लभम् । कार्यस्य लौकिकपरिज्ञानात्कारणजिज्ञासैव नोत्पद्यत इति । तर्हि तव कथमुत्पन्नेत्याशङ्कायामाह **योगेश्वरात्मन् भवत्पादनिषेवया निर्भाता** इति । योगेश्वराणामस्मदादीनामान्तरेण स्फुरितो भवानेव पादभजने हेतुरिति सम्बोधनम् । चरणसेवा तु योगमायापरिज्ञाने हेतुः । अत एतावत्कालं कृता प्रमेयबलभक्तिः एतदर्थपरिज्ञान एवोपक्षीणा जातेति एतन्मतपरित्यागेन कीर्तनमार्गेणेव स्थास्यामीति प्रार्थयते **अनुजानीहीति** देवलोकानिन्द्रादिस्थानानि ते **यशसा आप्लुतान्** व्याप्तानि उद्गायन् **पर्यटामि** । **भुवनपावनीः लीलाः** पूर्वसिद्धा एव । एतासामदृष्टानां शास्त्रे प्रसिद्ध्यभावात् एता असम्मता इत्यर्थादुक्तं भवति ।।३८-३९।।

व्याख्यार्थ—हम जानते हैं कि आपको योगमायाएँ, जो मनुष्य जैसी जैसी इच्छा करते है, उनकी वे इच्छाएँ पूर्ण करती हैं। यह ज्ञान मुझे ही असाधारण है, यह जताने के लिये कहता हूँ कि आपको योग मायाओं के प्रभाव का ज्ञान योगियों को भी दुर्दर्श है अर्थात् जानने में नहीं आता है, इसका क्या कारण है जिसको योगी भी नहीं जान सकते हैं लौकिक परिज्ञान होने से कार्य के कारण की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) ही उत्पन्न नहीं होती है यदि यों है तो तुझे जानने की इच्छा कैसे जगी ? इसके उत्तर में कहता है कि 'योगेश्वरात्मन् भवत्पाद निषेवया निर्भाता' अस्मदादि योगेश्वरों की आप आत्मा हैं, ऐसी स्फुरणा होने से ही आपके चरणों के भजन करने में प्रवृत्ति हुई अर्थात् हम लोग आपके चरणों का भजन करते हैं इसमें आत्मा होने से आप ही हेतु हैं, इसलिए'योगेश्वरात्मन्' सम्बोधन दिया है, चरण सेवा तो योगमाया के परिज्ञान में हेतु है,अतः इतने समय तक की हुई प्रमेय बल भक्ति इसके अर्थ के परिज्ञान में समाप्त हो गई, इसलिये यह मत छोड़ कीर्त्तन मार्ग से ही रहूंगा, यों प्रार्थना करता है कि आज्ञा दीजिये कि आपके यश से पूर्ण इन्द्रादि देवों के स्थानों में भुवनों को पवित्र करने वाली आपकी पूर्व सिद्ध लीलाओं का गान करता हुआ भ्रमण करता रहूं इन अदृष्ट गुप्त लीलाओं की शास्त्रों में प्रसिद्धि होने से वे असम्मत हैं ।।३८-३९।।

आभास—तत्र भगवान् विचारार्थं प्रवृत्तोऽपि अपरिज्ञानात् खिन्नो जातः मार्गमेव परित्यक्तुं वाञ्छतीति निश्चित्य प्रबोधयति ब्रह्मन् धर्मस्येति ।

आभासार्थ—इस विषय का विचार कर भगवान् ने जान लिया कि नारद इसके तत्व को न जानने से खिन्न हुआ है, अतः इस मार्ग को छोड़ना ही चाहता है, इसलिये 'ब्रह्मन् धर्मस्य' श्लोक से नारद को समझाते है—

श्लोक—श्रीभगवानुवाच-ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता ।
तच्छिक्षयँल्लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिदः ।।४०।।

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे ब्रह्मन् ! धर्म का वक्ता, कर्त्ता और अनुमोदक भी मैं हूँ, अतः उसकी शिक्षा के लिए मैं आचरण करता हुआ रहता हूँ, हे पुत्र ! खेद मत कर ।।४०।।

सुबोधिनी—केवलकथने वेदादौ क्रियाप्रवेशाभावे लोको न मन्यत इति धर्मस्याहं कर्तापि यदि क्रियमाणस्यानुमोदनं न कुर्या वचनाचरणादिभिः, तदापि लोको न प्रवर्तेतेति तस्य धर्मस्यानुमोदिताप्यहम्। अतो लोके धर्मप्रवृत्त्यर्थं तच्छिक्षयन् लोके धर्मं ग्राहयन् इमं लोकमास्थितः। अयं भावः समाश्रित इत्यर्थः। इति स्वकृतस्य नानाविधधर्मस्याभिप्रायो वर्णितः। ननु त्वद्दर्शनार्थं माया प्रदर्शितेति पक्षं निवारयितुं सम्बोधनमाह पुत्रेति। लीलायाः तत्त्वापरिज्ञानान्मा खिद। तत्त्वं तूक्तमिति ।।४०।।

व्याख्यार्थ—यदि मैं धर्म का केवल वक्ता रहूं और वैसे आचरण न करूं तो लोग मेरे कथन

को माने ही नहीं, तथा लोग धर्म का आचरण ही न करें, इसलिये मैं आचरण कर उसका अनुमोदन भी हूँ, अतः लोक में धर्म की प्रवृत्ति हो, तदर्थ उसको सिखाते हुए, लोक में मनुष्यों को धर्म का ग्रहण कराते हुए स्थित हूँ, इसलिए यह मानुष भाव स्वीकार किया है, यों आपने जो नाना प्रकार के कर्म किये, उनका अभिप्राय वर्णन किया, 'पुत्र' यह सम्बोधन देकर नारद को निश्चय कराया कि यह जो मैंने लीलाएं तुझे दिखाई वह माया नहीं थीं किन्तु लोगों के शिक्षार्थ आचरण था, तू इस तत्व को नहीं जानता है इसलिये खेद करता है अतः खेद न कर मैंने अब तत्व तुझे बता दिया है ।।४०।।

आभास—ततस्तस्य दृष्टं दर्शनानन्तरमध्यवसायं च श्लोकद्वयेनाह इत्याचरन्तमिति।

आभासार्थ—पश्चात् देखा, देखने के अनन्तर उसने जो उद्यम किया उसका वर्णन दो श्लोकों से शुकदेवजी कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच-इत्याचरन्तं सद्धर्मान्पावनान्गृहमेधिनाम् ।
तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह ।।४१।।
कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम् ।
मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद्विस्मितो जातकौतुकः ।।४२।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि इस तरह गृहस्थ को पवित्र करने वाले, पवित्र सद्धर्मों का सब गृहों में आचरण करते हुए एक ही उसी श्रीकृष्ण को नारदजी ने देखा । ४१।।

अनन्त शक्ति भगवान् की योग माया का महान् उदय बार-बार देखकर नारदजी को अचम्भा लगा और कौतुक में पड़ गए ।।४२।।

सुबोधिनी—सतां त्रिविधानां सर्वविधान् धर्मान् गृहमेधिनां पावनान् पवित्रकरान्। एवं चेत्कश्चिदाचरति भगवानाचचारेति, तदा पवित्रो भवतीति । अतोऽनन्तमूर्ति तमेव सर्वगेहेषु सन्तं ददर्श । ततो यज्जातं तदाह कृष्णस्येति । अनन्तानि वीर्याणि यस्येति । लीलयैवं स्त्रीपु स्थितिः, न तु वस्तुतः । यतोऽयं सर्वशक्तिः । तत्रापि योगमायायाः महानुदयोऽयम् ।' न कदाप्येवं दृष्टः । अतो धर्मधर्मिणोरलौकिको भावो दृष्ट इति विस्मितः । पुनर्दर्शने जातकौतुकश्च जातः ।।४१-४२।।

व्याख्यार्थ—धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों वाले गृहस्थी सत्पुरुषों के जो भी पवित्र करने वाले सब धर्म है उनको इस प्रकार यदि कोई करता है, तो भगवान् ने कर दिखाये हैं, इनको जब गृहस्थी करता है तब पवित्र होता है, अत उस एक ही अनन्त मूर्ति को सब गृहों में देखा, पश्चात् जो हुआ वह कहते हैं, 'कृष्णस्य·········कौतुक' अनन्त वीर्य वाले कृष्ण की स्त्रियों मे जो इस प्रकार स्थित है, वह लीला से है,न कि वस्तु स्वरूप से है क्योंकि यह सर्व शक्तिमान् है। इसमे भी यह

लीला योगमाया का महान् उदय है, इस प्रकार कभी भी न देखा, अतः धर्म और धर्मी दोनों का अलौकिक भाव देखा, इसलिये चकित हुआ, फिर दर्शन किया तो पुनः कौतुक में पड़ गया ॥४१-४२॥

श्लोक—**इत्यर्थकामधर्मेषु कृष्णेन श्रद्धितात्मना ।
सम्यक् सभाजितः प्रीतस्तमेवानुस्मरन्ययौ ।४३॥**

श्लोकार्थ—इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम में जिसकी श्रद्धा है, वैसे श्रीकृष्ण ने नारदजी की सम्यक् प्रकार से पूजा की, जिससे नारदजी प्रसन्न हो, उनका ही स्मरण करते हुए रवाने हुए । ४३॥

सुबोधिनी—ततः सादरदर्शनानन्तरमर्थकामधर्मेषु श्रद्धितात्मना भगवता सम्यक् सभाजितो ब्राह्मणबुद्धचा ऋषिबुद्धचा च यथेष्टं भोजनादिना सन्तुष्टः तमेव भगवन्तमनुस्मरन् ययौ । न तु प्रमाणबलमाश्रित्य ॥४३॥

व्याख्यार्थ—आदर सहित दर्शन कर लेने के बाद अर्थ, काम और धर्म में श्रद्धा वाले भगवान् श्री कृष्ण ने ब्राह्मण बुद्धि से और ऋषि बुद्धि से नारदजी को यथेष्ठ भोजनादि से सन्तुष्ट करते हुए सत्कार किया, अनन्तर उन ही श्रीकृष्ण को स्मरण करते हुए नारदजी ने प्रस्थान किया प्रमेय, मार्ग का त्याग करने की इच्छा वाले नारदजी का भगवान् ने जो सत्कार किया, वह प्रमेय बल का आश्रय लेकर ही किया न कि प्रमाण बल का आश्रय लिया ॥४३॥

आभास—एवं नारददृष्टां भगवल्लीलामुपपाद्योपसंहरति एवं मनुष्यपदवीमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार नारद की देखी हुई लीला का प्रतिपादन कर अब 'एवं मनुष्य पदवी' श्लोक से उपसंहार करता है—

श्लोक—**एवं मनुष्यपदवीमनुवर्तमानो नारायणोऽखिलभवाय गृहीतशक्तिः ।
मेनेऽङ्ग षोडशसहस्रवराङ्गनानां सव्रीडसौहृदनिरीक्षणहासजुष्टः ॥४४॥**

श्लोकार्थ—जिन्होंने सबके उद्धार के लिए सकल शक्तियों को धारण कर मनुष्यों के मार्ग का स्वीकार किया है, वे प्रभु नारायण ये ही हैं, सोलह हजार उत्तम स्त्रियों ने लज्जा, सौहृद और हास्य से जिनकी सेवा की है, वे नारायण ही हैं, यों नारद ने मन मे निश्चय कर लिया । ४४॥

सुबोधिनी—तद्धर्माणामनाचरणे तत्तदनुसर्पण न भवतीति मनुष्यपदवीमनुवर्तमानः षोडशसहस्रवराङ्गनाना सव्रीडादिभिर्जुष्टो मेने । मनुष्यपदव्यामप्यागतः मूलरूप एवेति ज्ञापयितुमाह

नारायण इति । तस्यैवंकरणे किं प्रयोजनमित्याशङ्क्याह अखिलभवाय गृहीतशक्तिरिति । सर्वेषामुद्भवार्थं सात्त्विक्यः शक्तयः सर्वाः संगृहीताः । तत्र मनुष्येषु धर्माप्रवृत्तौ सर्वेषामुद्भवो न भवतीति तथा करणम् । अङ्गेत्यप्रतारणाय सम्बोधनम् । अष्टमहिषीणां न विवाद इति नरकासुरपरिगृहीतानामेव षोडशसहस्रवराङ्गनानामिति वरशब्देन तत्तद्दास्यो व्यावर्तिताः । अन्या वा गोप्यः संगृहीताः । व्रीडापूर्वको योयं सौहृदनिरीक्षणविशेषः तत्पूर्वको हासः तेन जुष्ट इति । त्रिविधो भावो निरूपितः तामससात्त्विकादिभेदेन ॥४४॥

व्याख्यार्थ—यदि प्रभु स्वय धर्म, अर्थ और काम का आचरण कर स्वयं न दिखाते तो लोक में उनका आचरण कोई नहीं करता, अत. भगवान् ने मनुष्य नाट्य कर स्वयं आचरण कर मनुष्यों को आचरण की शिक्षा दी है. मनुष्य रूप में सोलह हजार उत्तम स्त्रियों से लज्जा सौहृद से निरीक्षण तथा हास्य द्वारा सेवित हो रमण कर रहे हैं, इस प्रकार मनुष्य रूप में आकर लीला करते हुवे भी आप मूल रूप ही हैं. यह सिद्ध करने के लिये श्लोक में नारायण कहा हैं, जब आप नारायण ही हैं तो इस प्रकार मानव रूप क्यो धारण किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि. सकलों के उद्धार के लिये ही सब सात्विक शक्तिया धारण कर मनुष्य रूप में प्रकट हुवे हैं मनुष्य धर्माचरण में स्वत: स्वय प्रवृत्त न होंगे यदि धर्माचरण न करेंगे तो उद्धार न होगा, इसलिये आपने शिक्षार्थ स्वयं करके दिखाया है, हे अङ्ग ! यह सम्बोधन देकर बताया है. कि इसमे किसी प्रकार प्रतारणा (ठगी) नही है यहां आठ पटरानियों का विवाद नहीं है, इसलिये नरकासुर के यहाँ से लाई हुई सोलह हजार श्रेष्ठ स्त्रियो को कहा है, 'वर' शब्द से वहा से लाई दासियों को पृथक् कर दिया है, अथवा अन्य गोपियों का सग्रह किया है, क्रीड़ा सहित जो यह सौहृद निरीक्षण पूर्वक हास उससे सेवित, अर्थात् उन षोडश सहस्र वराङ्गनाओं ने भगवान् की सेवा लज्जायुक्त प्रेम सहित निरीक्षण कर हास करते हुए की है, जिसमे तामस सात्विक राजस भेद से त्रिविध भाव निरूपण किया है ॥४४॥

आभास—एवं रमणमुपसंहृत्य लौकिकीयं लीला धर्मार्थिभिर्न श्रोतव्येति शङ्कां वारयितुं फलश्रुतिमाह यानीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार रमण का उपसंहार कर, अब यह लौकिकी लीला धर्मार्थियों को न सुननी चाहिये इस शङ्का का समाधान करने के लिये इसको सुनने का फल क्या होगा ? वह बताते है—

श्लोक—यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः
कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार ।
यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते
वा भक्तिं लभेत भगवत्यपवर्गमार्गे ॥४५॥

श्लोकार्थ—विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण रूप हरि ने जो असाधारण कर्म किए हैं, वे दूसरा कोई नहीं कर सकता है अथवा समझो कि ये कर्म

अपने लिए ही किए हैं, हे अङ्ग ! उन्हें जो मनुष्य गाते हैं, सुनते हैं और अनुमोदन करते हैं, वे मोक्ष मार्ग रूप भगवान् में भक्ति प्राप्त करते हैं ।।४४।।

सुबोधिनी—सर्वविधकर्मकरणे भगवतो हेतुमाह । विश्वस्य विलयः । उद्भव उत्पत्तिः, वृत्तिः स्थितिः, तेषां हेतुः । अत एवानन्यविषयाणि कर्माणि चकार । नह्यन्यो जगदुत्पत्त्यादिहेतुर्भवति, लीलायां च नान्य प्रवेशयति, किन्तु स्वयमेव तत्र तत्राविष्ट तथा करोति । अतो नान्यो विषयः । विशेषलीलायाः प्रयोजनं हरिरिति । अतो य एनां लीलां गायति, स्वत एवानन्देन कीर्तयति वा, अन्यैर्गीयमानां शृणोति, असन्निहितो वा, कालान्तरे कथावसाने वा, अनुमोदते, श्रोतृवक्तृकथाः, सः भक्ति लभेत, भगवति पूर्णपुरुषे । भक्तेरन्यत्र विनियोगाभावायाह **अपवर्गमार्ग** इति । मोक्षे नान्यो मार्गोऽस्तीत्यर्थः ।।४५।।

व्याख्यार्थ—भगवान् जो कुछ कार्य करते है उसमें कोई कारण होता है, अतः सर्व प्रकार के इतने कर्म करने में हेतु कहते है, प्रथम विश्व के संहार, उत्पत्ति और पालन इनका हेतु कहते है भगवान् ने वे कर्म किये जो अन्य नही कर सकते है अत. आप ही इनके कारण हैं दूसरा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार नहीं कर सकता है, जिससे दूसरा इनका कारण बन ही नहीं सकता है । लीला मे दूसरे का प्रवेश नहीं कराते हैं, किन्तु स्वयं ही वहाँ वहाँ प्रविष्ट हो वैसी वैसी लीला करते है. अतः अन्य विषय नही है अर्थात् केवल भगवान् की लीला ही है. लीला कार्य है भगवान् कारण है । कार्य कारण से पृथक् वस्तु नहीं है. इसलिये यह सर्व लीला मात्र जगत् भी भगवद्रूप ही है, जिसका कारण भी भगवान् ही है, अतः कहते हैं कि 'विशेष लीला का प्रयोजन हरि है, अतः जो इस लीला का गान करता है स्वतः ही आनन्द से कीर्तन करता है और दूसरो से गाई हुई श्रवण करता है निकट वा दूर बैठ कर अथवा कालान्तर या कथा के अन्त में सुनता है वा श्रोता एवं वक्ता की कथा का अनुमोदन करता है वह पूर्ण पुरुष भगवान् में भक्ति को प्राप्त करता है, उस भक्ति का विनियोग भी मोक्ष मार्ग में होता है अर्थात् उस भक्ति से मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है, इस भक्ति के बिना मोक्ष की प्राप्ति का दूसरा मार्ग नही है ।।४५।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे विंशोध्यायः ।।२०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ६६वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का छठा अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

"नारद संशय"

राग धनाश्री :—

हरि की लीला देखि नारद चकित भए।
मन यह करत विचार गोमती तट गए॥
अलख निरंजन निराकार अच्युत अविनासी।
सेवत जाहि महेस सेस, सुर माया दासी॥
धर्म स्थापन हेत पुनि, धारयौ नर औतार।
ताकौं पुत्र कलत्र सौं, नहिं संभवत पियार॥
हरि के षोडस सहस, आठ पतिवर्ता नारी।
सबकौ हरि सौं हेत, सबैं हरि जू की प्यारी॥
जाकें गृह द्वै नारि हैं ताहि कलह नित होइ।
हरि बिहार किहिं विधि करत नैननि देखौं जोइ॥
द्वारावति रिषि पैठि, भवन हरिजू के आए।
आगे ह्वै हरि नारि सहित, चरननि सिर नाए॥
सिंहासन बैठारि के, धोए चरन बनाइ।
चरनोदक सिर धरि कह्यौ, कृपा करि रिषिराइ॥
तब नारद हँसि कह्यौ, सुनौ त्रिभुवनपति राई।
तुम देवनि के देव, देत हौ मोहिं बड़ाई॥
विधि महेस सेवत तुम्हैं, मैं बपुरा किहिं माहिं।
कहैं तुम्हैं प्रभु देवता, या मैं अचरज नाहिं॥
और गेह रिषि गए, तहाँ देखे जदुराई।
चँवर ढुरावति नारि, करति दासी सेवकाई॥
रिषि कौ आवत देखि हरि कियौ बहुत सनमान।
ह्यां हूँ तैं नारद चले, करि ऐसौ अनुमान॥
जा गृह मैं हौं जात जात, स्याम आगें ही आवत।
तातें छाँड़ि सुभाव जाउ अबकें मैं धावत॥
जहँ नारद स्रम करि गए, तहँ देखे घनस्याम।
बालनि सौं क्रीडा करत, कर जोरे खरी बाम॥
जहाँ जहाँ रिषि जाइँ तहाँ तहँ हरि कौं देखैं।
कहुँ कछु लीला करत, कहुँ कछु लीला पेखैं॥
यौं ही सब गृह मैं गए, लह्यौ न मन विस्राम।
तब ताकौं व्याकुल निरखि हँसि बोले घनस्याम॥

नारद मन कौ भरम तोहिं एतौ भरमायौ।
मैं व्यापक सब जगत, बेद चारौ मोहिं गायौ॥

मैं करता मैं भोगता, मो बिनु और न कोइ।
जो मोकौं ऐसौ लखै, ताहि भरम नहिं होइ॥

बूझौ सब गृह जाइ, सबै जानत मोहिं यौं ही।
हरि कौं हमसौं प्रीति, अनत कहुँ जात न क्यौं ही॥

मैं उदास सब सौं रहौं, यह मम सहज सुभाइ।
ऐसौ जानै मोहिं जो, मम माया तरि जाइ॥

तब नारद कर जोरि कह्यौ, तुम अज अनंत हरि।
तुम से तुम ही ईस नहीं द्वितीया कोउ तुम सरि॥

तुव माया तुव कृपा बिनु, सकै नहीं तरि कोइ।
अब मोकौं कीजै कृपा, ज्यौं न बहुरि भ्रम होइ॥

रिषि चरित्र मम देखि, कछु अचरज मति मानौ।
मो तैं द्वितीया और कोउ मन माहूँ न आनौ॥

मैं करता मैं भोगता, नहिं या मैं कछु संदेहु।
मेरे गुन गावत फिरौ, लोगनि कौ सुख देहु॥

नारद करि परनाम, चले हरि के गुन गावत।
बार बार हरि रूप ध्यान, हिरदै मैं ध्यावत॥

यह लीला अचरज की, सूरदास कही गाइ।
ताकौं जो गावै सुनै, सो भव जल तरि जाइ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७०वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६७वां अध्याय

उत्तरार्ध २१वां अध्याय

सात्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

"सप्तम अध्याय"

भगवान् श्रीकृष्ण की नित्यचर्या और उनके पास जरासन्ध के कैदी राजाओं के दूत का आना

कारिका—सात्त्विकानां निरोधे तु प्रमेयबलतः पुरा।
षड्भिः सर्वे निरुद्धास्ते साधनेनोच्यतेऽधुना ॥१॥

कारिकार्थ—पहले ६ अध्यायों से सात्विकों का निरोध प्रमेय बल से भगवान् ने किया, अब इस अध्याय में साधन से करेंगे, जिसको कहा जाता है ॥१॥

कारिका—षड्भिरेव तथाध्यायैर्धर्मोऽत्र भगवत्कृतः।
कारितश्च द्विरूपो हि वर्ण्यतेऽन्यनिषेधने ॥२॥

कारिकार्थ—निरोध प्रकरण में छः अध्यायों से कराया हुआ भगवत्कृत धर्म दोनों से अन्य का निषेध करते हुए वर्णन किया है ॥२॥

कारिका—तत्रैकविंशेत्वध्याये धर्मो हि भगवत्कृतः ।
निरूप्यते यतो लोका जाता हरिपराः स्वतः ॥३॥

कारिकार्थ—यहाँ पुनः इक्कीसवें अध्याय में भगवत्कृत धर्म का निरूपण किया जाता है, जिससे लोक स्वतः हरि के परायण हुए ॥३॥

कारिका—सर्वान् धर्मान् विशेषेण तत्तद्भेदेन चैव हि ।
पूर्वाध्याये निरूप्यैव ह्याह्निकं ह्यत्र रूप्यते ॥४॥

कारिकार्थ—पहले ६ अध्यायों में सर्व धर्मों को और उन धर्मों के विशेष भेदों का वर्णन कर, इस अध्याय में आह्निक का निरूपण किया गया है ॥४॥

कारिका—तेनैव शुद्धचित्तास्ते राजानः सात्त्विकास्तथा ।
प्रपन्नाः सर्वथा कृष्णे प्रयोजनमिदं मतम् ॥५॥

कारिकार्थ—उस आह्निक करने से सात्विक राजा शुद्ध चित्त वाले हुए और कृष्ण की शरण गए, यही प्रयोजन है ॥५॥

कारिका—अन्यथा ह्याह्निको धर्मो निष्प्रयोजनतां व्रजेत् ।
सभायां गमनं चैव रक्षां सूचयति क्षतात् ॥६॥

कारिकार्थ—यदि वे राजा लोग शुद्ध चित्त होकर श्रीकृष्ण की शरण न लेते तो कृष्ण का आह्निक धर्म करना ही व्यर्थ हो जाता, श्रीकृष्ण का सभा में पधारना सूचित करता है कि वे उनको मरने से बचाने के लिए ही पधारे हैं; क्योंकि क्षत्रिय हैं, यों करने से क्षात्र धर्म पालन कर दिखाया है ॥६॥

— इति कारिका सम्पूर्ण —

आभास—एवं पूर्वाध्यायैः भगवता प्रमेयबलमाश्रित्य सर्वे आत्मसात् कृताः, इदानीं धर्मादिसाधनैर्भगवानात्मसात्करोति, तत्र प्रथमं भगवत आह्निको नित्यो धर्मो निरूप्यते, ततो धर्मपरस्य यत्कृत्यम्, तत्कालनिमित्तकमेवेति अरुणोदयावधि पूर्वाह्णकृत्यं सर्वं निरूपयति अथेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने छः अध्यायों में प्रमेय बल का आश्रय कर अर्थात् प्रमेय बल द्वारा सबको अपनाया, अब धर्मादि साधनों से अपनाते है अर्थात् निरुद्ध कर अपनी शरण में लेते है, वहाँ पहले भगवान् के आह्निक धर्म का निरूपण किया जाता है, पश्चात् धर्म परायण के जो कृत्य हैं, वे काल निमित्तक हैं, अरुणोदय तक सर्व पूर्वाह्ण कृत्य 'अथोषसि' श्लोक से निरूपण करते है—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान् कूजतोऽशपन् ।
गृहीतकण्ठ्यः पतिभिर्माधव्यो विरहातुराः ।।१।।

श्लोकार्थ—गले में बाँह डाल पतियों से आलिङ्गन की हुई श्रीकृष्णचन्द्र की पत्नियाँ उषा काल होते ही मुर्गों के शब्द सुन समझने लगी कि अब प्यारे उठ जायेंगे, अतः विरह होगा, जिससे आतुर हो उन मुर्गों को शाप देने लगी ।।१।।

सुबोधिनी—अवान्तरप्रकरणभेदप्रतिपादकोऽयमथशब्दः । उषस्यरुणोदये । उपवृत्तायामारब्धप्राये । चतस्रो घटिका. प्रातररुणोदय उच्यत इति धर्मार्थकामानां आवृत्तिर्भगवता क्रियत इति ज्ञापयितुं कामपराणां स्त्रीणां धर्मासहिष्णुत्वमाह कुक्कुटान् कूजतोऽशपन्निति । तत्र हेतुः । पतिभिः कृष्णैर्गृहीतकण्ठ्यः । ननु गार्हस्थ्ये भोजनवत् भोगस्यापि नियतत्वात् प्रातःकालसूचककुक्कुटशापः कथमिति चेत् । तत्राह विरहातुरा इति । तत्र हेतुः माधव्य इति । माधवस्य स्त्रियः । मायाधव इति स्वविश्लेषमात्रेणैव लक्ष्म्याः सम्बन्धसम्भवात्. अतो विरहः सम्भावित इति, प्राप्तफलानां साधने द्वेषो युक्त इति. भगवत्कृतधर्मस्य च सात्त्विकनिरोधपरत्वात्सम्बद्धानामिच्छामात्रेणैव निरोधः सिद्ध इति कुक्कुटशापो युक्तः ।।१।।

व्याख्यार्थ—यहाँ श्लोक में 'अथ' शब्द अवान्तर प्रकरण में भेद का प्रतिपादन करने वाला है, प्रातःकाल की चार घड़ी अरुणोदय है, जिसका अब प्रारम्भ हुआ है, अतः भगवान् धर्म, अर्थ और काम धर्म की आवृत्ति करते हैं अर्थात् आह्निक कर्म करना प्रारम्भ करते हैं, जिससे भगवान् उठ रहे हैं, यह प्रभु का धर्म कार्य काम परायण स्त्रियाँ सहन न कर सकी, अतः शब्द करने वाले कुक्कुटों (मुर्गों) को शाप देने लगी, इसका कारण यह था कि उस समय वे गले में बाँह डाल पतियों से आलिङ्गन की हुई थी, वे समझ गई कि कुक्कुटों ने शब्द कर प्रातःकाल की सूचना दी है । अब प्यारे उठेंगे तो हमको विरह से व्याकुल होना पड़ेगा, जिससे शाप दिया । भोजन की तरह गृहस्थ धर्म में भोग का भी समय नियत होने से कुक्कुटों ने शब्द कर प्रातःकाल की सूचना दी, जिसमें कुक्कुटों ने कौनसा दोष किया, जो उनको शाप दिया । उनका दोष यह हुआ कि इनके शब्दों से माधव की स्त्रियों को विरह दुःख सहना पड़ा । इन पत्नियों ने समझा कि श्रीकृष्ण लक्ष्मीजी के पति हैं, अब हमसे पृथक् होते ही लक्ष्मी से सम्बन्ध होगा । हमको विरहाग्नि में जलना पड़ेगा । जिसका कारण कुक्कुटों की ध्वनि है, यही दोष कुक्कुटों का है, अतः उनको शाप दिया । अपने को जो फल मिल रहा है, वह यदि दूसरे को मिले और उसके मिलने में जो साधन होगा, उससे द्वेष होना उचित है यों और भगवत्कृत धर्म सात्विकों के निरोध के परायण होने से जो उससे सम्बन्धित

होते हैं, उनका निरोध इच्छा मात्र से ही सिद्ध हो जाता, इसलिए कुक्कुटों को शाप देना योग्य है ॥१॥

आभास—ननु कुक्कुटादयो वा किमिति भगवदनभिप्रेतं कुर्वन्तीत्याशङ्कायामाह वयांस्यरूरुवन्निति ।

आभासार्थ—कुक्कुटादि भगवान् अनभिप्रेत क्यों करने लगे? इस शङ्का के होने पर कहते हैं—

श्लोक—वयांस्यरूरुवन् कृष्णं बोधयन्तीव बन्दिनः ।
गायत्स्वलिष्वनिद्राणि मन्दारवनवायुभिः ॥२॥

श्लोकार्थ—मन्दार वन के वायु से आनन्दित भ्रमरों के गान करने पर, जगे हुए पक्षी भी वन्दियों की तरह श्रीकृष्ण को जगाने के लिए शब्द करने लगे ॥२॥

सुबोधिनी—वदसामपि पक्षिणां भगवल्लावण्यामृतप्राप्तिरभीष्टेति स्वार्थमेते बोधयन्ति । तथा सत्यपराधो भवेदिति शङ्कां वारयितुं दृष्टान्तमाह बन्दिन इवेति । तेन प्रबोधने अधिकृता अपि पक्षिण इति सूचितम् । ननु बहिरङ्गा एते भगवदभिप्रायमज्ञात्वा कथं नित्यं बोधयन्तीत्याशङ्कायामाह गायत्स्वलिष्विति । ये ह्यन्तरङ्गाः अलयः भगवदभिप्रेतं ज्ञात्वैव गायन्ति । न च स्वभावादेव वयांस्यरूरुवन्नित्याशङ्कनीयम् । यतः अनिद्राणि । तत्रापि निद्राभावः सहेतुक इत्याह मन्दारवनवायुभिरिति । आमोदेनाकृष्टचित्तानि देवताधिष्ठानाच्च साक्षाद्भोगेऽप्यशक्तानि । अत आकाङ्क्षाया विद्यमानत्वात् अनिद्राण्येव ॥२॥

व्याख्यार्थ—ये पक्षी भी अपने स्वार्थ के लिए भगवान् को जगाते है, इनकी भी इच्छा थी कि कृष्ण जगे तो हम उनके लावण्यामृत का पान करे, यों स्वार्थ के लिए तो करते हैं तो भी अपराध तो होगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'बन्दिन इव' जैसे वन्दीगणों को राजा के जगाने का अधिकार मिला हुआ होता है वैसे इन पक्षियों को भी जगाने का अधिकार था, यह इस दृष्टान्त से सूचित किया है। ये पक्षी तो बहिरङ्ग हैं जब इनको भीतर का अधिकार नहीं है तब भगवदभिप्राय न जानकर कैसे नित्य शब्द कर जगाते हैं? जिसके उत्तर में कहते हैं कि जो अन्तरङ्ग भ्रमर है वे भगवान् के अभिप्राय को जानकर ही जब गाते हैं, जब ये जगते हुए पक्षी भी उनकी गुञ्जारें सुन कर शब्द करने लगते हैं न कि स्वतः स्वभाव से पक्षी शब्द करते है। जगने के कारण भ्रमरों की गुञ्जार समझते है, कि रात्रि सम्पूर्ण हो गई प्रातः काल हुआ है अतः शब्द करना चाहिये, मन्दार वन की वायु के आमोद से आकृष्ट चित्त होने से ही पक्षियों को नीद न थी, देवता के अधिष्ठान होने से साक्षात् भोग में भी अशक्त थे, अतः आकांक्षा के विद्यमान होने से जगे हुए ही थे ॥२॥

आभास—एतत्सर्वस्त्रीणां न भविष्यतीत्याशङ्क्य मुख्याया रुक्मिण्या अप्येतदित्याह मूहूर्तमिति ।

आभासार्थ—यह समस्त स्त्रियों को न हुआ होगा ? इस शङ्का को दूर करने के लिये, 'मुहूर्त' श्लोक में कहते हैं रुक्मिणी को भी हुआ—

श्लोक—मुहूर्तं तं तु वैदर्भी नामृष्यदतिशोभनम् ।
परिरम्भणविश्लेषात्प्रियबाह्वन्तरं गता ॥३॥

श्लोकार्थ—प्यारे के भुजान्तर्गत रुक्मिणी ने, प्यारे से अब विरह होगा, यों जानकर इस उत्तम ब्राह्म मुहूर्त को उत्तम न माना ॥३॥

सुबोधिनी—तं प्रसिद्धं ब्रह्मसम्बन्धिनम् । तुशब्देनान्यथापक्षं व्यावर्तयति । ननु लक्ष्म्या अवतारः कथमेवमवददित्याह वैदर्भीति । दर्भाभावेन कर्मराहित्यमुक्तम् । अतिशोभनमपि सर्वोद्बोधकत्वात्सर्वपुरुषार्थसाधकत्वाच्च । तथापि नामृष्यत् । तत्र हेतुः फलानुभव इत्याह प्रियबाह्वन्तरं गतेति । तादृश्या परिरम्भणविश्लेषः अनङ्गीकारे हेतुः ॥३॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाले उस सुन्दर समय को 'तु' शब्द से अन्यथा पक्ष का निवारण करते हैं, रुक्मिणी लक्ष्मी का अवतार है वह यों कैसे कहती है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि लक्ष्मी का अवतार होते हुए भी 'वैदर्भी' है अर्थात् विदर्भ देश मे उत्पन्न हुई है, उस देश में कर्म की मुख्य वस्तु दर्भों का अभाव होना है जिससे रुक्मिणी में कर्म निष्ठा का अभाव होने से जो सर्व को जगाने वाला तथा सर्व पुरुषार्थ साधक है ऐसे अति पवित्र सुन्दर समय को भी रुक्मिणी ने सुन्दर न समझा कारण कि प्यारे की भुजाओं के अन्तर्गत हो फल का अनुभव कर रही थी, अब यह समय इस फलानुभव से वञ्चित करेगा, अतः यह उत्तम नहीं है ॥३॥

आभास—एवं सर्वासामनभिप्रेतत्वे तद्वश्यश्चेद्भगवानपि नोत्तिष्ठेदिति तन्निराकरणार्थं भगवत उत्थानपूर्विकाः सर्वाः क्रिया निरूपयति ब्राह्मे मुहूर्तेइति ।

आभासार्थ—इस प्रकार यह ब्राह्म मुहूर्त श्रीकृष्ण की सर्व स्त्रियों को अच्छा न लगा, अतः यदि भगवान् स्त्रियों के आधीन होते तो वे भी न उठते, इसका निराकरण करने के लिये भगवान् ने उठकर जो क्रियाएँ की उन सब का 'ब्राह्मे मुहूर्त' श्लोक में निरूपण करते हैं—

श्लोक—ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः ।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम् । ४॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णचन्द्र ने ब्राह्म मुहूर्त में उठकर पहले आचमन किया, फिर प्रसन्न चित्त होकर तम से परे जो आत्मा उसका ध्यान किया ॥४॥

सुबोधिनी—उत्थानं निद्रापगमलीला शय्यातो वा । ततो वार्युपस्पर्शनम् । हस्तादिप्रक्षालनमात्रमिति केचित् । स्नानमित्यपरे । आचमनमात्रमिति सिद्धान्तः । ध्यानस्यापि शुद्ध्यर्थमेव क्रियमाणत्वात् । अन्तःशुद्धिलीलां कृत्वैव बहिःशुद्धिलीला कर्तव्येति, यथाद्यस्नानेन शौचम्, स्नानान्तरेण च धर्मः, तथा ध्यानेऽपि ज्ञातव्यम् । ननु पूर्णो भगवान् ब्रह्मीभूयमानस्वरूपः परमानन्द एव, अन्तःकरणाद्यभावात् कथं प्रणिधानं कृतवानित्याशङ्क्याह माधव इति । लक्ष्मी शक्तिं स्वीकरोतीति । मधुवंशे चावतीर्ण इति । यथैषा लीला, तथा ध्यानमपीत्यर्थः । प्रसन्नानि करणानि इन्द्रियाणि यस्येति शुद्धसत्त्वस्य सर्वत्राविर्भावः सूचितः । तत आत्मानमेव दध्यौ । 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्त' इति आत्मातिरिक्तदेवताया ध्याननिषेधात् । नन्वात्मनः प्रत्यक्षस्य स्फीतालोकवनिघटवत् प्रकाशमानस्य किं ध्यानेनेत्याशङ्क्याह तमसः परमिति । कालस्याप्यग्रे तमस्तिश्रुति, तस्याग्रे भगवान् । स एव तमोगुण इति केचित् । सत्त्वगुणो बहिरावरणमिव ॥४॥

व्याख्यार्थ—शय्या से उठे, अर्थात् निद्रा को तिरोहित करने की लीला की, पश्चात् जल का स्पर्श किया, इन शब्दों का आशय कोई कहते है कि भगवान् ने हस्तादि धोये । दूसरे कहते है कि स्नान किया,वास्तव मे सिद्धान्त यह है कि केवल आचमनकिया,ध्यान भी शुद्धि के लिये करना है प्रथम अन्तः शुद्धि लीला कर पश्चात् बाहर की शुद्धि-की लीला करनी चाहिये. जैसे स्नान के पहले शौच. स्नान करने के अनन्तर कर्म, वैसे ध्यान मे भी समझना चाहिये ।

भगवान् तो परमानन्द स्वरूप ही है अतः उनमे अन्तःकरणादि का अभाव है, फिर ध्यान कैसे किया होगा ? जिसके उत्तर में कहते है कि 'माधव.' लक्ष्मी शक्ति का इस समय स्वीकार किया है, और मधुवंश मे अवतार लिया है. जैसे यह सब लीला है वैसे ध्यान भी लीला ही है, प्रसन्न इन्द्रिय वाले थे, यों कहकर सूचित किया है कि, सर्वत्र शुद्ध सतोगुण का आविर्भाव हुआ हैं, इस कारण से आत्मा का ही ध्यान किया क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त देवता के ध्यान का 'योऽन्या देवतामुपासत' यह श्रुति निषेध करती है ।

प्रकाशित सूर्य आदि के आगे रखे हुए घट की तरह प्रत्यक्ष प्रकाशमान आत्मा को ध्यान से क्या ? इसका उत्तर देते है कि 'तमस. परम्' तम, काल से भी आगे है उससे भी आगे भगवान् हैं । 'स एव तमोगुण' यों कितने ही कहते हैं, सत्त्वगुण बाहर आवरण की तरह है ॥४॥

आभास—सर्वस्यैवात्मत्वात् सर्वोपासकानामात्मोपासकत्वमाशङ्क्य केवलमात्मोपासकत्वसिद्ध्यर्थं आत्मानं विशिनष्टि **एकमिति** ।

आभासार्थ—सर्व आत्मा है तब तो किसी के भी उपासक आत्मा के उपासक होंगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिये केवल आत्मोपासकत्व की सिद्धि के लिये 'एकं स्वयं' श्लोक में आत्मा के गुणों का वर्णन कर स्वरूप ज्ञान कराते हैं—

श्लोक—एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं स्वसंस्थया नित्यनिवृत्तकल्मषम् ।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम् ॥५॥

श्लोकार्थ—आत्मा कैसा है ? वह बताते हैं कि एक स्वयं प्रकाश, आपके समान दूसरा नहीं है, नित्य एक रस है, अपने स्वरूप में स्थिति से समस्त पापादि को निवृत्त करने वाला है, ब्रह्म जिसका नाम है, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण अपनी शक्तियों से जो-जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी जिसमें निवृत्ति है। ५।।

सुबोधिनी—तदात्मस्वरूपं षड्गुणैश्वर्ययुक्तं ब्रह्मैवेति वक्तुं सप्त विशेषणान्युच्यन्ते। एकमित्यसहायेन ऐश्वर्यमित्युक्तम्। स्वयंज्योतिरित्यलौकिकवीर्यम्। अनन्यमिति कीर्तिः। अव्ययमिति लक्ष्मीः। स्वसंस्थया स्वरूपस्थित्यैव नित्यनिवृत्तानि कल्मषाणि यस्येति ज्ञानम्। ब्रह्मेत्याख्या यस्येति प्रापञ्चिकसर्ववैलक्षण्येन वैराग्यम्। धर्मिणमाह 'जन्माद्यस्य यत' इति न्यायेन। अस्य जगतः उद्भवनाशहेतुभिः। उद्भव सत्वम्, अभिवृद्धे स्तद्धेतुकत्वात्. नाशस्तमः, हेतू रजः। एताश्च स्वशक्तय एव। तैर्लक्षिता भावाः सात्विकादयोऽन्तःकरणस्य तेषां निर्वृतिः अपगतिः, यत्र भावैः सहित निर्वृतिश्चेति वा। अनेन प्रपञ्चकर्ता प्रपञ्चरहितश्चेति विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन निरूपितम्। अनेन वा वैराग्यम्। ब्रह्माख्यमिति धर्मी। आत्मत्वेन सर्वत्र भेदनिराकरणार्थं पञ्चभेदनिराकरणार्थं वा एकपदम्। प्रमाणाभावाय स्वयंज्योतिष्ट्वम्। अनन्यत्वं भिन्नधर्मनिराकरणाय। अव्ययत्वं ब्रह्मधर्माणां नित्यत्वाय। साङ्ख्यादिमते अब्रह्मधर्मा एव ब्रह्मणि समागत्य गच्छन्तीति तन्निराकरणार्थमेतदवश्य वक्तव्यम्। स्वरूपस्थितिश्च संसारात्मवदविद्यानिराकरणाय। नित्यपदेन ज्ञानानन्तरनिवृत्तिनिराकृता। ब्रह्मपदेन सर्वश्रुतिसमन्वयः। सर्वेषां बन्धमोक्षदातृत्वाय विरुद्धधर्माः। ५।।

व्याख्यार्थ—छ ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त वह आत्म स्वरूप ब्रह्म ही है। यों कहने के लिये आत्मा के सात विशेषण कहे जाते हैं— १- एक है, यों कहकर बताया कि उसको किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि स्वयं 'ऐश्वर्य' गुण वाला है। २- 'स्वयं ज्योति' स्वयं ही प्रकाशमान स्वरूप है। इससे आपमें अलौकिक वीर्य गुण है यह सूचित किया है। ३-'अनन्य' है आपके समान गुणावान् कोई अन्य नहीं है इससे 'कीर्तिगुण' का सूचन किया है। ४-'अव्यय' आपमें कभी भी विकार उत्पन्न ही नहीं होता है नित्य एक रस होने से 'श्री गुण' का सूचन किया है, ५-अपने स्वरूप में स्थिति से ही जिसके कल्मषादि नित्य के लिये निवृत्त हुए हैं। ६ जिसका 'ब्रह्म' नाम है जिससे दिखाया है कि प्रापञ्चिक सर्व पदार्थों से आत्मा विलक्षण है। इससे वैराग्य गुण सूचित किया है, आत्मा के धर्म स्वरूप का वर्णन कर अब धर्मी स्वरूप को कहते हैं,'जन्माद्यस्ययतः' इस सूत्र के न्याय से,इस जगत् की उत्पत्ति[1] में सतोगुण हेतु है, नाश में तमोगुण हेतु है, स्थिति में रजोगुण हेतु है, ये तीन ही शक्तियां अपनी अर्थात् आत्मा की है, उन हेतुओं से लक्षित सात्विक आदि भाव अन्तःकरण के हैं। उन भावों की आत्मा में निर्वृत्ति है, अथवा भावों के सहित जो आनन्द है, उससे आत्मायुक्त है, इस प्रकार दोनों पक्ष कहकर सिद्धान्त बताया है कि आत्मा विरुद्ध धर्माश्रयी होने से प्रपञ्चकर्ता और प्रपञ्च रहित भी है अतः धर्मी स्वरूप का निरूपण किया है, अथवा इससे[2] वैराग्य कहा है, ब्रह्म नाम

१- वृद्धि में २- इस पाठ से वैसे भाव वाले होने से ब्रह्म में प्रपञ्च कर्ता पन है 'निर्वृत्तपन प्रपञ्च राहित्य कहा है—

से धर्मी का सूचन किया है आत्मपन से सर्वत्र भेद का निराकरण किया है। 'एक' पद कह कर पांच धर्मों के भेद का निराकरण किया है। प्रमाण के अभाव के लिये 'स्वयं ज्योतिपन' कहा है। 'अनन्य-पन' भिन्न धर्मों के निराकरण के लिए कहा है। 'अव्यय' पद से ब्रह्म धर्मों को नित्यता दिखाई है। साङ्ख्यादिकों के मत में जो ब्रह्म के धर्म नहीं हैं, वे भी ब्रह्म में आ जाते हैं, इस सिद्धान्त के निराकरण के लिये यह 'अव्यय' विशेषण अवश्य कहना चाहिए। 'स्वरूप स्थिति' इसलिए कही है, जो उससे संसारी आत्माओं की अविद्या नष्ट होती है। 'नित्य' पद से ज्ञान के अनन्तर निवृत्ति का निराकरण किया है। 'ब्रह्म' पद से सर्व श्रुतियों का समन्वय किया है, सब को बन्ध मोक्ष देने वाले होने से आप विरुद्ध धर्म वाले कहे गए हैं ॥५॥

आभास—एवं भगवत्त्वं भावयित्वा तत्कार्यं च स्वनिष्ठः सन्नपि तां निष्ठां परित्यज्य बहिर्धर्मानेव अन्तस्तथाभूतोऽपि भिन्नप्रक्रमेण कृतवानित्याह **अथेति**।

आभासार्थ- इस प्रकार भगवत् पन को धारण कर उसका कार्य स्वनिष्ठ होते हुए भी उन निष्ठा का त्याग कर भीतर वैसे होते हुए भी भिन्न प्रक्रम से लोक शिक्षार्थ धर्मों को ही करने लगे, जिनका वर्णन 'अथाप्लुतो' श्लोक में करते है—

श्लोक—**अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि क्रियाकलापं परिधाय वाससी ।**
चकार संध्योपगमादि सत्कृतो हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः ।६॥

श्लोकार्थ--जिस स्वरूप का ध्यान करते थे, वह स्वरूप स्वयं ही हैं, तो भी लोक शिक्षा के लिए ही धर्मों को बाहर कर दिखलाते है। पवित्र जल में स्नान कर शुद्ध हो वस्त्र धारण किया। अनन्तर मौन हो सन्ध्यावन्दनादि क्रिया की, पश्चात् अग्निहोत्र होम किया, शान्त होकर जप करने लगे ॥६॥

सुबोधिनी—अम्भसि आप्लुत इति। गोमत्यादाववगाह्य स्नानम्, नतूद्धृतजलैः। **अमले वाससी परिधायेति** विशेषणविशेष्ययोर्दूरे समन्वयः। स्नानेऽपि रात्रिवासःपरित्यागेनामले वाससी परिधाय पुनः स्नात्वामलवाससोः परिधानमाह। **यथाविधीति** स्नानपरिधानयोः क्रियाकलापे चान्वेति। क्रियाकलापमेव विशेषेणाह **संध्योपगमादीति**। **वाग्यत** इति सन्ध्यायां मौनं कर्माङ्गत्वेनैव कृतवानिति ज्ञापयति। अर्घ्यदानान्ता सन्ध्या, ततोऽग्निहोत्रहोमः, ततो **ब्रह्म**जपः गायत्रीमन्त्रजपः। **सत्कृत** इति तिलकावश्यकभूषणादिपरिधानमुक्तम्। एवमेव कृतः **धर्मो** भवतीति क्रमविधाने निरूपिते। अरुणकरग्रासात्पूर्वं ध्यानम्, अरुणकरग्रासे स्नानम्, ततः सन्ध्या अर्घ्यान्ता, ततोऽग्निहोत्रम्, ततो जपः सूर्योदयावधि ॥६॥

व्याख्यार्थ—गोमती आदि नदियों में डुबकी मारकर स्नान करना चाहिये, न कि नदी से जल बाहर निकाल उससे स्नान करना चाहिये, अतः नदी में भीतर जाकर डुबकी लगा के स्नान करने के अनन्तर, शुद्ध हो वस्त्र धारण कर लिए, यहां 'अमले' विशेषण 'वाससी' विशेष्य का है, यों तो 'अमले'

और 'अम्भसि' साथ में है किन्तु ,अमले पद' 'अम्भसि का विशेषण नहीं है इसलिए आचार्य श्री ने विशेषण विशेष्ययोर्दूरे समन्वयः' पंक्ति कहकर बता दिया है कि दूर होते हुए भी 'अमले' विशेषण का 'वाससी' विशेष्य से समन्वय है, स्नान करते समय भी रात्रि में पहने हुए वस्त्रों का त्याग कर शुद्ध वस्त्र पहनने चाहिये। स्नान के बाद पुनः अन्य शुद्ध वस्त्र धारण करने चाहिये अतः प्रभु ने लोक शिक्षार्थ यों ही किया। रात्रि के पहने हुए वस्त्रों को त्याग, धुले हुए वस्त्रों को पहन स्नान किया स्नानानन्तर शुद्ध हो, वस्त्र धारण कर सर्व सन्ध्यावन्दनादि क्रिया कलाप करते समय मौन रखा, क्योंकि मौन कर्माङ्ग है.अन्यथा अङ्ग विच्छिन्न से कर्मसाङ्ग सिद्ध नहीं होता है। अर्घ्यदान तक सन्ध्या है पश्चात् 'अग्निहोत्र' होम है वह किया, बाद में गायत्रीमन्त्र का जप किया. जप के अनन्तर तिलक आदि आवश्यक भूषणादि से अपने को सुसज्जित किया. इस प्रकार ही किया हुआ 'धर्म' धर्म होता है जो क्रिया कर कर्म करने का क्रम और विधान दोनों बताये। अरुणों की किरणों के ग्रास होने से प्रथम ध्यान'करना चाहिए,उनके ग्रास होने के बाद स्नान करना उचित है पश्चात् अर्घ्य पर्यन्त सन्ध्या करनी चाहिए. अनन्तर 'अग्निहोत्र' कर जब तक सूर्योदय हो तब तक जप करना चाहिये। ६॥

आभास—उदिते सूर्ये तूपस्थानम्, तदाह उपस्थायार्कमुद्यन्तमिति।

आभासार्थ—सूर्य के उदय होने पर 'उपस्थान' करना चाहिए, यह 'उपस्थायार्कमुद्यन्तं श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वात्मनः कलाः।
देवानृषीन् पितॄन्वृद्धान् विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान् ॥७॥

श्लोकार्थ—उदय हुए सूर्य का उपस्थान कर आत्मवान् भगवान् ने अपनी कला-रूप देव, ऋषि, पितर, वृद्ध और ब्राह्मणों का पूजन किया ॥७॥

सुबोधिनी—ततो देवर्षिपितृतर्पणमाह आत्मनः कलास्तर्पयित्वेति। 'ऋषयो मनवो देवा' इति वाक्यात् भगवत्कला एव। यथा अवयवादीनां पुष्ट्यर्थमवयविना यत्नः क्रियते, एवं कलानां पोषार्थं यत्नः, न तूपास्यत्वेनेति ज्ञापनार्थं कलापदम्। 'ततः प्रभृति पूज्यन्त' इति वाक्यात् लोकशिक्षापरत्वेनापि सिध्यति। सप्तम इति पाठे सप्तमो भगवान् षड्विधं देशादिनिरूपितं धर्मं कृतवानिति सूचितम्। कला एव गणयति देवानृषीन्पितॄनिति। वृद्धान् स्वजातीयान् क्षत्रियान्, विप्रान् सर्वानेव। एतेषामभ्यर्चनं गन्धादिभिः। आत्मवानिति। निष्कामत्वमुक्तम्। कामनयाप्येतेषां पूजनसम्भवात्। अग्रेऽप्येतद्विशेषणं सम्बध्यते ॥७॥

व्याख्यार्थ—'आत्मनः कलास्तर्पयित्वा' इससे देवर्षि पितृ[1] तर्पण कहते हैं- 'ऋषयो मनवो देवाः' इस शास्त्र वाक्यानुसार ये भगवान् की कला ही हैं जैसे अवयवी अवयव आदि की पुष्टि के लिए

१- अग्निष्वात्तादि सामान्य पितरों का

यत्न करता है प्रभु का भी कलाओं के पुष्ट करने के लिए यह यत्न है । 'कला' पद देकर यह बताया है, कि यह मेरा कर्म इनकी उपासना नहीं है, किन्तु इनका पोषण है क्योंकि मैं अवयवी कलाधारी हूँ अतः मुझे अपनी कलाओं का पोषण करना आवश्यक है । 'ततः प्रभृति पूज्यते' इस वाक्य से यह भी सूचित किया है, कि यह कर्म लोक शिक्षार्थ है यों भी सिद्ध होता है, यदि 'सप्तम' यों पाठ माना जाय तो जिसका अर्थ इस प्रकार करना चाहिये, कि सातवां धर्मी भगवान् है, जिन्होंने देशादि निरूपित षड्विध धर्म किए, इस 'सप्तम' पद से इस प्रकार के अर्थ को सूचित किया है, भगवत्कलाओं को गिनते हैं । देवान्, ऋषीन्, पितॄन्, वृद्धान् (स्वजातीयान् क्षत्रियान्) विप्रान् सर्वानेव, इनका गन्ध आदि से पूजन किया, 'आत्मवान्'पद से भगवान् की निष्कामता प्रकट की है अर्थात् यह सर्व कर्म कामना रहित होकर किया है, यों कहने का कारण यह है कि इनका पूजन कामना से भी होता है, इस विशेषण का आगे भी सम्बन्ध है ।।७।।

आभास—ततो गोदानस्य नित्यत्वात्प्रत्येकापेक्षया समुदायस्योत्कृष्टत्वात् समुदाये अलङ्करणं न सम्भवतीति विचार्य अलङ्कारगुणान्निरूपयन् दानमाह धेनूनामिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—गौ का दान प्रति दिन करना चाहिए, एक गौ के दान की बजाय समुदाय का दान उत्तम है, किन्तु समुदाय दान में शृङ्गार कराना (बनाना) कठिन है, यह विचार कर अलङ्कारों के गुणों का निरूपण करते हुए 'धेनूनां' 'ददौ' इन दो श्लोकों से दान का वर्णन करते हैं—

श्लोक—धेनूनां रुक्मशृङ्गीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम् ।
पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम् ।।८।।
ददौ रूप्यखुराग्राणां क्षौमाजिनतिलैः सह ।
अलंकृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्वं बद्वं दिने दिने ।।९।।

श्लोकार्थ—सुवर्ण के शृङ्गों वाली, शान्त स्वभाव वाली, मुक्तामालाओं वाली, दूध वाली, प्रथम ही ब्याही हुई, वत्सों सहित, सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित, रूपे के खुरों वाली गौ, जो भी गोष्ट में बँधी हुई थीं, वे सब नित्य अलङ्कृत ब्राह्मणों को दान में देते थे और साथ में रेशमी वस्त्र और तिल भी दान में देते थे ।।८-९।।

सुबोधिनी—आदौ गावः सवत्साः दोग्ध्र्यः । एतादृश एव समुदाय इति पशूनां भाग्यातिशयो निरूपितः, न हि द्वारकायां कश्चिद्विसदृशादृष्टो भवतीति ज्ञापनार्थमुक्तम् । अन्यथा धेनूनां बद्धता न सम्भवेत् । रुक्ममये सुवर्णमये शृङ्गे यासाम् । रौप्यमयाः अङ्घ्रयो यासां प्रत्येकम् । सुष्ठु वाससी प्रत्येकं यासाम् । साध्व्यः शान्तस्वभावाः । पयस्विन्यः बहुदोग्ध्र्यः, गृष्ट्यः सकृत्प्रसूताः । सर्वासां जीवद्वत्सत्वाय सवत्सानामित्युक्तम् । मौक्तिकानां स्रजो माला यासाम् । पूर्वार्धविशेषणमेतत् । एतादृशीः गाः ददौ । दानक्रियाणां समुदाये बद्धसङ्ख्या सम्बध्यत इति

केचित् । समुदाय एव दानमित्यपरे । क्षौमाजिनतिलानां सहभावः शास्त्रीयः । तदेकमेव विशिष्टं दानं भवति । अलंकृतेभ्यो विप्रेभ्य इति देयसमसङ्ख्या ब्राह्मणानां निरूपिता । गोसमसङ्ख्या वद्वसमसङ्ख्या वा । वद्वं वद्वमित्येव पाठः । वद्वं वद्वमिति वैदिकः शब्दः, स नात्रानुसन्धेयः । तत्रापि वद्वशब्दो वद्वपर्यायः । चतुरशीत्यग्रसहस्राणि त्रयोदशेति केचित् । तन्नवमे विचारितं निराकृतं च । तस्माद्गोष्ठपर्यायो वद्वशब्दः । अत्र च विशेषसङ्ख्या उपयोगाभावः । अयुतलक्षादीनामेव नित्यदाने उपयोगाच्च । दिने दिने, न तु गार्हस्थ्ये । नापि वर्षे प्रतिगृहमिति । उपक्रमे बहुवचनस्योक्तत्वादध्यवसेयम् ॥८-६॥

व्याख्यार्थ—गोष्ठ में जो गौ थी, वे सब बछडों वाली तथा दूध देने वाली थीं, इससे पशुओं के विशेष भाग्य का निरूपण किया है तथा इसलिए भी यों कहा है कि द्वारका में कभी भी कोई अनुचित कष्ट नही होता है यों न कहते तो गौओं की बद्वता[1] नहीं बन सकती, गौओं के गुणों का वर्णन करते हैं, गौओं के सोने के सींग थे, चान्दी के खुर थे, सुन्दर वस्त्र थे, और उनका स्वभाव शान्त था, उनमे बहुत दूध था एवं वे पहली बार ही ब्याही थी, सबके बछड़े जीते थे इसलिए उनको बछड़ों वाली कहा हैं, गले में मोतियों की माला पड़ी थी, यह पूर्वार्ध का विशेषण है, ऐसी गौ भगवान् ने दान में दी, कोई कहते है कि दान क्रियाओ के समुदाय से बद्ध संख्या का सम्बन्ध है, दूसरो का कहना है कि समुदाय का ही दान है, पट वस्त्र और तिलों का दान गौ दान के साथ करना शास्त्रीय पद्धति है । तब एक ही उत्तम दान हो जाता है, केवल अलङ्कृत ब्राह्मणों को कहा, उनकी सङ्ख्या न कही, जिसका आशय है गौओं के समान ब्राह्मणों की भी सङ्ख्या थी, गौ के समान सङ्ख्या अथवा बद्ध समान सङ्ख्या ब्राह्मणों की कही, 'बद्धं बद्धं' यह ही पाठ है 'वद्वं बद्वं' यह वैदिक शब्द है , वह यहां नहीं लेना चाहिए, वहां (वेद में) भी 'बद्ध' शब्द 'बद्ध' पर्याय है, कोई कहते है कि तेरह सहस्र ८८ गौ दान की है जिसका नवम में विचार कर निराकरण किया है, इससे बद्ध गोष्ठ वाचक है, यहां विशेष सङ्ख्या कही है, इसके उपयोग का अभाव है कारण कि नित्य दान में अयुत लक्षादि के दान का उपयोग है, प्रति दिन उपयोग है, गार्हस्थ्य में नही है तथा प्रत्येक गृह वर्ष में भी नही आ सके, अतः उपक्रम में बहुवचन कहने से यों ध्यान में लेना चाहिये ॥८-६॥

आभास—ततो नमस्कारादिकमाह गोविप्रेति ।

आभासार्थ—दानानान्तर प्रणाम किया, जिसका वर्णन 'गो विप्र देवता' श्लोक में करते है—

श्लोक—गोविप्रदेवतावृद्धगुरून् भूतानि सर्वशः ।
नमस्कृत्यात्मसम्भूतीर्मङ्गलानि समस्पृशत् ॥१०॥

श्लोकार्थ—गौ, ब्राह्मण, देवता, वृद्ध और भूतों को अपने से उत्पन्न विभूति जानकर नमस्कार की, अनन्तर मङ्गल पदार्थो को स्पर्श किया ॥१०॥

१-- गोष्ठ में वे ही गौ बन्धी रहती है जो बच्छडों वाली हो और दूध देती हो,

सुबोधिनी—गावो हविर्विप्रा मन्त्राः देवताश्च त्रितयं मिलितं यागो भवतीति क्रमो निरूपित । वृद्धाः सर्वे सभासदः । गुरवः कर्मोपदेष्टारः । सर्वश इति शिष्यप्रशिष्यादिसहितान् । एतेषां नमस्कारे हीनता भवतीति शङ्कां निवारयति आत्मसम्भूतीरिति । एते सर्वे सम्भूतिरूपाः । यथा स्वयं स्वपादक्षालनं करोति, तद्वदित्यर्थः । ततो मङ्गलानि सम्यगस्पृशत् । गोहिरण्यादीनि मङ्गलानि ॥१०॥

व्याख्यार्थ—गौ हवि और विप्र तथा मन्त्र एवं देवता, ये तीनों मिल याग होता है, इस प्रकार क्रम का निरूपण किया है, सब सभासद वृद्ध है, कर्म के उपदेष्टा गुरु है, सब कहने से शिष्य प्रशिष्यो के साथ उनको नमस्कार कर अनन्तर मङ्गल[1] पदार्थो का स्पर्श किया, इनको नमस्कार करने से हीनता होती है, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते है कि ये सब आपकी ही सम्भूति रूप थे, अतः जैसे अपने पाद प्रक्षालन से हीनता नहीं होती है क्योंकि पाद अपनी सम्भूति है, उसी तरह ये भी श्री कृष्ण की सम्भूति हैं जिससे हीनता नही ॥१०॥

आभास—धर्मपरिष्कारमुक्त्वा धर्मिपरिष्कारमाह आत्मानं भूषयामासेति ।

आभासार्थ—धर्म की शोभा कहकर अब 'आत्मानं भूषयामास' श्लोक में धर्मी की शोभा वर्णन करते है—

श्लोक—आत्मानं भूषयामास नरलोकविभूषणम् ।
दासोभिर्भूषणैः स्वीयैर्दिव्यगन्धानुलेपनैः ॥११॥

श्लोकार्थ—नर लोक[2] के विशेष भूषण रूप अपनी आत्मा को वस्त्र, आभूषण, दिव्य गन्ध आदि से भूषित किया ॥११॥

सुबोधिनी—स्वस्य सच्चिदानन्दं रूपं देहं भूषयतीति यदा व्यावर्तयितुनात्मपदम्, किन्त्वात्मानमेव । अध्यासादात्मपदं शरीरेऽपि वर्तते जीवेषु, न तु भगवतीति । भूषणस्य प्रयोजनमाह नरलोकविभूषणमिति । न हि स्वार्थमलङ्करणं करोति । निरतिशयानन्दत्वात् । किन्तु जगतो भूषणं तद्रूपं जगच्च लौकिकोत्कर्षमपेक्षते । अतो यथा भूषणसंस्कारे भूषितः संस्कृतो भवति, एवं जगद्भगवता संस्कृतमित्यर्थः । पूर्वपरिधानीयवस्त्राद्यपेक्षया भिन्नान्येतानीति ज्ञापयितुं भूषणकरणानां नामतो निरूपणमाह वासोभिरिति । कञ्चुकोष्णीषादिभिः भूषणरूपैः स्वीयैः असाधारणैः मकरकुण्डलादिभिश्च । दिव्यो गन्धो यस्य एतानि अनुलेपनानि बहुविधानि । ततः सर्वाभरणभूषितः ॥११॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने वस्त्र आभूषण दिव्य गन्ध आदि के अनुलेपन से आत्मा को ही भूषित

१– गौ, सुवर्ण आदि मङ्गल पदार्थ है, २–जगत् के

किया है, न कि देह को, यद्यपि आत्मा शब्द अध्यास से देह के लिये भी दिया जाता है, किन्तु वह जीवो के विषे हैं. न कि भगवान् के विषे होता है, अतः अपने सच्चिदानन्द रूप देह को भूषित करते हैं, इस पक्ष का निवारण किया, जिसके लिए ही 'आत्मानं' शब्द दिया है, भूषित करने का प्रयोजन कहते हैं कि 'नरलोक विभूषण' अपने लिए शृङ्गार नही करते है, क्योंकि आप निरतिशय आनन्द रूप है ही उनको भूषित होकर आनन्द प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है,किन्तु उनका रूप जो जगत् रूप है वह लौकिक मे अपना उत्कर्ष चाहता है,अतः जैसे नस्कार किया हुआ आभूषण विशेष शोभित होता है वैसे ही यह जगत् भी भगवान् ने संस्कृत अर्थात् भूषित वा शोभित किया, प्रथम पहने हुए वस्त्रादि की अपेक्षा से ये वस्त्रादि भिन्न हैं यों जताने के लिये उनके नाम का निरूपण करते हैं, कञ्चुक, उष्णीष आदि वस्त्र और अपने असाधारण मकर कुण्डलादि आभूषण धारण किए, तथा दिव्य गन्धों का अनुलेपन आदि लगाये, इस तरह सर्व आभरणों से आत्मा को भूषित किया ॥११॥

श्लोक—अवेक्ष्याज्यं तथादर्शं गोवृषद्विजदेवताः ।
कामगं सर्ववर्णानां पौरान्तःपुरचारिणाम् ।
प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः प्रतोष्य प्रत्यनन्दत ॥१२॥

श्लोकार्थ—घृत को देख तथा आरसी देख, गौ, बैल और देवता के दर्शन कर, नगरी तथा जनाने के सर्व वर्ण के लोगों के मनोरथों को गुप्त प्रकार से पूर्ण कर, सब को संतोषित कर आप प्रसन्न हुए ॥१२॥

सुबोधिनी—आत्मानं तेजोमयं कर्तुमाज्यावेक्षणं कृतवान् । तेन सर्व एव लोकदृष्ट्या रोगादयो निवृत्ता भवन्ति । ततः कान्तियोगार्थमादर्शं दृष्टवान् । गोवृषद्विजदेवतानां च दर्शनं कृतवान् । अत्र देवा देवालयस्थाः । ततो लौकिकोचितदानमाह कामगमिति । कामं गच्छति पूरयति प्राप्नोतीति वा कामगाः मनोहरा विषयाः, सर्वेषामेकं न भवतीति ज्ञापयितुं सर्ववर्णानां मुख्यानां गौणानां चेत्युक्तम् । पौरान्तःपुरचारिणामिति । लौकिकप्राधान्यार्थमुक्तम् । साक्षात्तेषां दानं तेषामभीष्टं न भवतीति गोप्यार्थं प्रदाप्येत्युक्तम् । प्रकृतीः । मन्त्रिणः अन्तःपुरस्त्रियो वा । कामैः प्रतोष्य ततस्तत्कृतां पूजां प्रत्यनन्दत ॥१२॥

व्याख्यार्थ—अपने को तेजोमय करने के लिये घृत का दर्शन किया, जिससे लोक दृष्टि द्वारा सब ही रोग निवृत होते हैं, अनन्तर कान्ति के लिए आरसी देखी, गौ, बैल और देवालय में स्थित देवों के दर्शन किये, पश्चात् लौकिक में उचित दान किया जिसका वर्णन करते हैं, सबको एक विषय (वस्तु) इच्छित नहीं होती है, यह जताने के लिए गौण और मुख्य सब तरह के नगरी तथा अन्तःपुर में फिरने वालों को दान दिया, किन्तु प्रत्यक्ष मिला हुआ दान उनको अभीष्ट नहीं होता है, अतः गुप्त दिया अर्थात् अन्य द्वारा दिया, इसलिए 'प्रदाप्य' पद दिया है, 'प्रकृतीः' पद से मन्त्री और अन्तःपुर की स्त्रियाँ कही है, उनके इच्छानुसार देकर उनको प्रसन्न किया उनका जो दानादि से सत्कार किया, उससे स्वयं भी प्रसन्न हुए ॥१२॥

आभास—ततो भोगं वक्तुं मुख्यत्वात्ताम्बूलादिस्वीकारमाह संविभज्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् भोग को कहने के लिए मुख्यपन से ताम्बूलादि के स्वीकार का 'संवि-भज्य' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—संविभज्याग्रतो विप्रान् स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः ।
सुहृदः प्रकृतीर्दारानुपायुङ्क्त ततः स्वयम् ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—माला, ताम्बूल तथा अनुलेपन आदि ब्राह्मणों को, सुहृदों को, मन्त्रियों को और स्त्रियों को देकर अनन्तर अपने उपयोग मे लिया ॥१३॥

सुबोधिनी—अग्रतः प्रथमं विप्रान् संविभज्य विप्रेभ्यो दत्त्वा स्रक्ताम्बूलानुलेपनानि । सर्वे. सर्वेषां संविभागः । लौकिकदाने सुहृदः प्रथमाः, प्रकृतयः मन्त्रिणः, ततो दाराः । यद्यपि प्रथमं स्वस्योपयोगः, तथापि संविभागः सर्वेषां प्रथम एव । भगवदुपभोगानन्तरं पदार्थोत्पत्त्यसम्भवात् । अतः पश्चात्स्वयमुपायुङ्क्त । शिष्टस्य सेवकगामित्वात् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—प्रथम ब्राह्मणों को माला, ताम्बूल और अनुलेपन आदि दिया, अनन्तर सबको सब पदार्थों का विभागानुसार दिया, लौकिक प्रकार मे देने के समय पहले सुहृदों को, बाद मे मन्त्री उनके पश्चात् स्त्रियों को देना चाहिए, यों ही किया. यद्यपि प्रथम अपने को उपयोग में लेना चाहिए था, किन्तु यों नही किया, कारण कि भगवान् के उपभोग के अनन्तर पदार्थ शेष नहीं रह सकता है जो किसी को दिया जा सके, अतः प्रथम ही सबको पूरे हिस्से से क्रमानुसार देकर पश्चात् आपने ग्रहण किया, शिष्ट पुरुष सदैव सेवको को देकर अथवा भोजन कराकर बाद मे स्वयं लेते है जिससे वे (सेवकादि) प्रसन्न रहते है ॥१३॥

आभास—ततस्त्रैलोक्यरक्षार्थमुद्यतस्य सुधर्मायां गमनं निरूप्यते तावत्सूत इति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार आह्निकादि सर्व प्रातःचर्या कर त्रैलोक्य की रक्षा के लिए सुधर्मा सभा में जाने के लिए तैयार हुए, जिसका वर्णन 'तावत्सूत' श्लोक से ४ श्लोकों में करते हैं—

श्लोक—तावत्सूत उपानीय स्यन्दनं परमाद्भुतम् ।
सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तं प्रणम्यावस्थितोऽग्रतः ॥१४॥
गृहीत्वा पाणिना पाणि सारथेस्तमथारुहत् ।
सात्यक्युद्धवसंयुक्तः पूर्वाद्रिमिव भास्करः ॥१५॥
ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणां सव्रीडप्रेमवीक्षितैः ।
कृच्छ्राद्विसृष्टो निरगाज्जातहासो हरन्मनः ॥१६॥

सुधर्माख्यां सभां सर्वैर्वृष्णिभिः परिवारितः ।
प्राविशद्यन्निविष्टानां न सन्त्यङ्ग षडूर्मयः ।।१७।।

श्लोकार्थ—इतने में दारुक सारथी सुग्रीव आदि घोड़ों से जोड़े हुए रथ को लाकर प्रणाम कर सामने खड़ा हुआ ।।१४।

अपने हाथ से सारथी का हाथ पकड़ सात्यकि और उद्धवजी के साथ जैसे सूर्य उदयाचल पर्वत पर चढ़ता है, वैसे आप रथ पर चढ़े ।।१५।।

अन्तःपुर की स्त्रियाँ जो बड़े कष्ट से भगवान् को छोड़ सकी थीं, वे लाज भरी प्रेम युक्त दृष्टियों से देख रही थीं, मुस्कराते हुए भगवान् उनका मन हरण कर बाहर निकले ।।१६।।

सब यादवों से वेष्टित प्रभु सुधर्मा सभा में पधारे, जिस सभा में बैठे हुए सभ्यों को, क्षुधा और प्यास आदि छ ऊर्मियाँ नही थीं ।।१७।।

सुबोधिनी—परमाद्भुतमिति । वैकुण्ठात्समागतरथव्युदासः, किन्तु धर्ममयो रथः, स तु सङ्कर्षणोपकारी । अश्वाः मृतश्च त एवेत्याह **सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तमिति** । अनिरुद्धप्राधान्यात्सुग्रीवाद्यैरित्युक्तम् । प्रणामः पूर्वस्माद्वैशिष्ट्यद्योतकः, अग्रे तूष्णीमवस्थान कार्यस्य लौकिकत्वाभावाय । ततः अप्रेरितोऽपि भगवान् सारथेः पाणिं पाणिना गृहीत्वा रथमारुहत् । तस्य क्रियाशक्तिः स्वक्रियाशक्त्या निबद्धा, अन्यथा धर्मप्रेरकोऽन्यथा प्रेरयेत् । पूर्वाविशिष्टत्वात् । **तं रथमारुहदिति । भगवदारूढो धर्मः सर्वत्र सुस्थिरो भवतीति तमित्युक्तम्** । रक्षारूपा क्रियाशक्तिः । भक्तिश्च साधनत्वे धर्मे ग्राह्येति **सात्यक्युद्धवसंयुक्त** इत्युक्तम् । उद्धवो भक्तिः अधिकारिणामेव प्रकाशको भविष्यतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **पूर्वाद्रिमिव भास्कर इति** । प्रातः सर्वेषामेव प्रबोधो भवति, न केवलमधिकारिणाम् । ततो **धर्मे काम**निवृत्तिमाशङ्क्य तन्निराकरणार्थमाह । **ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणामिति** । **स्त्रीणामिति** । षष्ठीबहुवचनं न केवलं दर्शनमात्रम्, किन्तु तासां सम्बन्ध्यपि भगवानिति द्योतयति । ज्ञानद्वारा सम्बन्धः । आन्तरः बाह्यो निवर्तक इति ज्ञाने त्रैविध्यमाह **सव्रीडप्रेमवीक्षितैरिति** । व्रीडा तामसी, प्रेम राजसम्, वीक्षितं सात्त्विकमिति । ततो भावेन बद्धः । 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति न्यायेन । तासामपेक्षया स्वच्छन्दं धर्मपरता न भविष्यतीति तासां निर्बन्धाभावमाह **कृच्छ्राद्विसृष्ट इति** । कष्टेन ताभिर्विसृष्टः, धर्मानुरोधान्निर्गच्छत्विति विचारितः । ततो निरगात् । **जातहास इति** । तासामपि धर्मानुरोधमालक्ष्य हास्यम् । न हि स्त्रीणां कामादुपरतिरस्ति । तथापि धर्मपरताप्यासां मा भूदिति ज्ञापनार्थं धर्मपरत्वम् । **हरन्मन इति** निरोधार्थम् । अन्यथा लोके धर्मे वा चित्तमासक्तं भवेत् । भगवान् **विसृष्ट इति । सुधर्माख्यामिति** । सुष्ठु धर्मो यत्रेति नाम्नैव धर्मपरत्वं सिध्यति । सभा स्वभावतोऽपि धर्मनिर्णयस्थानम् । **सर्ववृष्णिभिः परिवारित** इत्यैकमत्यम् । तस्यामाधिदैविकधर्मत्वज्ञापना-

र्थम् । कालधर्मातिक्रममाह यन्निविष्टानामिति । यत्रोपविष्टानां षडूर्मयो देहादिधर्माः आवश्यका अपि न सन्ति, तत्रानावश्यकाः सुतरामेव न भविष्यन्तीति अर्थादुक्तम् ॥१४–१७॥

व्याख्यार्थ—रथ परम अद्भुत है, यों कहकर यह सूचित किया है कि यह रथ वैकुण्ठ से नहीं आया है किन्तु 'धर्ममय' रथ है। वह सङ्कर्षण का उपकारी है क्योंकि सङ्कर्षण के कार्य में सैन्याश्च की प्रधानता है इसलिए वे आदि में कहे हैं। अनिरुद्ध को प्रधानता से सुग्रीव आदि कहे हैं, सुग्रीव का भावार्थ है कि यहाँ रज और तमोगुण का अभाव होने से यह रथ धर्मोपयोगी है। वह तो सैन्य की तरह संहारक होने से अधर्म के संहार करने में उपयोगी है जिससे धर्मोपयोगी है। दारुक ने आकर प्रणाम किया यह प्रथम से विशिष्टता प्रकट करता है, आगे मौन रहना इसलिये है, कि यह कार्य लौकिक नहीं है। पश्चात् बिना कहे हुए भी भगवान् सारथी के हस्त को अपने हाथ से पकड़कर रथ में चढ़े, उसकी क्रिया शक्ति अपनी क्रिया शक्ति से जोड़ली, यों न करते तो धर्म के प्रेरक अन्य प्रकार प्रेरण करते, तो संहारार्थ रथारोहण जो किया उसमें प्रतिबन्ध हो जाता, क्योंकि पूर्वावशिष्ट हो जाने से, भगवदारूढ धर्म सर्वत्र अच्छी तरह स्थिर हो जाता है, इसलिए 'तं' शब्द दिया है, अर्थात् भगवान् धर्ममय रथ पर आरूढ़ हुए हैं अतः धर्म ही स्थिर होगा अधर्म का नाश होगा। रक्षारूप क्रिया शक्ति है, धर्म में भक्ति साधनपन में ग्रहण करने योग्य है, इसलिए सात्यकि और उद्धवजी को साथ में लिए है। उद्धव भक्ति रूपा हे, अधिकारियों का ही प्रकाशक होगा ? इस प्रकार की शङ्का को दृष्टान्त द्वारा मिटा देते हैं, कि जैसे प्रातःकाल में जब सूर्य उदय होता है तब सब ही जगते हैं, न कि केवल अधिकारी, अर्थात् सब उजाला देख अपने२ कार्य में तत्पर होते हैं, धर्म में काम की निवृत्ति होगी, ऐसी शङ्का का निवारण करने के लिए 'ईक्षितोऽन्तः-पुर स्त्रीणां' कहा है, यहां 'स्त्रीणां' षष्ठी विभक्ति कहकर सूचित किया है कि स्त्रियां केवल देख न रही थी किन्तु भगवान् उनके सम्बन्धी भी थे, ज्ञान द्वारा सम्बन्ध है, आन्तर, बाह्य और निवर्त्तक, इस तरह ज्ञान में त्रैविध्य दिखलाया है, 'सव्रीड प्रेम वीक्षितैः' व्रीडा (लज्जा) तामसी है, प्रेम राजस है, देखना सात्विक है, ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस न्यायानुसार भाव से बद्ध है, उनकी अपेक्षा से स्वछन्द धर्म परता न होगी, इसलिए उनके निर्बन्ध का अभाव कहते हैं कि उन्होंने भगवान् को बहुत कष्ट से जाने दिया है, यों तो जाने नहीं देती किन्तु विचार किया कि धर्म के लिए पधार रहे हैं अतः भले जावें, पश्चात् पधारते हुए प्रभु हँसते हुए जाने लगे, क्योंकि भगवान् को उनका धर्मानुरोध देखकर हँसी आई, स्त्रियों की काम से शान्ति नहीं है, तो भी वे धर्म परायण भी न होनी चाहिए अतः भगवान् ने हँसकर इनके मन का निरोध करने के लिए अपनी तरफ खींच लिया, यदि भगवान् मन को अपनी तरफ खींच अपने में आसक्त न करते तो ये लोक वा धर्म में आसक्त हो जाती भगवान् इनसे बाहर से अलग हो सुधर्मा सभा में पधारे, सभा के नाम से ही प्रसिद्ध होता है कि यहां उत्तम धर्म है, 'सभा' स्वभाव से भी धर्म निर्णय का स्थान है। सब यादव साथ में थे जिससे दिखाया है, सबकी एक ही राय है, उस सभा में आधिदैविक धर्म पन जताने के लिए कहा है कि वहां काल के धर्म बाधा नहीं कर सकते हैं। सभा में बैठे हुओं को देह धर्म, भूख प्यास आदि छ ऊर्मियां, हैं ही नहीं जब ये आवश्यक भी नहीं है तो अनावश्यक तो सुतराम् ही नहीं होंगे ॥१७॥

आभास—एवं सुधर्मामाहात्म्यमुक्त्वा तत्रोपवेशने धर्म एव केवल इत्याशङ्क्य सच निर्बन्धात्मक इति सुखोपवेशनमाह **तत्रोपविष्ट** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सुधर्मा सभा के माहात्म्य का वर्णन कर वहां बैठने में केवल धर्म ही है यों शङ्का कर उत्तर देते है कि वह तो निर्बन्धात्मक होता है यों कहकर 'तत्रोपविष्ट' श्लोक से सुख से विराजने का वर्णन करते हैं—

श्लोक—तत्रोपविष्टः परमासने विभुर्बभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन् ।
वृतो नृसिंहैर्यदुभिर्यदूत्तमो यथोडुराजो दिवि तारकागणैः ।।१८।।

श्लोकार्थ—वहाँ उत्तम आसन पर विराजमान यदूत्तम भगवान्, अपनी कान्ति से दिशाओं का प्रकाशमान करते हुए पुरुष सिंह यादवों के साथ यों सुशोभित लगते थे, जैसे आकाश में तारागण के साथ चन्द्रमा शोभायमान होता है ।।१८।।

सुबोधिनी—तत्र सभायाम् । तत्रापि मध्ये भगवदुपवेशनस्थान परमासनम् । प्रान्ते पश्चिमभागे कुड्यसमीपे राज्ञः स्थानम्, मध्ये तत्सम्मुखे भगवत्स्थानमिति विमर्शः। सभासदां मध्ये भगवतोऽनुप्रवेशं निवारयितुमाह स्वभासा ककुभोऽवभासयन्निति । तत्र सामर्थ्यं विभुरिति । राज्ञो मुख्यत्वादभानमाशङ्कयाह बभाविति । सभाधर्मेण देवधर्मेण वा तथात्वमाशङ्कय स्वभासेति। अप्रधानेनापि प्रधानभान सम्भवतीति तन्निराकरणार्थं दश दिश एवोक्ताः । नतु तत्रत्या एव केवलाः । अनेन सभया भगवद्भानं निवारितम् । एवं तर्हि सभासदामप्रयोजकत्वमेव स्यादित्याशङ्कय निराकरोति वृतो नृसिंहैरिति । तेषामागन्तुकत्वं निराकरोति यदुभिरिति । अन्यथा नृसिंहाः परशुरामव्यासादयो भवेयुः । तुल्यतामाशङ्कयाह यदूत्तम इति । तेषामेकत्र निवेशनमात्र भगवतस्ततोऽप्युत्तमत्व एव स्यात् । नतु नियामकत्वम् । ततो धर्म एकमुख्यो न भवेदिति तेषां पतिर्भगवानिति दृष्टान्तेन निरूपयति यथोडुराज इति । दिवीत्याधिभौतिक निवारितम्, यथा देवरूपम् । ग्रहनक्षत्राणामपि केनचिदंशेन तुल्यतापोषकत्वं चास्तीति तारकागणैरित्युक्तम्। उडुराज इत्यनेन स्वकीयानां तदधीनत्वमुक्तमेव । ।।१८।।

व्याख्यार्थ—वहां सभा में भी भगवान् के विराजमान होने का स्थान उच्च सुन्दर सिंहासन था, पश्चिम भाग के एक तरफ भित्ति के समीप राजा के बैठने का स्थान होता है । बराबर मध्य में उसके सामने भगवान् के विराजने का स्थान[1] था, सभासदों के बाद[2] भगवान् ने प्रवेश किया, जिसका निवारण करने के लिए कहते हैं कि, अपने तेज से दिशाओं को प्रकाशित करते हुए प्रवेश किया जिसका भावार्थ है कि सभासद भगवान् के पीछे आ रहे थे जिससे सभा में चारों तरफ भगवान् का पूर्ण प्रकाश भित्ति आदि पर हो रहा था, इस प्रकार प्रकाशित करने का सामर्थ्य आप में है क्योंकि 'विभु' सर्व समर्थ हैं, सभा में राजा मुख्य होता है उसका ही तेज वा प्रकाश देखने में आता है इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि 'बभौ' राजा से भी आप विशेष प्रकाशमान हो रहे थे, भगवान् सभा धर्म से अथवा देव धर्म से प्रकाशमान होते होंगे इस शङ्का को 'स्वभासा' पद से

---

१ सिंहासन, २—पीछे

मिटाते हैं कि भगवान् सभा वा देव धर्म से नहीं किन्तु अपने तेज से प्रकाशमान हो रहे थे, कभी-कभी अप्रधान से भी प्रधान का भान हो जाता है इस प्रकार के भ्रम वा शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि न केवल वहां बैठे हुए प्रकाशित हुए किन्तु दश दिशाएँ भी प्रकाशित होने लगी, इससे सभा से भगवान् का प्रकाश हुआ इसका निवारण किया, यदि यों है तो सभासदों का कोई प्रयोजन न रहा, इस शङ्का को मिटाते है कि मनुष्यो में सिह[३] यादवों से घिरे हुए पधारे थे, वे पिछे नहीं आये थे, यदि नृसिंह शब्द का विशेष्य 'यदुभिः' न कहते तो 'नृसिंह' से परशुराम, व्यास आदि समझे जाते, तब उनसे इनकी समानता होगी ? इसके निराकरण करने के लिए कहा है कि ये यादवों में श्रेष्ठ हैं, उनका एक स्थान पर ही बैठना है, अतः भगवान् का उससे भी उत्तमपन ही होना चाहिए अर्थात् है, न कि नियामकत्व ही है, इस कारण से धर्म एक मुख्य नहीं होता है, क्योंकि उनका स्वामी भगवान् है, जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, 'दिवि' पद देकर आधिभौतिकता का निवारण किया है जैसे देवरूप, 'तारकागणैः' पद से बताया है कि नक्षत्रों का भी किसी अंश मे समतापोषकत्व है 'उडुराज' कह कर जताया है कि जैसे तारागण चन्द्रमा के आधीन है क्योंकि वह उनका स्वामी है वैसे ही स्वकीयों का भी अपने स्वामी का आधीनत्व कहा हुआ समझना चाहिए ।।१८।।

आभास—ततो धर्मफलमिव वदन् मनस. परितोषार्थमाह **तत्रोपमन्त्रिण** इति ।

आभासार्थ —पश्चात् मानों धर्मफल कहते हुए, 'तत्रोपमन्त्रिणो' श्लोक में मन के प्रसन्नतार्थ कहते हैं—

श्लोक—**तत्रोपमन्त्रिणो राजन्नानाहास्यरसैर्विभुम् ।**
उपतस्थुर्नटाचार्या नर्तक्यस्ताण्डवैः पृथक् ॥१६॥

श्लोकार्थ—वहाँ जो उपमन्त्री आए थे, वे हास्य रस की वार्ताओं से भगवान् को प्रसन्न करते थे, नटाचार्य तथा नृत्य करने वाली स्त्रियाँ पृथक्-पृथक् ताण्डवों से भगवान् की सेवा करती थीं ।।१६।।

सुबोधिनी—उपमन्त्रिणः कौतुकिनः । **राजन्निति** ज्ञापनार्थं सम्बोधनम् । नानाविधा हास्यरसाः । लौकिकीभाषेयं धर्मे चित्तोद्वेगनिवारणार्थमुक्ता । विभुत्वादप्रेरिता अपि तथा उपतस्थुः । न केवलं हास्यरसा एव, किन्तु शृङ्गारादयोऽपि विभावादिभिः प्रकाशिता इत्याह **उपतस्थुरिति** । **नटाः** रसाभिनयनकर्तारः शुद्धस्वाङ्गप्रदर्शकाः । **स्त्रियो नर्तक्य** लास्यप्रदर्शिकाः । उभयविधा अपि सभात्वात् ताण्डवैरेव पृथक् पृथक् उपतस्थुः । **नरा नार्य** इति वा पाठः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—हे राजन् ! यह सम्बोधन सभा में क्या क्या होता है उसका तो आपको ज्ञान हो

३- उत्तम

है,इसलिए दिया है,देश विदेश से कला[१] दिखाने के लिए आए हुओं की पहचान 'उपमन्त्रिण:' पद से दी है.उन्होंने भगवान् के पास आकर उनको प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार की हास्य रस की कलाएँ दिखाई क्योंकि धर्म में चित्त के उद्वेग का होना अच्छा नहीं, इसलिए उस उद्वेग को मिटाने के लिए इन कलाओं का दिखाना आवश्यक है, यह लौकिकी भाषा है, भगवान् ने उनको यों कर दिखलाने को प्रेरणा नहीं की,तो भी उन्होंने यों किया जिसका कारण है कि भगवान् 'विभु' हैं अर्थात् सर्व समर्थ है। प्रत्यक्ष प्रेरणा दिये बिना भी कार्य करा सकते हैं, केवल हास्य रस ही नहीं किए, किन्तु विभावादिकों से शृङ्गार आदि भी दिखाए इसलिए 'उपतस्थु:' पद दिया है, 'नट'वे हैं जो ऐसा अभिनय करके दिखावे जिससे रस उत्पन्न हो जाय, तथा शुद्ध स्वाङ्ग कर सकें, स्त्रियां जिनको 'नर्तक्य:' कहा है वे नाच कर प्रसन्न करने वाली होती हैं, यह सभा है इसलिए दोनों प्रकार के स्त्रियों अथवा पुरुष अपनी अपनी कला ताण्डवों से पृथक् पृथक् दिखाने आये ।।१९।।

आभास—भगवत: सभायां गमनमुत्सवरूपमिति ज्ञापयितुं वाद्यमाह **मृदङ्गे**ति ।

आभासार्थ—सभा में भगवान् का पधारना उत्सव रूप है इसको बताने के लिए 'मृदङ्गवीणा' श्लोक में बाजों का बजना कहते हैं—

श्लोक—**मृदङ्गवीणामुरजवेणुतालदरस्वनैः ।**
ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुश्च सूतमागधवन्दिनः ।।२०।।

श्लोकार्थ—सूत, मागध और वन्दीजन मृदङ्ग, वीणा, मुरज, वेणु ताल तथा शङ्ख; इन शब्दों के साथ नाचते थे, गाते थे और स्तुति करते थे ।।२०।।

सुबोधिनी—षड्विधानां स्वनैः सह ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुः । स्तोत्रे नटादयो नात्यन्तमभिज्ञा इति सूतादीन्निर्दिशति सूतमागधवन्दिन इति ।।२०।।

व्याख्यार्थ—छ: प्रकार के वाद्यों की ध्वनि के साथ सूत, मागध और वन्दीजन नाचते, गाते और स्तुति करते थे, नट आदि स्तोत्र को अच्छी तरह नहीं जानते इसलिए सूत मागध और वन्दी को कहा है ।।२०।।

आभास—लौकिकोत्सवमुक्त्वा तस्य धर्मफलत्वं ज्ञापयितुमाह **तत्रस्था ब्राह्मणाः केचि**दिति ।

आभासार्थ—लौकिक उत्सव का वर्णन कर उसके धर्म फलपन को 'तत्रस्था' श्लोक में जताते हैं—

१- कौतुकिन:-आश्चर्य में डालने वाले तमाशे दिखाने वाले,

श्लोक—तत्रस्था ब्राह्मणाः केचिदासीना ब्रह्मवादिनः ।
पूर्वेषां पुण्ययशसां राज्ञां चाकथयन्कथाः ॥२१॥

श्लोकार्थ—कितनेक ब्रह्मवादी ब्राह्मण वहाँ बैठे थे, वे पुण्य यश वाले पूर्व हुए राजाओं की कथाएँ कहने लगे ॥२१॥

सुबोधिनी—ते हि सभासदः सभायामधिकृताः धर्मनिर्णयार्थम्, यतो ब्रह्मवादिनः सर्वज्ञाः। अन्ये हि धर्मं न विदुः । केचिदिति साधारणाः, न तु वसिष्ठादयः । धर्मः परम्परागत एव कर्तव्य इति तादृश एव भगवता क्रियत इति ज्ञापयितुं ब्राह्मणैस्तथा निरूप्यत इत्याह पूर्वेषां पुण्ययशसामिति । इक्ष्वाकुप्रभृतीनां धर्मे यादृशं वर्तनम् । पुण्यं यशो येषामिति लोकेऽप्यविगीतानाम् । चकाराद्ब्राह्मणादीनामपि कथाः धर्मोपयुक्ताः अकथयन् । यतो धर्मवार्तैव सभायाम्, नत्वन्यवार्तेति ज्ञापितम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—सभा में धर्म का निर्णय करने के लिए उनको सभासद बनाकर अधिकार दिया था, क्योंकि ब्रह्मवादी होने से सर्वज्ञ थे । दूसरे तो धर्म को नही जानते, कितने ही अन्य बैठे थे वे तो साधारण थे, न कि वसिष्ठ आदि धर्म तो परम्परागत ही पालन करना चाहिए, इसलिए भगवान् उसी प्रकार करते हैं, यों जताने के लिए ब्राह्मण वैसे निरूपण करते हैं जिसको कहते हैं, जिनकी लोक में निन्दा नहीं हुई है, जिनके पवित्र यश का ही गान हो रहा है ऐसे इक्ष्वाकु प्रभृति राजाओं की धर्म में जिस प्रकार प्रवृत्ति थी वह प्रकार, तथा वैसे ब्राह्मणादिकों की धर्मोपयुक्त कथाएँ कहने लगे, धर्म सभा मे तो धर्म की वार्ताओं के सिवाय अन्य वार्ताएँ नही होती है यह बताया ॥२१॥

आभास—यदर्थमेषा धर्मकथा निरूपिता, तं सात्त्विकानां निरोधं निरूपयितुं प्रस्तावनामाह तत्रैकः पुरुष इति त्रिभिः ।

आभासार्थ—जिस निरोध के लिए यह धर्म कथा निरूपण की सात्विकों के उस निरोध का निरूपण करने के लिए 'तत्रैकः' श्लोक से तीन श्लोको में उसकी प्रस्तावना कहते है—

श्लोक—तत्रैकः पुरुषो राजन्नागतोऽपूर्वदर्शनः ।
विज्ञापितो भगवते प्रतीहारैः प्रवेशितः ॥२२॥
स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृताञ्जलिः ।
राज्ञामावेदयद्दुःखं जरासन्धनिरोधजम् ॥२३॥
ये च दिग्विजये तस्य संनतिं न ययुर्नृपाः ।
प्रसह्य रुद्धास्तेनासन्नयुते द्वे गिरिव्रजे ॥२४॥

श्लोकार्थ--हे राजन् ! वहाँ एक जिसका आगे दर्शन नहीं हुआ है, वैसा अनजान पुरुष आया, जिसने अन्दर आने के लिए भगवान् को विनती की, भगवदाज्ञा से द्वारपाल भीतर ले गए ।।२२।।

परब्रह्म श्रीकृष्ण को हाथ जोड़कर उसने प्रणाम किया, अनन्तर जरासन्ध ने जिन राजाओं को कैद कर रखा था, उनके दुःख का वर्णन कर सुनाया ।।२३।।

जरासन्ध के दिग्विजय में जो राजा शरणागत नहीं हुए, उन बीस सहस्र (२०,०००) राजाओं को गिरिव्रज दुर्ग में बलात्कार से कैद कर रखा है ।।२४।।

सुबोधिनी—धर्मेणालौकिकप्रकारेण निरुद्धाः, बहिः जरासन्धद्वारा च उपायान्तराभिवृत्ताः भगवन्तमेव विज्ञापयामासुः । तथापि भगवान् लोकन्यायेन लीलां करोतीति निश्चित्य दूतं प्रेषितवन्तः । तस्यागमनं निरूप्यते । एकः असहायः । पुरुषः समर्थः । सम्बोधनं ज्ञापनाय । अपूर्वं दर्शनं यस्येति अदृष्टपूर्वः । भिन्नप्रक्रमार्थं निरूपितः । स पूर्वं दौवारिकैर्विशेषेण ज्ञापितः । राजधर्मा एते । ततो भगवताऽभ्यनुज्ञातः प्रतीहारैः प्रवेशितः बहुभिरेकः । नीतिरेषा । तस्य कृत्यमाह स नमस्कृत्य इति । कृष्णाय, न तु राज्ञे, अलौकिकत्वात् । तत्र हेतुः परेशाय । कालादृष्टादीनामपि नियामकाय । न हि राजा कालादयो निवारयितुं शक्याः । कृताञ्जलिरिति । दूतस्यापि सात्त्विकत्वं निरूपितम् । राजत्वाद्दुःखानुभवः । अत एव जरासन्धनिरोधादेव उत्पन्नं दुःखं भगवते आवेदयत् । भगवद्भक्तानां दुःखमनुचितमित्याशङ्क्य भक्तिविरुद्धधर्मसम्भवात् तेषां दुःखमिति वक्तुमभिमानमाह ये च दिग्विजय इति । नृपत्वात्सम्यङ्नतिं नम्रतां न ययुः । न तु भगवदीया इति । भगवद्विमुखो जरासन्ध इति । अतोऽन्तर्यामिप्रेरणया प्रसह्य तेनैव रुद्धाः द्वे अयुते गिरिव्रजे आसन् । अहन्ताया ममतायाश्च चतुर्दश चतुर्दश स्थानानीति सहस्रशः शतशश्च तेषां वृत्तय इति विंशतिसहस्राण्यष्टशतानि च सङ्ख्या भवति । अष्टशतान्युपसंहारे निरूपितानि । गिरीणां व्रजो यत्रेति कूटवत् पर्वताः परितो दुर्गत्वाय निरूपिताः ।२४।

व्याख्यार्थ—यद्यपि भगवान् ने धर्म से अर्थात् अलौकिक प्रकार से उन राजाओं का निरोध कर लिया था, तो भी भगवान् जो लीला करते हैं वह लोक न्याय से ही करके दिखाते हैं, अतः बाहर दिखाने के लिए जरासन्ध से छुड़वाने के वास्ते राजाओं से दूत भिजवाकर अपने को प्रार्थना करवाई, उस (दूत) के आगमन का निरूपण करते हैं कि वह अकेला था उसका कोई सहायक नहीं था, 'पुरुषः' शब्द देकर यह जताया है कि असहाय था तो भी समर्थ था, राजन् ! सम्बोधन जताने के लिए है । वह दूत अनदेखा हुआ था, आगे कभी नहीं आया था । यों भिन्न प्रक्रम के लिये कहा है, उसने आकर प्रथम द्वारपालों को विनय की, कि प्रभु से भीतर आने की आज्ञा लेने की कृपा करो, ये राजधर्म है, अर्थात् राजा के पास इस प्रकार जाना होता है । पश्चात् भगवान् ने आज्ञा दी, तब आज्ञा पाकर दरवान उसको भीतर ले गये, यह नीति है, उस (दूत) का कार्य कहते हैं, भीतर आकर श्रीकृष्ण को नमस्कार की न कि राजा को, अलौकिक होने से अर्थात् वह दूत लोकिक नहीं था, श्रीकृष्ण को नमस्कार करने का कारण यह था कि श्रीकृष्ण, जो कालादि पर हैं उनका भी स्वामी अर्थात् नियामक हैं, राजा आदि काल को हटाने में समर्थ नहीं होते हैं ।

नमस्कार तो दूत ने की अनन्तर प्रार्थना के लिये हस्त जोड़कर खड़ा हुआ, जिससे दूत सात्विक है यह निरूपण किया, राजापन से दुःख का अनुभव था, इस कारण से ही जरासन्ध द्वारा कैद होने से ही उत्पन्न हुआ दुःख भगवान् को कहने लगा, भगवद्भक्तों को दुःख होना उचित नहीं है इस शङ्का का समाधान करते हैं कि भक्ति के विरूद्ध यह धर्म इसलिए दुःख है यों कहने के लिए अभिमान प्रकट करता है कि 'ये च दिग्विजये' जरासन्ध ने जब दिग्विजय की उस समय दूसरे राजा गए किन्तु जो भगवदीय थे वे इसके शरण न गये क्योंकि वे तो भगवान् के शरण जाते हैं न कि राजा के, यह राजा था इसलिए इसकी शरण न ली, यह जरासन्ध राजा भगवद्विमुख है, अतः अन्तर्यामी की प्रेरणा से उसने ही बीस सहस्र (२०,०००) राजाओं को कैद कर बलात्कार (जबर्दस्ती) से गिरीव्रज दुर्ग में बन्द कर रखा है, अहन्ता और ममता के चौदह चौदह स्थान हैं, उनकी हजार और सौ वृत्तियां हैं, यों गिनती से बीस हजार आठ सौ की संख्या होती है, आठ सौ का निरूपण उपसंहार में है शेष बीस हजार (२०,०००) अत्र कहा है, जहां कूटवद् चारो तरफ पर्वत ही पर्वत है, इसलिये उसको गिरिव्रज कहा है उसमें बीस हजार कैद कर रखे हैं ॥२४॥

आभास—दूतस्तेषां वचनान्याह कृष्ण कृष्णेति षड्भिः ।

आभासार्थ— दूत उनके[1] वचन (कृष्ण कृष्ण) श्लोक से ६ श्लोकों में कहता है ।

श्लोक—कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन्प्रपन्नभयभञ्जन ।
वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथग्धियः ॥२५॥

श्लोकार्थ--हे कृष्ण ! हे अप्रमेयात्मा ! हे भय को नाश करने वाले ! हम संसार से भय पाकर, भेद बुद्धि वाले हो गए हैं, वैसे हम सब आपकी शरण में आए हैं ॥२५॥

सुबोधिनी—ऐश्वर्यादयो धर्मा भगवदीयाः क्रमेण निरूप्यन्ते । भगवानेव हि जीवानां स्वगुणैर्मोचक इति । तत्रैश्वर्यं निरूपयन्ति । आदरे वीप्सा स्नेहादरयोर्नैश्वर्य बाधकम् । अदृष्टकालादीनां बाधकत्वात् साधारणाधिकारित्वाच्च। कथं भवतां दुःखनिवृत्तिरिति चेत् । तत्राह अप्रमेयात्मन्निति । प्रमातुं योग्ये हि कालादिविचारः, नत्वयोग्ये । तथाप्युदासीनो भवेदित्याशङ्क्याहुः प्रपन्नभयभञ्जनेति । 'सङ्ग्रामे विप्रपन्नाना'मित्यादिवाक्यात् प्रपन्नभयनिवारकत्वं तत्रावश्यकम् । अतो वयं प्रपन्ना भवाम इत्याहुः वयं त्वां शरणं याम इति । जरासन्धाद्विमोकपक्षं वारयन्ति भवभीता इति । नह्येकस्माद्भयात्कश्चिन्निवृत्तिं वाञ्छति, सर्वभयनिवृत्तिसम्भवे । बहिर्मुखानां संसारे सर्वतोभयम्, तदाहुः पृथग्धिय इति । अनेन ज्ञानादिपक्षा निवारिताः ॥२५॥

व्याख्यार्थ— भगवदीय ऐश्वर्यादि धर्म क्रम से निरूपण किए जाते हैं, भगवान् ही जीवों

१- कैद में पड़े हुए राजाओं के ।

को अपने गुणों द्वारा संसार भय से छुड़ाने वाले हैं, उनमें से ऐश्वर्य गुण का निरूपण करते हैं। स्नेह और आदर में ऐश्वर्य बाधक नहीं है, अदृष्ट तथा काल आदि ही बाधक होते हैं, क्योंकि साधारण अधिकारी हैं। यदि आप कहो, कि तुम्हारे दुःखों की निवृत्ति कैसे होगी ? जिसके उत्तर में कहता है, कि आप अप्रेमयात्मा हैं अतः कैसे दुःखों की निवृत्ति होगी ? इसका विचार आपके आगे ठहर नहीं सकता है। जो प्रमा करने योग्य है उसके आगे काल आदि का विचार हो सकता है, यों है, किन्तु यदि हम उदासीन होवें तो ? जिसका समाधान करता है कि आप उदासीन नहीं हैं, क्योंकि शरणागतों के दुःखों को नाश करने वाले हैं, 'संग्रामे विप्रपन्नानां' इस वाक्य के प्रमाणानुसार शरण आए हुओं के भय का निवारण करना आपके लिए आवश्यक है, अतः हम शरण हुए हैं, केवल जरासन्ध से ही हम छुटकारा चाहते हैं यों नहीं है, किन्तु संसार से भी अब डर गए है, जब आप से सर्व भयों का नाश हो सकता है तो कोई भी एक भय से निवृत्ति कैसे चाहेगा ? बहिर्मुखों को संसार में चारों तरफ से भय रहता है जिसके लिए कहा है कि हम 'पृथग्धियः' भेद बुद्धि वाले हैं, इससे ज्ञानादि पक्षों का निवारण किया ॥२५॥

आभास—ननु सर्वे येन प्रकारेण संसारनिवृत्तिं वाञ्छन्ति, तेनैव प्रकारेण संसारो निवर्तनीयः, किं मच्छरणागमनेनेत्याशङ्कायामाहुः **लोको विकर्मनिरत** इति।

आभासार्थ— सब जिस प्रकार से संसार से निवृत्ति चाहते हैं, उसी प्रकार तुमको भी संसार निवृत्त करना चाहिए मेरी शरण आने से क्या लाभ है ? इसका उत्तर 'लोको विकर्म निरतः' श्लोक में देता है।

श्लोक—लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः
कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां
सद्यश्छिनत्त्यनिमिषायनमोऽस्तु तस्मै ॥२६॥

श्लोकार्थ—यह लोक, जो कर्म करने के योग्य नहीं हैं, उन कर्मो में लग्न है और जो सत्कर्म करने योग्य हैं, उनमें उदासीन है, वह सत्कर्म जिनको आपने कहा है, वे उन भगवत्सेवा आदि में आलस्य कर रहे हैं, तो भी उसको जीने की बलवती आशा है, उसको बलवान् काल तोड़ देता है, वह काल भी आपका ही स्वरूप है, उसको नमस्कार है ॥२६॥

सुबोधिनी—कालरूपश्च त्वमेव। अतस्त्वच्छरणागमनेनैव भयनिवृत्तिः, नान्यथा। यतस्तवाज्ञोल्लङ्घने त्वमेव भक्षयसि। आज्ञोल्लङ्घनं प्रपञ्चयन्ति विकर्मणि निषिद्धे विहितोल्लङ्घने वा निरतः तदेवादरेण करोति। लोकस्य तत्रैव महती श्रद्धा। कुशले विहिते प्रमत्तः असावधानः। तत्पुनरीश्वरवाक्योल्लङ्घनरूपमिति वक्तुमाहुः त्वदुदित इति। वीर्यवता वेदादिकर्त्रा त्वयैव

तन्निरूपितम् । तत्रापि भवदर्चने भवत्पूजारूपे तन्त्रोक्ते साक्षाद्भगवतैवावतीर्णेन निरूपिते । तत्रापि स्वे श्रवणादिरूपे । त्रिविधं कर्म भगवता निरूपितम्, वैदिकं पाञ्चरात्रं भागवतं च । उत्तरोत्तरं प्राणिनामश्रद्धातिशयः । अतः प्रमत्तः । भगवानपि प्रमत्त इव न तूष्णीं तिष्ठति, यतो जगत्कर्ता, तदाहुः यस्तावदिति । सह्यधिकृतः, अन्यथा प्रलयो न सम्भवेत्, जीवधर्मापेक्षया ब्रह्मधर्मा विशिष्टा इति । तावदिति यावत् प्रमत्त एव तिष्ठति । आज्ञोल्लङ्घनसमनन्तरमेव अधः तत्तरणं प्रमाणं वा स्वानुभवरूपं निरूप्यते । एतत्करणे यो गुणः प्रधानभूतः तं निर्दिशति बलवानिति । साक्षान्मारणे न जानीयात् । न हि मरणे जन्मान्तरे वा मरणक्लेशस्मृतिरस्ति । अतो जीविताशामेव रोगादिना निराकरोति, येन सर्वेषामेव मरणप्रतीतिर्भवेत् । सर्वथा आज्ञोल्लङ्घने महान्तं व्याध्यादिकमुत्पादयतीत्यर्थः । जीववद्भगवानपि कदाचिदसावधानो भवेदित्याशङ्कायामाहुः अनिमिषायेति । अतिसावधानाय । अतस्तस्मै नमः पूर्वापराधक्षमापनार्थम् । शरणागतिस्तु मोक्षार्था । अपराधे विद्यमाने साधनैरपि मोक्षो दुर्लभ इति ॥२६॥

व्याख्यार्थ— काल रूप आप ही हैं अतः आपकी शरण लेने से ही भय की निवृत्ति होती है, अन्य प्रकार से नहीं, क्योंकि आपकी आज्ञा के उल्लङ्घन करने पर आप ही भक्षण करते हैं, आज्ञा के उल्लङ्घन करने का वर्णन करते हैं, जैसा कि जिन कर्म करने का शास्त्र में निषेध है उनको आदर से करते हैं, और जिन शुभ कर्मों के करने की आज्ञा है उनका उल्लङ्घन कर रहे हैं, लोक की निषिद्ध कर्म में ही विशेष श्रद्धा होती है, इसलिए शास्त्र में कहे हुए कर्मों में असावधान रहते हैं, शास्त्र में जो कर्म हैं वे आपके ही कहे हुए हैं अतः ईश्वराज्ञा का उल्लङ्घन रूप दोष भी करते हैं क्योंकि वेदादि शास्त्र कहने वाले आप ही है अतः सर्वत्र तन्त्र आदि में आपकी सेवा पूजा आदि भी साक्षात् भगवद्रूप से अवतीर्ण होकर ही कही है, वहां भी श्रवणादि रूप भी कहे है, यों भगवान् ने तीन प्रकार के कर्म कहे हैं, १– वैदिक, २– पाञ्चरात्र और ३– भागवत, वैदिक से पाञ्चरात्र धर्म में उससे भी भागवत धर्म में कम श्रद्धा है, अतः लोक प्रमत्त हैं, भगवान् प्रमत्त की तरह मौन कर नहीं रहते हैं, क्योंकि वेदादि[1] के आप ही बनाने वाले है, आपके ही अधिकार में सब है, काल को भी मारने का अधिकार आपने दिया है, क्योंकि आप का ही रूप है अर्थात् आप ही है यदि यों न होता तो प्रलय न हो सकता, जीवों के धर्मों से ब्रह्म के धर्म महान् हैं, जब तक लोक संसार में प्रमत्त हो रहता है तब तक जीविताशा बनी रहती है इतने में ही, काल उस आशा को तोड़ देता है, आज्ञोल्लङ्घन के बाद ही नीचे गिरते हैं, उससे ऊपर आना, उसमें अपना अनुभव रूप प्रमाण कहते हैं इसको करने में जो गुण मुख्य है उसको दिखाते हैं कि, वह बलवान है, वह साक्षात् मारना नहीं जानता है, मरने में वा जन्मान्तर में मरने के क्लेश की स्मृति नहीं रहती है, अतः रोग आदि से जीविनाशा का निराकरण करता है, जिससे सबको मरने की प्रतीति हो जावे, आज्ञा का उल्लङ्घन करने पर सर्व प्रकार से महान् रोगों को उत्पन्न करता है, जीव के समान कभी भगवान् भी असावधान हो जावे तो, जिसके उत्तर में कहा है कि, आप बहुत सावधान हैं, अतः आप, काल रूप भगवान् को पूर्व अपराधों के क्षमा करने के लिए हम नमन करते हैं, शरणागति तो मोक्ष के लिए ली है, अपराधों के होते हुए साधनों से भी मोक्ष दुर्लभ है ॥२६॥

१—जगत् के कर्ता होने से वेद के भी आप ही कर्ता है ।

आभास—एवमैश्वर्यवीर्ये निरूप्य यशो निरूपयिष्यन्तश्चोद्धरणाभावे तत्र न्यूनतां भावयमानाः सिद्धान्तापरिज्ञानात्पृच्छन्त इवाहुः **लोके भवानिति** ।

आभासार्थ— इस प्रकार ऐश्वर्य और वीर्य का निरूपण कर यश का निरूपण करते हुए उद्धरण के अभाव में वहां न्यूनता समझ, सिद्धान्त के अज्ञान से मानो पूछ रहे हैं यों 'लोके भवान्' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—लोके भवाञ्जगदिनः कलयावतीर्णः
सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः ।
कश्चित्त्वदीयमतियाति निदेशमीश किं
वा जनः स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः ॥२७॥

श्लोकार्थ—यद्यपि आप लोक में सत्पुरुषों की रक्षा के लिए एवं खलों को दण्ड देने के लिए कला के साथ प्रकट हुए हैं, तो भी हम जैसे आपके सेवक दुःख भोग रहे है, तो जो आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन करते हैं, वे अपने कर्मानुसार दुःख भोगे तो इसमें क्या कहें ? आपने कैसा निर्णय किया है, वह हम नहीं जानते हैं, हम शरण आए है, अतः रक्षा करो ॥२७॥

सुबोधिनी—जगदिनः जगत्स्वामी भवान् लोके कलया सहावतीर्णः ससहायः । तत्र प्रयोजनद्वयम्, सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चेति । ईश्वरः साधारण्येन पालनार्थमेव तथा करोति, सुतरां विशेषप्रयत्नवान् । चकाराद्भक्तरक्षार्थम् । एवं त्रिविधकार्यसन्दर्भेऽप्यस्मासु । कस्माद्धेतोरन्यस्तुच्छः अनीश्वरः कारणकार्यप्रेरकस्य तव निदेशमाज्ञामतियाति स्वगर्वादिति चेत्, तत्राहुः ईश ... सर्ववाचनमुल्लङ्घ्य वाक्यस्वबोधनाय । 'मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम् । सङ्ग्रामे च प्रपन्नानां तवास्मीति च यो वदेत् । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' । साधारणमिति मन्यमाना वयं दुःखं चानुभूय तदत्र निर्णीतं न विद्मः । दुःखानुभवो न निर्णायकः, शास्त्रमात्रोच्छेदप्रसङ्गात् । अतः स्ववाक्यपरिपालनार्थं मोचयेति तात्पर्यम् ॥२७॥

व्याख्यार्थ— जगत् के स्वामी आप लोक में कला के साथ प्रकट हुए हैं, कला लाई है इसलिए आपका सहायक भी है, यों करने में दो प्रयोजन हैं, एक सत्पुरुषों का रक्षण और दूसरा खलों का निग्रह करना, ईश्वर साधारणतया पालने के लिए ही सुतरां विशेष प्रयत्न वाले हो यों करते हैं, 'च' पद से जताया है । भक्तों की रक्षा के लिए भी, इस प्रकार आपके तीन प्रकार के कार्य होने पर भी, हम पर, किस कारण से क्यों ? दूसरा जो ईश्वर नही है, तुच्छ है, वह कारण और कार्य के प्रेरक आपकी आज्ञा का अपने गर्व से उल्लङ्घन कर दुःख की वर्षा कर रहा है, 'हे ईश' ! आप ईश हैं फिर यह आप की आज्ञा का उल्लङ्घन कैसे करता है ? आपके ये वाक्य हैं कि ' मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम् । संग्रामे च प्रपन्नानां तवास्मीति च यो वदेत् ।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' जो कोई मनुष्य मेरी शरण आता है वह फिर शोक करने के योग्य नहीं हो सकता हैं, अर्थात् उसको किसी प्रकार दुःख नहीं होता है, और जो संग्राम के समय शरण आकर कहते हैं कि 'तवास्मि' "आपके हैं," केवल इतना जो कहता है वह भी निर्भय हो जाता है, सर्व प्राणी मात्र को मैं अभयदान देता हूँ यह तो मेरा व्रत है।

साधारण तो अपने प्रारब्ध के भोग का अनुभव करता है, यह 'किंवा जन' पद से कहते हैं— इस प्रकार भगवद्वाक्य साधारण है यों मानते हुए हम दुःख का अनुभव करें, यहां यों निर्णय किया है क्या ? वह हम नहीं जान सकते हैं, दुःख का अनुभव तो निर्णय कराने वाला नही है, यों हो तो शास्त्र मात्र के उच्छेद का प्रसंग आ जाएगा, यों कहने का तात्पर्य यह है कि अपने वाक्यों का पालन करने के लिए हमको छुड़ाओ ॥२७॥

आभास—ननु प्रत्यक्षविरोधिनं संदिग्धमिमं मार्गं विहाय ज्ञानमार्ग एव सर्वत्यागात्मको निरभिमानात्मको वा कुतो नाश्रीयत इत्याशङ्कां परिहरन्तो भगवच्छ्रियं निरूपयन्ति **स्वप्नायितमिति** ।

आभासार्थ— प्रत्यक्ष के विरोधी इस सन्देह वाले मार्ग का त्याग कर सर्व त्याग रूप, अभिमान रहित ज्ञान मार्ग का आश्रय क्यों न लेते हो ? इस शंका को मिटाते हुए, भगवान् के 'श्री' का 'स्वप्नायितं' श्लोक से वर्णन करते हैं।

श्लोक—स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश
शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः ।
हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनी-
हलभ्यं क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह ॥२८॥

श्लोकार्थ—हे ईश ! यह राज्य सुख स्वप्न समान तथा परतन्त्र है, हम निरन्तर भय से मृतक के समान हो इस भार को वहन कर रहे हैं, बिना किसी भी चेष्टा के प्राप्त होने वाले आत्म सुख को त्याग आपकी माया से मोहित होने से दीन बन दुःख भोग रहे हैं ॥२८॥

सुबोधिनी—वस्तुतो ज्ञानमार्गयोग्यो विषयोऽस्ति, तथाप्यपरित्यागे हेतुः तव माया श्रीरूपा । अतो वाक्यं वा पालय, मायां वा व्यावर्तयेति । स्वप्नो मायामात्रमिति स्थितम् । नृपाणां सुखं लोके प्रसिद्धम्, तन्मायिकमेव, व्यवहारे कापट्याधिक्यात्, माया हि कुहकाधीना, अन्तर्यामिप्रतिनिधित्वेन लोकं निरूपयन् भगवान् प्रतिकूल इति ज्ञापयितुं सुखं विशिनष्टि **परतन्त्रमिति** । अन्तर्यामिणः सख्युः अनुचितमेतदित्याशङ्क्य सम्बोधयति **ईशेति** । माया स्वकार्यभोग्या, नत्वात्मभोग्येति ज्ञापयितुं साधनमाह **मृतकेनेति** । चेतनसंबन्धाभावाय तथा वचनम् । मायाकार्यं साधने

स्पष्टमित्याह शश्वद्भयेनेति । तेन भारवहनमत्यन्तं मायामोहितकार्यम् । लोका मृतकमेव कथञ्चिद्वहन्ति, त्यजन्ति वा, न तु मृतकेन किञ्चिद्वहन्ति, वयं तु तेन धुरं वहाम इति स्पष्टोऽस्मामु मोह । ननु सुखासक्त्या असाधनेऽपि प्रवर्तते, प्रकारान्तरेण सुखमलभमान इति चेत्, तत्राह हित्वा तदात्मनीति । सुखस्य परमोत्कर्षमाह तदिति । आत्मनीति गमनक्लेशाभावः । क्रियाप्रयास व्यावर्तयति अनीहलभ्यमिति । तुशब्देन न्यायसिद्धान्तवन्निरानन्दात्मपक्षो व्यावर्त्यते । सुखप्राप्तिर्ज्ञानादनीहया च । निरोधादनीहा सम्भवतीति 'सर्वेहोपरतिस्तनु'रिति वाक्यात् सुखप्राप्ति । तथाप्यन्याभिनिवेशाद्धीनम् । 'भोक्ता तारतम्यं जानाती'ति न्यायात् विषयसुखमेव सर्वोत्कृष्टं भविष्यति, अन्यथा चित्तं कथं प्रवर्ततेत्याशङ्क्याह क्लिश्यामह इति । त्वदनीहलभ्यमिति पाठे त्वत्स्मरणेन तत्सुखस्य सुलभता निरूपिता । क्लेशस्यानुभवसिद्धत्वाद्विपरीतहेतुत्वेन अलौकिकत्वेनानान्तरीयत्वाच्च क्लेशपर्यवसानाननुभवेऽपि अनिवृत्तत्वादतिकृपणाः । अनालोचनेन याचनार्थिना अतिदीनाः। तत्र हेतुस्तवैव माया, अतो विज्ञापना । अन्यथेह विषयेच्छा न स्यात्, वैराग्यहेतूनामानन्त्यात् ।।२८।।

व्याख्यार्थ— वास्तविक रीति से यह विषय ज्ञान मार्गीय त्याग के योग्य है, तो भी उस प्रकार के त्याग न हो सकने के कारण आपकी 'श्री' रूपा माया है, अतः आप आपके वचनों का पालन करो अथवा माया को मिटाओ, माया मात्र स्वप्न है. लोक में राजाओं का सुख प्रसिद्ध है वह मायिक ही है, उसके व्यवहार में कापट्य विशेष है क्योंकि माया कपट के आधीन है, लोक के अन्तर्यामी के प्रतिनिधित्व से निरूपण करते हुए कहते है कि भगवान् ही प्रतिकूल हैं, जिससे यह प्राप्त राजसुख परतन्त्र है, यहां भगवान् क्यों प्रतिकूल हैं इसको समझाया है कि भगवान् अन्तर्यामी रूप से जैसी प्रेरणा करते है मनुष्य त्यों करता है अतः अन्तर्यामी सखा है । यों कहना अनुचित है इस प्रकार शंका कर सम्बोधन देते हैं कि हे ईश ! आप सबके ईश हैं, अर्थात् ईश होने से सबके सखा हैं, जो कुछ कराते हो वह हित के लिये ही है, माया, अपने कार्य से भोग्य है नहीं कि आत्मा से भोग्य हैं, यह जताने के लिए साधन कहते है 'मृतकेन' चेतन के सम्बन्ध न होने के लिए यह वचन कहा है, माया का कार्य साधन से स्पष्ट है, यों कहते हैं 'शश्वद्भयेन' निरन्तर भय से, इस कारण से भार का वहन करना अत्यन्त माया से मोहित होने का कार्य है, लोक मरे हुए को ही उठा के ले जाते है अथवा वहां ही छोड़ देते हैं, मरा हुआ, किसी को नहीं ले जा सकता है, हम तो उससे अच्छी तरह भार को वहन कहते हैं सुख में आसक्ति होने से मनुष्य जो असाधन है उसमें भी प्रवृत्त होता हैं, यदि अन्य प्रकार से सुख को प्राप्त न हो तो कहते हैं कि 'हित्वाग्रेदात्मनि' तत् पद से सुख का परमोत्कर्ष कहा 'आत्मनि' पद से बताया कि जाने का कोई क्लेश नहीं है, उसकी प्राप्ति में किसी प्रकार की क्रिया करने का भी कष्ट नहीं है क्योंकि 'अनीह लभ्यं' विना चेष्टा के प्राप्त करने योग्य है, 'तु' शब्द से न्याय सिद्धान्त में आत्मा निरानन्द कहा है उस पक्ष का निराकरण किया है, सुख की प्राप्ति ज्ञान से और चेष्टा के बिना होती है, यह निरीहा तब होती है जब निरोध सिद्ध हो जाता है, निरोध सिद्ध होने से 'सर्व प्रकार की इच्छा शान्त हो जाती है' इस वाक्यानुसार तब सुख की प्राप्ति हुई समझी जाती है, तो भी अन्य के अभिनिवेश से वह हीन है, 'भोक्ता तारतम्य को जानता है' इस न्याय से विषय सुख ही सर्वोत्कृष्ट बन जायगा, यों नहीं होवे तो चित्त की उसमें कैसे प्रवृत्ति होगी ? यों शंका कर कहते हैं कि 'क्लिश्यामहे' उससे तो हम दुःखी हो रहे है, 'त्वदनीहलभ्यम्' इस पाठ मे आपके स्मरण से उस सुख प्राप्ति को सुलभता

दिखाई है अनुभव से सिद्ध है कि क्लेश पा रहे हैं, क्योंकि विषय सुख के भोगने से, अन्त में क्लेश ही होता है, अलौकिक सुख प्राप्ति में अनेक अन्तरीय होते हैं, अन्त में क्लेश का अनुभव करते हुए भी उसको त्यागते नहीं है जिसका कारण कि हम अति कृपण हैं। आलोचना न करने से, याचना आदि से, अति दीन हैं, इसमें कारण आपकी ही माया है इसलिए प्रार्थना करते हैं। यदि आपकी माया न होवे, तो इस जगत् में विषयों की इच्छा ही न होवे, वैराग्य के अनन्त कारण हैं ॥२८॥

आभास—एवं श्रियं निरूप्य भगवतो ज्ञानशक्तिं निरूपयन्तः तत्फलं मोक्षं प्रार्थयन्ते **तन्नो भवानिति**।

आभासार्थ— इस प्रकार श्री का निरूपण कर भगवान् की ज्ञान शक्ति का निरूपण करते हुए उसके फल मोक्ष की 'तन्नो भवान्' श्लोक से प्रार्थना करते हैं।

श्लोक—तन्नो भवान्प्रणतशोकहराङ्घ्रियुग्मो
बद्धान्वियुङ्क्ष्व मगधाह्वयकर्मपाशात् ।
यो भूभुजोऽयुतमतङ्गजवीर्यमेको
बिभ्रद्रुरोध भवने मृगराडिवावीः ॥२९॥

श्लोकार्थ—जैसे भेड़ी को सिंह रोक रखता है, वैसे दस सहस्र (हजार) हस्तियों के समान वीर्य वाले हमको इस जरासन्ध ने पकड़ रखा है, अतः हे शरणागतों के शोक को नाश करने वाले आपके चरण हैं, अतः आप जरासन्ध के कर्म बन्धन में पड़े हुए हमको छुड़ाओ ॥२९॥

सुबोधिनी—ब्रह्मज्ञानं मोक्षहेतुः, तदक्षरम्, अवतारे तस्य पादत्वम्, भक्तार्थमेव अवतार इति अस्मद्व्यापारव्यतिरेकेणापि स्वत एव तवाङ्घ्रिद्वयं प्रणतशोकहरं भवति। तेन तव या ज्ञानशक्तिः, सा चरणेन संवलिता प्रणतानां शोकं हरति। तत्रापि नो भवान् समानकालावतारान् अतो बद्धान् वियुङ्क्ष्व। नन्वेतादृशलौकिकबन्धनान्मोक्ष इति न ज्ञानसाध्यम्, तत्कथमसाधनेन साध्यप्रार्थनेति चेत्। तत्राहुः। **मगधो** मागधो जरासन्धः कर्मपाशस्यैव नामान्तरं तत्। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणी'ति वाक्यात्। देशाभ्मार्थिस्थत्वा अधिककर्मणोत्पत्तिसम्भवात् न भोगेन क्षयसिद्धिः। ननु मागधस्य कर्मत्वे किं प्रमाणम्, तत्राहुः **यो भूभुज** इति। न हि कर्माधीनः कश्चिदयुतमतङ्गजवीर्यो भवति। अतो भूभुजामस्माकं भोगहेतुभूतमाधिभौतिकं कर्म निवार्य स्वयमाधिदैविकः। केवलं ज्ञानैकनिवर्त्यो भवति। तर्हि तस्मै राज्यं दत्वा तत्सेवका एव कुतो न भवन्ति, तत्राहुः **मृगराडिवावीरिति**। स हि भक्षणार्थमेव मेषीः स्थापयति। तथायमपि प्रमथनाथमखाय वधार्थमेव स्थापितवानित्यर्थः। अतस्तामसदेवतायै समर्पितानां तत्रैव प्रवेशात् कालान्तरेऽपि मोक्षो नास्तीति मरणात्पूर्वमेव वयं मोचनीया इति भावः। तद्भवने निरोधात् न पलायनसम्भावना। ॥२९॥

व्याख्यार्थ— ब्रह्म ज्ञान, मोक्ष होने का कारण है, वह ब्रह्म अक्षर है, अवतार समय में उस अक्षर का पादत्व है, क्योंकि भक्तोद्धार के लिए ही अवतार है, इसलिए हम लोगों के विना व्यापार के भी स्वतः ही आपके चरण युगल, शरणागतों के शोक का हरण करने वाले हैं, इससे आपकी जो ज्ञान शक्ति है, वह धर्म रूप ज्ञानात्मक चरणों से मिलकर शरणागतों के शोक को हरती है, उसमें भी समान काल में जन्मे हुए हम जो वन्धन में पड़े है उनको छुड़ाओ। इस प्रकार का लौकिक वन्धन, ज्ञान से नही छुडाया जाता है, इसलिए असाधन से साध्य की प्रार्थना कैसे करते है ? इसके उत्तर में कहते है कि मागध (जरासन्ध) कर्मपाश का ही दूसरा नाम है, 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इस वाक्य से, देश नाम से स्थिति होने से अधिक कर्मों की उत्पत्ति का सम्भव है, जिससे उनका भोग से क्षय होने का नहीं, मागध कर्म है, इसमें क्या प्रमाण है ? इसके उत्तर में 'यो भूभुजोऽयुत' कहा है, दश सहस्र हस्तिओं में जितना पराक्रम होता है उतना इस एक मे है, इतना वीर्य किसी एक कर्माधीन में नही होता है, इसलिए वह कर्म रूप है, अतः हम राजाओं का भोग का हेतु आधिभौतिक कर्म निवारण कर स्वयं आधिदैविक वन वैठा है, अतः केवल एक ज्ञान से निवृत्त के योग्य है, यदि यों है तो उसको राज्य देकर उसके सेवक ही क्यों नही वन जाते हो, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'मृगराडिवावीः' जैसे सिंह भेड़ को खाने के लिए ही पकड़ लेता है वैसे ही इसने भी हमको प्रमथ नाथ के यज्ञ में वलि देने के लिए वन्धन में रखा है, अतः तामस देवता को जो समर्पित हो, उनका वहां ही प्रवेश होने से कालान्तर मे भी मोक्ष नहीं होता है, इसलिए मरण से पहले ही हम छुड़ाने के योग्य है, कहने का यह ही भाव है, यदि कहो कि भाग जाओ तो वह भी सम्भव नहीं हैं क्योंकि उसके घर मे हम कैद है ॥२६॥

आभास—भगवतो भोगासक्ति निवारयन्त इव, रक्षासक्ति प्रकटयन्तः भगवदीयत्वं स्वस्य वदन्त. भगवतो वैराग्यशक्तिमुररीकुर्वन्तः वैषम्यनैर्घृण्यपरिहारार्थं पूर्व भगवद्वृत्तान्तमाहुः **यो वै त्वयेति** ।

आभासार्थ— भगवान् की भोगासक्ति का मानो निवारण करते हुए, रक्षा शक्ति को प्रकट करते हुए, अपना भगवदीय कहते हुए, भगवान् की वैराग्य शक्ति को स्वीकार करते हुए भगवान् के वैषम्य नैर्घृण्य[1] दोषों के परिहार करने के लिए भगवान् के पूर्व वृत्तान्त को 'यो वै त्वया' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र**
भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्यम् ।
जित्वा नृलोकनिरतं सकृदूढदर्पो
युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद्विधेहि ॥३०॥

१- पूर्व वृत्तान्त कहने से यह दिखाया है कि यह अभिमानी हो गया है, अतः इसके हित के लिए इसको मारना चाहिये, यो कह कर वैषम्य नैर्घृण्य दोष का परिहार किया है ।

श्लोकार्थ—जिसको आपने अठारह वार युद्ध में अपने चक्र से भगाया है, वह आपको केवल एक वार जीतकर अभिमान में आ गया है, जिससे आपकी प्रजा जो हम हैं, उनको दुःख दे रहा है, अतः हे अजित ! हम लोगों की रक्षा कर इसको जीत अपने 'अजित' नाम को सार्थक करो ।।३०।।

सुबोधिनी— वस्तुतस्त्वष्टादशेऽपि कार्यस्यासिद्धत्वाद्भङ्ग एव, अत आह **द्विनवकृत्व** इति प्रजापतिर्वा विद्या वा न तस्य जयहेतुरिति रजस्तमोगुणावेव इतरसंश्लेषादाधिदैविकादिभेदापन्नौ हेतू इति नवसङ्ख्याया: आवृत्तिरुक्ता । भगवन्माहात्म्यात्तद्गताधिदैविकैरेव भङ्गं व्यावर्तयितुमाह उदात्तचक्रेति । चक्रेण कालशक्त्यैव भक्षणार्थं व्यात्तया मृधे स भग्नः । खल्विति । नात्र तिरोहितं किञ्चिदिति सूचितम् । ननु जयापजययोरव्यवस्थितत्वात् कथमेकस्यैव पराजय इति चेत् । तत्राहुः **भवन्तमनन्तवीर्यमिति ।** परिमितबलानामेव जयाजयव्यवस्था । तथापि कपटवेषलीलायाः प्रकटितत्वात्तद्विरोधाभावाय नृलोकनिरतम् । सकृद्घुणाक्षरन्यायेन गूढहेतोर्वा जित्वा ऊढदर्पो जातः । वयं तु केवलं भवत्परिपाल्या एव, मर्यादापरित्यागेन पुष्टिमार्गावलम्बनात् । अतो यस्य भवदपेक्षाभावः तेन सर्वथैव बाध्याः । अतो युष्मत्प्रजाः रुजति पीडयति । तर्हि लोकन्यायस्य स्वीकृतत्वात् कथं मोचनमिति चेत् । तत्राहुः हे **अजितेति** । तव स्वरूपमजितेति । 'द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीयः' इति न्यायेन लीलाप्रदर्शनं दूरीकृत्य अस्मान् पालयन् तत्स्वस्याजितत्वं विधेहि । अनेन सर्वे सन्देहा अनुपपत्तयश्च निवारिताः ।।३०।।

व्याख्यार्थ— वास्तविक रीति से तो अठारहवें में भी कार्य असिद्ध होने से भग ही हुआ, अतः 'द्विनवकृत्व' यों कहा प्रजापति अथवा विद्या उसके जय का कारण नही, इसलिए रजोगुण और तमोगुण परस्पर मिलने से आधिदैवादिकादि भेद को प्राप्त हुए वे ही हेतु है, इसलिए नव सङ्ख्या की आवृत्ति कही है, 'उदातचक्रभग्न' पद से यह सूचित किया है कि आधिदैविकादि भेद को प्राप्त हेतुओं से भंग न हुवा है, किन्तु भगवान् के माहात्म्य से भक्षण के लिए व्याप्त काल शक्ति से ही युद्ध में चक्र द्वारा वह भग्न हुआ निश्चय से इसमें कुछ भी तिरोहित नही है यह सूचित किया है, जय और पराजय निश्चित न होने से कैसे एक को ही पराजय कहते हो ? यदि यों कहो तो कहते हैं कि जय और पराजय की व्यवस्था परिमित बल वालों की ही कही जाती है, आप तो अनन्तवीर्य हैं वहां यह व्यवस्था नहीं है वहां तो जय ही निश्चित है, तो भी कपट वेष की लीला के प्रकट होने से उसका विरोध न होवे इसलिए मनुष्य लोक में आप नितराम् रत हैं, अतः एक बार घुणाक्षर न्याय से अथवा इसमें कोई गूढ़ हेतु छिपा हुआ है जिससे वह जीत कर महान् अभिमानी हो गया है, हम तो केवल आपके परिपाल्य ही हैं, क्योंकि हमने मर्यादा का त्याग कर अनुग्रह मार्ग का आश्रय लिया है अतः जिसको आपकी अपेक्षा नहीं है उससे सर्व प्रकार से ही हम दुःखी हो रहे हैं इसलिए आपकी प्रजा जो हम हैं वे दुःखी हो रहे हैं कारण कि वह हमको पीड़ा कर रहा है, हमने तो अब लोक न्याय का स्वीकार किया है अतः कैसे छुड़ावें ? यदि यों कहते हो तो कहते हैं कि आप 'अजित' हैं आपका स्वरूप किसी से जीता नहीं जाता है, 'द्रव्य और संस्कार का जहां विरोध होता है वहा द्रव्य बलवान् होता है' इस न्याय से लीला का प्रदर्शन दूर कर हमारी पालना करते हुए, वह अपना अजित पन पालन करो, यों कह कर सर्व सन्देह और अनुपपत्तियों का निवारण किया ।।३०।।

आभास—तेषां प्रार्थना आज्ञापनरूपत्वात् दोषाय मा भवत्विति प्रपत्तिरूपतां सम्पादयितुं दूतस्तात्पर्यमाह इतीति ।

आभासार्थ— यद्यपि उनकी प्रार्थना आज्ञा पन रूप जैसी होने से दोष के लिए न हो, इसलिए उस प्रार्थना की शरण रूपता सम्पादन करने के लिए, 'दूत' इति श्लोक से यों कहने का तात्पर्य कहता है ।

श्लोक—दूत उवाच–इति मागधसंरुद्धा भवद्दर्शनकाङ्क्षिणः ।
प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं विधीयताम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—दूत ने कहा कि मागध ने जिनको कैद कर रखा है, वे आपके दर्शन की इच्छा वाले हैं, आपके चरण मूल की शरण ली है, अतः इन शरणागत दीनों का कल्याण करो अर्थात् इस बन्धन रूप दुःख का नाश कर सुख दीजिए ।।३१।।

सुबोधिनी—इति ते पादमूलं प्रपन्नाः, मागधेन च संरुद्धाः, 'दृष्टं स्मृतेर्बलिष्ठ'मिति स्मरणेन कार्यं न सेत्स्यतीति भवद्दर्शनकाङ्क्षिणः । दीनानां प्रार्थितदानेन शं विधीयतामिति । दूतस्य भगवत्साक्षात्कारे जाते तत्फलस्येव प्रार्थना येन प्रार्थनाद्वयं दर्शनफलं चेति भवति साधकत्रयम् ॥३१॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार उन्होंने आपके चरण की शरण ली है, मागध ने तो कैद कर रखे हैं, यदि कहो कि वहाँ ही मेरा स्मरण करते रहते, जिसका उत्तर देते हैं कि 'दृष्टं स्मृतेर्बलिष्ठं' स्मरण से प्रत्यक्ष दर्शन बलवान् है, स्मरण से कार्य सिद्ध नहीं होगा, इसलिए दर्शन की इच्छा वाले हैं, दीनों ने जो प्रार्थना की है, उसका दान कर कल्याण कीजिए, दूत को भगवान् का साक्षात्कार होने पर जो फल प्राप्त हुआ, उस फल की तरह प्रार्थना की है, जिससे दो प्रार्थना और दर्शन फल यों तीन साधक हो गए ।।३१।।

आभास—एवं राजसानां भगवद्धर्मेण भगवत्परतां निरूप्य सात्त्विकानामपि भगवत्परतां निरूपयितुं सात्त्विकमुख्यस्य नारदस्य सात्त्विककार्यपरस्य समागमनं निरूप्यते । अन्यथा भगवत्कार्यं राजसमात्रपर्यवसायि स्यात् । क्षणमात्रविलम्बेऽपि भगवान् भक्तदुःखे विलम्बं न सहत इति राजदूते एवं वदत्येव समागत इत्याह **राजदूत** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार राजसों की भगवद्धर्म से भगवत्परता का निरूपण कर, सात्विकों की भी भगवत्परता निरूपण करने के लिए, सात्विकों के कार्य के परायण नारदजी का आगमन निरूपण किया जाता है, यदि यह निरूपण न किया जाय तो भगवान् का कार्य केवल राजसपर्यवसायी हो जाय, भगवान् क्षण मात्र भी भक्तों के दुःख सहन करने में विलम्ब होना नहीं चाहते हैं, अतः राजदूत के इतना कहते ही भगवान् नारद आ गए, 'राजदूते' श्लोक में शुकदेवजी यों कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—राजदूते ब्रुवत्येवं वेदर्षिः परमद्युतिः ।
बिभ्रत्पिङ्गजटाभारं प्रादुरासीद्यथा रविः ।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी बोले कि राजदूत इस तरह विनती कर रहा था, इतने में पीली जटा धारण किए, परम कान्ति वाले नारदजी वहाँ सूर्य के समान प्रकट हो गए ।।३२।।

सुबोधिनी—देवानामपि मन्त्रद्रष्टृत्वात् तदानीमागमनमुचितम् । अन्येषां बाधकानां तेजोदूरीकरणाय परमद्युतिरिति । अधिकारिणो नात्यन्तं वचनमादरणीयमिति शङ्कां वारयितुमाह बिभ्रत्पिङ्गजटाभारमिति । तपोरूपमेतत् । तत्रत्यानां तमोदोषव्यावृत्त्यर्थं यथा रविरिति । रविपदेनैव भगवत्सान्निध्ये तमःसम्भावना सूचिता । अन्यथा दिनरात्रिव्यवस्था न स्यात् । प्रादुरासीदिति न दूतवत्तस्यागमनम् ।।३२।।

व्याख्यार्थ—देवता मन्त्रद्रष्टा हैं, अतः उस समय इनका आना उचित ही है । अन्य बाधकों का तेज दूर करने के लिए आप पधार रहे हैं, इसलिए कहा है कि परम कान्ति वाले हैं अर्थात् अपनी कान्ति से बाधकों का तेज मिटा देगे, अधिकारी का वचन अत्यन्त आदर देने के योग्य नहीं है, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि उनके सिर पर पीली बड़ी जटाएँ थी, जिससे यह सिद्ध होता है कि यह नारदजी तपो रूप हैं, अतः इनके वचन आदरणीय हैं, वहाँ बैठे हुए लोगों के तमोगुण के दोषों को मिटाने के लिए पधारे हैं, अतः कहा है कि 'यथा रविः' जैसे सूर्य अन्धकार मिटाता है, वैसे रवि पद कहकर यह भी सूचित किया है कि भगवान् के सान्निध्य में अन्धकार भी रहता है, यदि भगवान् के पास अन्धकार न रहे तो दिन और रात्रि की व्यवस्था ही न हो सके । 'प्रादुरासीत्' पद कहकर यह सूचना दी है कि दूत की तरह आपका पधारना न हुआ, किन्तु सूर्य की तरह प्रकट हो गए ।।३२।।

आभास—ततः तस्यागतस्य वाक्यसन्माननार्थं लौकिकसन्माननं निरूप्यते तं दृष्ट्वेति त्रिभिः ।

आभासार्थ—आ जाने के अनन्तर आए हुए उनका वाक्यों से सन्मान करने के लिए लौकिक सन्मान 'तं दृष्ट्वा' से लेकर तीन श्लोकों में निरूपण किया जाता है ।

श्लोक—तं दृष्ट्वा भगवान्कृष्णः सर्वलोकेश्वरेश्वरः ।
ववन्द उत्थितः शीर्ष्णा ससभ्यः सानुगो मुदा ।।३३।।

श्लोकार्थ—सब लोकपालों के ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सब सभासदों और अनुजों के साथ नारदजी को देखते ही उठकर खड़े हो गए और सिर नमाकर प्रणाम किया ।।३३।।

सुबोधिनी—कायिकमानसिकवाचनिकैः। तत्र कायिकमुत्थानं वन्दनं च सर्वैः सहेति त्रयम्। हर्षो मानसः। भगवत्त्वादनुचितत्वेऽपि कृष्णत्वेनावतीर्ण इति तथात्वमुचितम्। शिक्षार्थमेतादीति ज्ञापयितुमाह **सर्वलोकेश्वरेश्वर** इति। ऋषित्वाल्लोकस्थानीयः गुरुत्वादीश्वरो वा। अतोऽवनतिर्न दोषाय। सर्वपदेन देवर्षित्वकृतोऽप्युत्कर्षो निवारितः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—कायिक, मानसिक और वाचनिक; यों तीन प्रकार से सन्मान किया। उनमें से प्रथम कायिक किस प्रकार किया ? वह कहते हैं, सब सभासद एवं अनुजों के साथ उठकर खड़े हुए और नमस्कार किया। हर्ष से किया, यह मानस आदर किया। यद्यपि भगवान् होने से नारदजी के आने पर उठना तथा उनको प्रणाम करना उचित नहीं था, तो भी अब कृष्ण रूप से अवतार लिया है, अतः अवतार दशा में यों करना योग्य है। यों करना अन्यों को शिक्षा देने के लिए है कि गृह में आए हुए का इस प्रकार सन्मान करना चाहिए। देखो ! कि मैं सर्व लोकपालकों का ईश्वर होकर भी गृहागत का किस प्रकार आदर करता हूँ ? नारदजी का इस प्रकार आदर करने से भगवान् की हीनता, दोष के लिए नहीं है; क्योंकि ऋषिपन से लोक स्थानीय है अर्थात् लोक मे मन्त्रद्रष्टा होने से श्रेष्ठ हैं, गुरु होने मे ईश्वर सम है। 'सर्व' पद से देवर्षिपन से जो उत्कर्ष है, उसका भी निवारण किया ॥३३॥

श्लोक—**सभाजयित्वा विधिवत्कृतासनपरिग्रहम्।**
बभाषे सूनृतैर्वाक्यैः श्रद्धया तर्पयन्मुनिम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—नारदजी का विधि अनुसार पूजन कर, उनको आसन दिया, मधुर वचनों से और श्रद्धा से मुनि को प्रसन्न करते हुए भगवान् बोलने लगे ॥३४॥

सुबोधिनी—सभाजनं तन्मनःप्रीतिकरणं लौकिकम्। ऋषित्वाद्वेदाभिनिवेश इति, तदप्याह **विधिवदिति**। ईश्वरधर्मविचारेण कदाचिदनङ्गीकारे कृतं व्यर्थं स्यादित्यत आह **कृतासनपरिग्रहमिति**। दत्तासनस्वीकारः परिग्रहः। ततो वाचनिकारम्भमाह **बभाषे सुनृतैरिति**। स हि श्रद्धया परितुष्यति, तदाह **श्रद्धया तर्पयन्निति**। मानसमेतत्। सोऽपि मुनिस्तेनैव परितुष्यति ॥

व्याख्यार्थ—'सभाजनं' अर्थात् उनके मन को प्रसन्न करना; यह लौकिक है, ऋषिपन से वेद में भी पूर्ण प्रवेश है, अतः उनका पूजनादि से आदरादि विधिवत् किया। ईश्वर धर्म के विचार से यदि कदाचित् वह पूजनादि स्वीकार न करे तो किया हुआ व्यर्थ होगा, इसके उत्तर में कहते हैं कि उन्होंने पूजन स्वीकार किया जैसा कि 'कृतासन परिग्रह' भगवान् के दिए हुए आसन पर बिराजे, पश्चात् वाचनिक सत्कार करने लगे, वह कहते हैं कि 'बभाषे सुनृतैः' मधुर वाक्य कहने लगे, वे भी श्रद्धापूर्वक कहकर उनको प्रसन्न किया; क्योंकि श्रद्धा मानस-पूजन है, वह मुनि भी उससे ही प्रसन्न होता है ॥३४॥

आभास—वाचनिकं द्वयेनाह **अपि स्विदिति**।

आभासार्थ—वाचनिक 'अपि स्वित्' दो श्लोकों से कहते हैं।

श्लोक—**अपि स्विदद्य लोकानां त्रयाणामकुतोभयम्।**
ननु भूयान् भगवतो लोकान् पर्यटतो गुणः ॥३५॥

श्लोकार्थ—भला अभी तीनों लोक निर्भय हैं, आप भगवान् के लोकों में पर्यटन से महान् लाभ है ॥३५॥

सुबोधिनी—सर्वलोकाधिकारिणो लोकत्रयस्य गृहत्वात् तत्कुशलप्रश्न एव कर्तुमुचितः स्तुतिरूपश्च भवति। **अपि स्विदिति** सन्देहगर्भितसम्भावना। राज्ञां बन्धनस्य श्रुतत्वात् सन्देहः। **अकुतोभयमिति**। स्वत एवाज्ञानाद्भयम्, न त्वन्यत इति रहस्यम्। ननु लोकेश्वरस्य कथं पर्यटनमित्याशङ्कयाह **ननु भूयान् भगवत** इति। लोकान् पर्यटतो भगवतस्तव सतः भूयानेव गुणो भवतीत्यर्थः। अतः सर्वलोकहितार्थ परिभ्रमणमित्यर्थः। **अनेन तस्य स्तुतिरुक्ता ॥३५॥**

व्याख्यार्थ—सर्व लोकों में जाने के अधिकारी के तीनों लोक गृह हैं, उससे कुशल प्रश्न ही करना योग्य है और वह स्तुति रूप होता है। 'अपि स्वित्' इस पद से सन्देह की गर्भित सम्भावना जानने में आती है, राजाओं के बन्धन सुनने से सन्देह होता है। 'अकुतोभयम्' पद का निगूढ आशय यह है कि अन्य किसी से भय नहीं है, किन्तु केवल अपना अज्ञान होने से ही भय है। लोकेश्वर भ्रमण कैसे करते है ? इसके उत्तर में कहते है कि लोकों में भगवान् के भ्रमण होने से बड़ा गुण है अर्थात् लाभ है कारण कि इनका भ्रमण सर्व लोकों के हित के लिए है, यों कहने से उनकी स्तुति कही है ॥३५॥

आभास—प्रकृतोपयोगिकार्यं प्रष्टुं तस्य ज्ञानमाह **न हि तेऽविदितं किञ्चिदिति।**

आभासार्थ—प्रकृतोपयोगी कार्य के पूछने के लिए उसका ज्ञान 'न हि ते' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**न हि तेऽविदितं किञ्चिल्लोकेष्वीश्वरकर्तृषु।**
अथ पृच्छामहे युष्मान्पाण्डवानां चिकीर्षितम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—ईश्वर के बनाए हुए लोकों में जो कुछ है, वह आप से गुप्त नहीं है, इसलिए पाण्डवों की क्या इच्छा है ? वह आप से पूछते हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—अयं हीश्वरस्येच्छाशक्तेराधिभौतिकरूपः, यावद्भगवानिच्छति, करोति च, तत्सर्वमस्य विदितम्। **ईश्वर इति। मूलभूतः** काल इति विमर्शः। अत ईश्वरेच्छया पाण्डवानां यच्चिकीर्षितम्, तत्तव विदितमेवेति युष्मान् पृच्छामहे। हे **आयुष्मन्निति** वा। **अथशब्दो** हेत्वर्थः आनन्तर्यपर्यायः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—यह नारद, ईश्वर की इच्छा शक्ति का आधिभौतिक रूप है, भगवान् जो चाहते हैं और करते हैं, वह सब इनको मालूम है; क्योंकि 'ईश्वर' हैं, मूलभूत काल है, यों विमर्श है, अतः ईश्वर की इच्छा से पाण्डव जो करना चाहते हैं, वह आपको मालूम ही है, इसलिए आपसे हम पूछते हैं अथवा हे आयुष्मन् ! यों पाठ समझना। 'अथ' शब्द यहाँ हेतु अर्थ में है वा आनन्तर्य का पर्यायवाची है ॥३६॥

आभास—भगवत्कृतं कायिकं वाचनिकं च तथा नोचितमिति, कदाचिदुपस्थितमन्यथा कुर्यादिति, तन्निराकरणार्थं मायाभावं प्रार्थयते दृष्टा मयेति त्रिभिः।

आभासार्थ—भगवान् ने जो कायिक और वाचनिक जिस प्रकार किया, वह उचित नही, यों कदाचित् उपस्थित भगवत्प्रश्न मेरा जन अन्य प्रकार से करे अर्थात् अनुचितत्व ज्ञान होने पर न कहे, भगवान् के किए हुए कार्य की अनुचितता का जो ज्ञान होता है, वह माया का कार्य है, इसलिए उस माया का अभाव हो, वैसी प्रार्थना 'दृष्टा' श्लोक से तीन श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—श्रीनारद उवाच–दृष्टा मया ते बहुशो दुरत्यया माया
विभो विश्वसृजश्च मायिनः।
भूतेषु भूमंश्चरतः स्वशक्तिभिर्वह्नेरिव
च्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम् ॥३७।

श्लोकार्थ—हे भूमन् ! आप, जो ब्रह्माजी को भी मोहित करने वाले और अपनी शक्तियों से प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से जैसे काष्ठ में अग्नि प्रकाश को छिपाकर विचरण करती है, वैसे आप भी तेज को छिपाकर विचरण कर रहे हैं, अतः यों प्रश्न करना मेरे लिए किसी प्रकार अद्भुत नहीं है ॥३७॥

सुबोधिनी—अनेकधा सर्वजनव्यामोहिकाः बहुधा प्रवर्तमाना मया दृष्टाः। तत्र स्वाज्ञानप्रकटनेन हीनभावप्रकटनेन च केवलमेकस्य मम व्यामोहनं किमाश्चर्यमिति वाक्यार्थः। मायायाः स्वरूपज्ञानमेवात्यययोतिक्रमः। तद्भगवन्मायासु न कस्यापि भवतीति दुरत्ययाः। वस्तुव्यभिचारे सकृदवगते पुनः प्रदर्शिता माया ज्ञाता भवतीति शङ्कां वारयितुं बहुश इत्युक्तम्। एका सहस्रधा प्रदर्शितापि न बुध्यत इति। एवं करणे सामर्थ्यमाह विभो इति। प्रयोजनमाह विश्वसृज इति। मायया जीवव्यामोहाभावे विश्वोत्पत्तिर्न स्यात्। चकारात्स्थितिप्रलयौ। किञ्च। मायी भगवान्, मायानामेक एवाश्रयः, तासामप्रदर्शने प्रचार एव न स्यादित्यावश्यकत्वमुक्तम्। किञ्च। मायानामप्रकटीकरणे महत्त्वे वानुपपत्तिरित्यभिप्रायेणाह भूतेषु भूमंश्चरत इति। चरणावश्यकत्वाय संबोधनम्। सकलभूतसम्बन्धो हि भूमा। तद्गतदोषसम्बन्धाभावाय स्वशक्तिभिरित्यसाधारणसामर्थ्यं। अन्यथाभिमानमात्रे जीवे सर्वावस्थाः प्रवृत्तयश्च न भवेयुः। ननु भगवतः सर्वे गुणाः सर्वत्र प्रसिद्धाः, मायागुणाः क्व प्रसिद्ध इत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह वह्नेरिव छन्नरुच इति। वह्निर्जलादौ

प्रविष्टः स्वकार्यं कुर्वन्नपि छन्नरुग्भवति । रूप-स्पर्शयोर्मध्ये अन्यतरप्राकट्यं ज्ञातधर्मस्य मायया विना न सम्भवतीति वह्नेः प्रथमोत्पन्नस्य स्व-धर्मः प्रकट इत्यर्थः । यस्तु भगवतो माहात्म्यं जीवेषु समत्वादिकं च पश्यति, तस्य विरुद्धधर्म-दर्शनादद्भुतज्ञानं भवति । मम तु दर्शनेऽपि सिद्धान्तार्थपरिज्ञानान्नाद्भुतं आश्चर्यज्ञानजनकं न भवतीत्यर्थः । इममेवार्थं पुरस्कृत्य मायया विरोधसमाधानमिति वाक्यं भ्रमादन्यथा कैश्चि-द्योजितम् । ३७।।

व्याख्यार्थ—नारदजी कहते हैं कि मैंने जहाँ अनेक प्रकार सर्व जनों को मोहित करने वाली, विविध प्रकार से प्रवृत्त हुई आपकी मायाएँ देखी हैं, वहाँ अपने अज्ञान प्रकट करने से और हीन भाव प्रकट करने से, केवल अकेले मुझको मोहित करना, इसमें मुझे कौनसा आश्चर्य होगा ? यों वाक्यार्थ है । माया के स्वरूप का ज्ञान ही उसका अतिक्रमण करना है । भगवन्मायाओं का वह स्वरूप ज्ञान किसी को भी नहीं होता है, इसलिए मायाएँ दुरत्यय हैं अर्थात् उनका अतिक्रमण कर पार पहुँच जाना कठिन है । यदि कहो कि वस्तु का व्यभिचार करने से देखने में आई माया को एक वार समझा जावे, तो माया के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, इस प्रकार की शङ्का को मिटाने के लिए 'बहुशः' एक, हजार प्रकार से वा हजार वार दिखाई हुई भी समझ में नही आती है, यों करने में सामर्थ्य है, जिसको कहते है कि 'विभो' आप सर्व प्रकार सामर्थ्यवान है, प्रयोजन कहते हैं, 'विश्वसृजः' आप विश्व को रचते हैं, यदि माया से जीव व्यामोह में न पड़े तो विश्व की उत्पत्ति ही न हो सके । 'च' पद से विश्व की स्थिति और प्रलय भी कही है, 'किञ्च' और विशेष भगवान् मायी हैं, मायाओं के एक आप ही आश्रय स्थान है, उन मायाओं का यदि प्रदर्शन न किया जाय तो प्रचार ही न हो सके, इसलिए यों करना आवश्यक कहा है, मायाओं के प्रकट न कर दिखाने में महत्व की उत्पत्ति नहीं होगी, इस अभिप्राय से कहा है । 'भूतेषु भूमंश्चरत' चरण की आवश्यकता सिद्ध करने के लिए भूमन् ! यह पद सम्बोधन में कहा है, समस्त भूतों में जिसका सम्बन्ध है, ऐसा भूमा है अर्थात् भूत मात्र से उसका सम्बन्ध है, यदि भूतों से सम्बन्ध वाला भूमा है, तो उनके दोष भूमा में आ गए होंगे, उनके दोषों का सम्बन्ध भूमा से नहीं है यह जताने के लिए कहा है कि 'स्वशक्तिभिः' अपनी असाधारण शक्तियों के होने से दोषों का सम्बन्ध नहीं होता है, अन्यथा का तात्पर्य 'अभिमान मात्रे' पद है, सचमुच भूतों में 'चरण' नहीं है, किन्तु केवल अभिमान है, ऐसे जीव में सर्व प्रकार की अवस्थाएँ और प्रवृत्तियाँ नहीं होनी चाहिए, भगवान् सर्वगुण सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, मायागुण कहाँ प्रसिद्ध है ? अर्थात् प्रसिद्ध नहीं है, इस शङ्का को मिटाने के लिए दृष्टान्त देते हैं । 'वह्नेरिवच्छन्न रुचः' जैसे अग्नि उष्ण जल आदि में प्रविष्ट होकर अपना कार्य धूम्र आदि करती हुई भी प्रकट देखने में नहीं आती है तथा अग्नि से जल उत्पन्न होने से जल अग्नि का कार्य है अर्थात् धर्म है, उस धर्म रूप जल से अग्नि छादित है, जिससे देखने में नहीं आतो है, वैसे भगवान् सबको प्रकाशित करते हुए भी स्वयं अपनी शक्ति माया से अपने स्वरूप को छिपा देते हैं, जिससे मायागुण की प्रसिद्धि है, अग्नि के धर्म, रूप और स्पर्श को जानने वाले पुरुष के आगे वह्नि का रूप और वायु के मिलाप से आया हुआ स्पर्श, इन दोनों में से जैसे एक स्पर्श का ही प्राकट्य होता है, वैसे ही जल की भाँति माया ने ही भगवान् के स्वरूप का आच्छादन किया है । इस माया गुण से ही माया की प्रपञ्च में प्रसिद्धि हुई है । जो मनुष्य जीवों में समानतादि भगवान् के माहात्म्य को देखता है, उस-को विरुद्ध धर्मों के दर्शन से अद्भुत ज्ञान होता है, मुझे दर्शन में भी सिद्धान्त के तत्वज्ञान होने से,

न कुछ अद्भुत वा आश्चर्य ज्ञानजनक देखने में आता है, इसी अर्थ को आगे कर माया से विरोध का समाधान है, इस प्रकार के वाक्य को किसी ने भ्रम से अन्य प्रकार से लगाया है ॥३७॥

आभास—नन्वद्भुतकर्मा भगवान्. कथं तस्य चरित्रदर्शनेनाश्चर्यमिति चेत्, तत्राह तवेहितं कोऽर्हतीति ।

आभासार्थ—भगवान् अद्भुत कर्म करने वाले है, तब उनके चरित्र दर्शन से आश्चर्य कैसे ? यदि यों कहो तो 'तवेहित' श्लोक से इसका उत्तर देते हैं।

श्लोक—तवेहितं कोऽर्हति साधु वेदितुं स्वमाययेदं सृजतो नियच्छत ।
यद्विद्यमानात्मतयावभासते तस्मै नमस्ते स्वविलक्षणात्मने ॥३८॥

श्लोकार्थ—अपनी कर्तृत्वादि माया शक्ति से जगत् को उत्पन्न कर फिर अपने में लीन करते हो, ऐसे आपकी क्या-२ करने की इच्छा है, जिसको कौन जानने के योग्य है? जो नहीं है, वह भी भास रहा है, वैसे विलक्षण स्वरूप वाले आपको मेरा प्रणाम है ॥३८॥

सुबोधिनी—इदमित्थतया चरित्रज्ञाने प्रतिनियतधर्मे च चरित्रे विरोधज्ञानादाश्चर्यं भवति । तदेव तु न सम्भवति, यतः को वा तवेहित साधु इदमित्थतया वेदितुमर्हति । तत्र हेतुः स्वमाययेदं सृजतो नियच्छत इति । मायाबहिर्भूतो हि वस्तुनो मायाया वा याथात्म्यं जानाति, विश्वमेव हि मायया सृजति, हरति, तस्मादिह लोके परलोके वा न कोऽपि तत्त्वं जानाति । ननु बाधितार्थत्वेन मायायास्तत्त्वं कुतो न ज्ञायत इति चेत्, तत्राह यद्विद्यमानात्मतयावसीयत इति । यदविद्यमानमपि विद्यमानात्मतया निश्चीयते । अतो ज्ञानाभावात्केवलं तस्मै ते नमः । जीवस्वरूपान्नमस्कारयोग्यत्वाय सर्ववैलक्षण्यमाह स्वविलक्षणात्मन इति । स्वत एव सर्वविलक्षणः आत्मा यस्येति ॥३८॥

व्याख्यार्थ—आपके चरित्र को, यह इस तरह है, जानने पर आपके जो नियत धर्म हैं, उनके भी जान लेने पर चरित्र और नियत धर्मो में विरोध देखने में आता है, जिससे आश्चर्य होता है, वह तो सम्भव ही नहीं है फिर भी जो विरोध समझा जाता है, उसका कारण यह है कि आप कौनसा चरित्र किस भाव से और किस लिए कर रहे हैं इस आपके हार्द को कोई जानने के योग्य नहीं है । जिसका कारण यह है कि अपनी माया से इस जगत् को रचते हो फिर लीन कर डालते हो । माया से जो बहिर्भूत है अर्थात् जिस पर माया का प्रभाव नहीं है, वह ही वस्तु के तथा माया के सच्चे स्वरूप को जानता है, दूसरा कोई नहीं; क्योंकि विश्व को ही माया से बनाते और हरण करते हो, इससे इस लोक और परलोक में कोई भी तत्व को नहीं जानता है । यदि कहो कि बाधितार्थ होने से माया का तत्व क्यों नहीं जाना जाता है ? इस पर कहते हैं कि जो विद्यमान नहीं है, वह भी विद्यमान आत्मपन से निश्चय किया जाता है । जैसे कि वास्तव में सर्व आत्मा है,

अन्य कुछ नहीं है तो भी अविद्यमान जो घटत्व है, उसका ही विद्यमानत्व निश्चय किया जाता है, अतः भगवान् के ज्ञानाभाव से इस प्रकार के भगवान् की स्थिति होने पर प्रपञ्च का हीनत्व कथन ही बाधितार्थ है, इस प्रकार के ज्ञानाभाव से आच्छादन करने वाला माया तत्व भी नहीं जाना जाता है. हममें ज्ञान का अभाव है, इसलिए हम वैसे आपको केवल नमस्कार ही करते हैं, आपका स्वरूप स्वतः ही सर्व विलक्षण है, जिससे जीव स्वरूप हम आपको नमस्कार करने के ही योग्य है ॥३८॥

आभास—नन्वेवं सति भगवाननर्थहेतुः कथं सेव्य इति चेत्, तत्राह **जीवस्येति** ।

आभासार्थ—यदि यों है तो अनर्थ के हेतु भगवान् कैसे सेवन के योग्य हैं ? इसका उत्तर 'जीवस्य' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—जीवस्य यः संसरतो विमोक्षणं न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः ।
लीलावतारैः स्वयशःप्रदीपकं प्राज्वालयत्त्वा तमहं प्रपद्ये ॥३९॥

श्लोकार्थ—अनर्थ रूप शरीरों को ग्रहण कर संसार में विचरण करता हुआ जीव संसार से कैसे छूटे, इसको नहीं जान सकता, यदि आप लीलावतारों से प्रकट होकर अपना यश रूप दीपक प्रज्वलित कर अज्ञानान्धकार मिटा कर शरण मार्ग न दिखाते, वैसे जो आप दयालु हैं, उनकी हम शरण आए हैं ॥३९॥

सुबोधिनी—यः स्वयशःप्रदीपकं प्राज्वालयत्, तं त्वामहं प्रपद्य इति सम्बन्धः । तदा भगवाननर्थहेतुः स्यात्, यद्यनन्तं संसारं सृजेत्, द्वाराभावं वा सर्वथाऽज्ञानं वा । प्रत्युत सर्वपदार्थज्ञानाय स्वयशःप्रदीपकं वेदपुराणेषु प्रसिद्धमवतारं गृहीत्वा प्राज्वालयत् । अन्यथा शब्दैकनिष्ठस्य न कदापि धर्मः प्रसिद्धो भवेत् । भगवन्मायान्धकारे यश एव प्रदीपो भवति, न ज्ञानादि, 'ज्ञानकाशये'ति वाक्यात् । प्रज्वालनहेतवोऽपि न दुःखसम्पाद्याः, किन्तु लीलावताराः । तत्प्रपन्नायैव प्रज्वालयतीति तं त्वामहं प्रपद्ये ॥३९॥

व्याख्यार्थ—जिसने अपने यश रूप दीपक जलाये हैं, उस आपकी शरण मैं ले रहा हूँ, यों सम्बन्ध है । भगवान् अनर्थ के हेतु तब बने, जब अनन्त संसार को रचे, किन्तु उनसे छूटने का द्वार न रखे अथवा सर्वथा अज्ञान ही रहे । बल्कि आपने तो उनसे छूटने के लिए, सर्व पदार्थों का जैसे सच्चा ज्ञान हो जावे, इसके लिए वेद और पुराणों में प्रसिद्ध लीलावतार धारण कर अपना यश रूप दीपक जला दिया है, जिस प्रकाश से जीव का अज्ञानान्धकार मिट जाता है । जीव बिना क्लेश शरण लेकर संसार से पार हो जाता है । यदि आप (भगवान्) यों कृपा कर न करते तो शब्द मात्र में निष्ठा वाले को कभी भी धर्म सिद्ध न होता । भगवान् के मायान्धकार का नाश करने के लिए यश ही दीपक है, न ज्ञान आदि । 'ज्ञानकाशया' इस वाक्य से दीपक प्रज्वलित करने वाले कारण भी दुःख से सम्पादन करने योग्य नहीं अर्थात् वे भी सरल है; क्योंकि वे 'लीलावतार' है, उनकी

शरण जाते ही वे यश दीपक स्वतः प्रकाश दे देते हैं, इसलिए ऐसे आपकी शरण में आया हूँ ।।३६।।

आभास—अतो यद्यपि ज्ञात्वैव व्यामोहार्थमज्ञाननाट्यं करोषि, तथापि पृष्टेर्थे उत्तरं दास्ये इत्याह **अथापीति** ।

आभासार्थ— अतः यद्यपि जानकर ही अज्ञान का नाट्य करते हैं तो भी जो आपने प्रश्न किया है, उसका उत्तर दूँगा, यों 'अथापि' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**अथाप्याश्रावये ब्रह्मन् नरलोकविडम्बनम् ।**
राज्ञः पैतृष्वस्रेयस्य भक्तस्य च चिकीर्षितम् ।।४०।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! यद्यपि आप मनुष्य नाट्य दिखा रहे हैं, तो भी आपकी बूआ (भूवा) के बेटे एवं आपके भक्त राजा युधिष्ठिर की इच्छा को सुनाऊँगा ।।४०।।

सुबोधिनी— भूमन्निति । तवात्मसङ्गोपनमावश्यकमिति । कथने हेतुः ब्रह्मन्निति । वेदवत्तवाज्ञा सर्वैरेव कर्तुं शक्येति सूचितम् । यदस्मत्सन्तोषार्थं लोककुशलं पृष्टम्, तस्य स्तुतिपरत्वात्तत्रोत्तरं न दास्यामि, किन्तु पैतृष्वस्रेयस्य युधिष्ठिरस्य चिकीर्षितमाश्रावयिष्ये । राज्ञो हि चिकीर्षितं प्रजानां हितकारि भवति,बन्धोर्बन्धूनां भक्तस्य भगवतः चकारात्सर्वेषां हितकारि गुणवतः ।।४०।।

व्याख्यार्थ—आपको अपने को छिपाना आवश्यक है; क्योंकि आप 'ब्रह्म' हैं, यों कहने से यह सूचित किया कि वेद की तरह आपकी आज्ञा सबको माननी चाहिए । आपने जो मुझ से लोक कुशल पूछा, वह मेरे सन्तोष करने के लिए पूछा है और वह स्तुति परायण है, अतः उसका उत्तर न दूँगा, किन्तु आपके भक्त तथा बूआ के बेटे राजा युधिष्ठर की क्या करने की इच्छा है, वह बताऊँगा, राजा जो करना चाहता है, वह कार्य प्रजाओं का हित करने वाला होता है, बन्धु जो करना चाहता है, वह बान्धवों का हितकारी होता है, भक्त जो करना चाहता है, वह भगवान् का हितकारी होता है । 'च' पद से यह जताया है कि भगवान् जो करना चाहते हैं, वह सबका हितकारी होता है ।।४०।।

आभास—तदेवाह **यक्ष्यतीति** ।

आभासार्थ—जो युधिष्ठर करना चाहता है, वह 'यक्ष्यति' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः ।**
पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद्भवाननुमोदताम् ।।४१।।

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर पारमेष्ठ्य सम्पत्ति प्राप्त करने की इच्छा से राजसूय यज्ञ से आपका यजन करना चाहता है, उसका आप अनुमोदन करो ।।४१।।

सुबोधिनी—त्रिधा हि यज्ञकृतिः, फलार्था भौतिकी, शुद्धयर्थाध्यात्मिकी, भगवदर्थाधिदैविकीति । 'यज्ञेन यज्ञमयजन्ते'ति श्रुत्या सैव निरूपिता । तत्र प्रतिबन्धकनिवृत्तिः भगवतैव कर्तव्या, इज्यान्तराभावादित्यभिप्रेत्याह त्वां यक्ष्यतीति । 'यज्ञो वै मख' इति श्रुतेः । आधिदैविक एव यज्ञो मखो भवति । प्रकरणवशात् क्षत्रियस्य राजसूयादन्यः यज्ञः श्रेष्ठो नास्तीति । उपरतानां क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामेव दीर्घसत्रेष्वधिकारात् । महति च बहवो विघ्नाः । पाण्डव इति पण्डुवाक्यात् अवश्यकर्तव्यत्वम् । भगवान् सर्वभावेन सेव्यः प्राणिना (तदा), यदा कदाचित् तादृशी सेवा नियतकालसाधनसम्पत्तौ भवति । सा सम्पत्तिः परमेष्ठिन एव, नान्यस्य इति पारमेष्ठ्यकामः । अन्तस्तथा सेवायामनधिकारमाह नृपतिरिति । तत्रेज्यानुमतिः प्रयोजिका, तदभावे तोषाभावात् । देवतातः फलमिति पक्षे न फलं कर्मणः । कर्मणः फलमित्यपि पक्षे देवताप्रीतिः साधनत्वेन सिद्धेति तदभावे न फलम् । 'तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयती'ति श्रुतेः । अतः पूजायां पूज्यानुमोदनमावश्यकमिति भवाननुमोदताम् । इदमनुमोदनं समीपे स्थित्वा । पूजापूज्ययोः देशान्यत्वासम्भवात् । अनेनैव यशः स्वर्गहेतुभूतमन्तःकरणशुद्धिश्च भविष्यतः ।।४१।।

व्याख्यार्थ—यज्ञ तीन कार्यो के लिए होता है, इसलिए उसकी 'कृति' तीन प्रकार की है, जो यज्ञ फल की कामना से किया जाता है, वह भौतिक 'कृति' है, जो अन्तःकरणादि की शुद्धि के लिए किया जाता है, आध्यात्मिकी 'कृति' है और जो निष्काम भगवदर्थ किया जाता है, वह 'आधिदैविकी' कृति है । 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' श्रुति से वह आधिदैविकी कृति का वर्णन किया है, उसमें यदि कोई प्रतिवन्ध करने वाला होता है तो उसका निवारण भगवान् ही करते हैं, यह यज्ञ किसी प्रकार दूसरा नहीं है, इसमें आपको ही पूजेगा; क्योंकि 'यज्ञो वै मखः' इस श्रुत्यनुसार आधिदैविक यज्ञ ही 'मख' है, प्रकरण वश क्षत्रिय के लिए राजसूय से श्रेष्ठ दूसरा कोई यज्ञ नहीं है, संसार में उपरत क्षत्रियों का और ब्राह्मणों का ही लम्बे समय में होने वाले बड़े यज्ञों में अधिकार है और बड़े यज्ञों में बहुत विघ्न पड़ते है, यदि यों है तो क्यों करते हैं ? जिसका उत्तर देते है कि 'पाण्डवः' पण्डु वाक्य कहकर बताया है कि इनका अवश्य कर्त्तव्य है, भगवान् प्राणी से सर्व भाव से सेवा के योग्य हैं, किन्तु वैसी सेवा कदाचित् बन सकती है, जब नियत काल में साधन सम्पत्ति हो, तब अवश्य करनी चाहिए, वह सम्पत्ति परमेष्ठी की ही है, न अन्य की । अतः उसकी कामना वाला है, उस सम्पत्ति की प्राप्ति से ही नित्य सेवा पूर्ण रीति से हो सकेगी ।

वैसे अन्तः सेवा में अनधिकार है; क्योंकि राजा है, इसलिए यज्ञ करने की सम्मति प्रयोजिका है, सम्मति के अभाव में प्रसन्नता न होगी, फल देवता से मिलेगा, इस पक्ष में कर्म का फल नहीं, कर्म का फल है इस पक्ष में देवता की प्रीति साधनपन से सिद्ध होगी, इसलिए उसके अभाव में फल की प्राप्ति नहीं । 'तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति' इस श्रुति के अनुसार प्रसन्न हुआ इन्द्र इस यज्ञ करने वाले को सब तरह समृद्ध कर प्रसन्न करता है, अतः पूजा करने के लिए पूज्य का अनुमोदन आवश्यक है, इसलिए आप अनुमोदन कीजिए, यह अनुमोदन भी समीप में स्थित होकर कीजिए, पूजा और पूज्य दोनों का दूसरा

देश होना असम्भव होने से, इससे ही स्वर्ग का हेतुभूत यश और अन्तःकरण की शुद्धि दोनों होंगे ॥४१॥

आभास—अत एकेनैव त्रैविध्यमपि सेत्स्यतीत्यभिप्रायेणाह **तस्मिन् देव** इति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—अत. एक से ही तीन प्रकार के कार्य सिद्ध होंगे, इस अभिप्राय को 'तस्मिन्' श्लोक मे प्रकट करते है ।

श्लोक—**तस्मिन् देव क्रतुवरे भवन्तं वै सुरादयः ।**
दिदृक्षवः समेष्यन्ति राजानश्च यशस्विनः ॥४२॥

श्लोकार्थ—हे देव ! इस उत्तम यज्ञ में देवों और यशस्वी राजागण आपके दर्शन करने की इच्छा से आएँगे ॥४२।

सुबोधिनी—कीर्तिर्लोकद्वये राजभिर्देवैश्च भवति । तत्र यद्यपि भागाभावात् यागार्थं देवानामनागमनेऽपि त्वां दिदृक्षवः समेष्यन्ति । राजानश्च स्पर्धिनोऽपि । कौतुकार्थमागमने तु न यश इति । देवेति सम्बोधनम् । क्रतुवरे यथा महोत्सवे देवदर्शनं महोत्सवकर्तुर्यशस्करं भवति। यशस्विन इति । तेषामपि यशोऽत्र मिलितं भवतीत्युक्तं भवति । आदिशब्देन सिद्धादयोऽपि ॥

व्याख्यार्थ—दोनों लोकों में देवता और राजाओं द्वारा यश होता है । वहाँ यद्यपि यज्ञ में देवों का भाग न होने से वे नहीं आवेंगे, तो भी अन्य देखने की इच्छा वाले तो आएँगे, राजा लोग ईर्ष्या (डाह) व क्रोध वाले होते हैं, तो भी कौतुक के लिए आवेंगे, यद्यपि इस प्रकार आने में यश नही है । देव ! यह सम्बोधन है, जैसे महान् उत्सव करने वाले का, महोत्सव में देव दर्शन, यश करने वाला होता है अर्थात् यदि कोई भक्त भगवान् के यहाँ अन्नकूट आदि महोत्सव कराता है तो दर्शनार्थी भगवद्दर्शन के लिए आते हैं । दर्शन करते हुए उत्सव कराने वाले का यशोगान करते है एवं यहाँ उत्तम यज्ञ में जो दर्शनार्थ आवेंगे, वे आपका दर्शन कर, प्रसन्न हो यज्ञ कराने वाले युधिष्ठिरजी का यशोगान करेंगे, उनका भी यश यहाँ मिला हुआ होता है, यों कहा हुआ है । 'आदि' शब्द से सिद्ध आदि भी समझने चाहिए ॥४२॥

आभास—प्रसङ्गादेव शुद्धिमप्याह **श्रवणादिति** ।

आभासार्थ—प्रसङ्ग से ही 'श्रवणात्' श्लोक से शुद्धि भी कहते है ।

श्लोक—**श्रवणात्कीर्तनाद्ध्यानात्पूयन्तेऽन्तेवसायिनः ।**
तव ब्रह्ममयस्येश किमुतेक्षाभिमर्शिनः ॥४३॥

श्लोकार्थ—हे ईश ! जिसके ध्यान, कीर्तन और श्रवण से चाण्डाल भी पवित्र होते हैं, वैसे ब्रह्ममय आपके साक्षात् दर्शन और स्पर्श करने वालों के लिए शेष क्या बचेगा ? अर्थात् उन्होंने सब पाया ॥४३॥

सुबोधिनी—प्रमाणवले आदौ श्रवणकीर्तनस्मरणान्येवोक्तानि । ध्यानमेकाग्रतया स्मरणम्। एवं भक्ता एव कर्मत्यागादिभिः तथात्वमापन्नाः पूर्ववासनया श्रवणादिना तद्दोषं परिहरन्तीति केचित् । अन्यथाप्यन्तेवसायिनां श्रवणादिसम्भवे तादृशजन्मसम्पादकदोषनाशक इति विमर्शः । तवेति सम्मत्यर्थं युष्मच्छब्दप्रयोगः । प्राकृतबुद्धया श्रवणादौ मर्यादाभक्तानां मते प्रमेयवलाभावात् न फलम् । अन्यथा सर्वेषामेव नाम्नां भगवद्वाचकत्वात् कस्यापि वन्धो न स्यात् । तत आह **ब्रह्ममयस्येति** । ब्रह्मप्रचुरस्य परमानन्दमूर्तेः सच्चिद्रूपप्राचुर्यात् सर्ववेदमयस्य वा । ईशेति । शुद्धौ सामर्थ्यम् । ईक्षाभिमर्शनं प्रमेयबलम् । साक्षात्कारसम्बन्धौ हि फलरूपाविति तत्सिद्धौ साधनसिद्धिर्नान्तरीयकेति कैमुतिकन्यायेनाह किमुतेति । अन्तेवसाय्यिव्यावृत्त्यर्थमीक्षाभिमर्शयोः सहप्रयोगः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—प्रमाण बल जहाँ है, वहाँ प्रथम श्रवण, कीर्तन और स्मरण कहे हैं, एकाग्रचित होकर जो स्मरण किया जाता है, उसको ध्यान कहते हैं, इस प्रकार भक्त ही कर्म त्याग आदि से वैसे पन को प्राप्त हुए, इस प्रकार ध्यान किया । पूर्व वासना से श्रवणादि किया, जिससे उसके दोष को नष्ट करते हैं, यों कोई कहते हैं । अन्य प्रकार से चाण्डाल आदि को भी श्रवणादि का सम्भव होने पर, उस प्रकार (चाण्डालादि) के जन्म को देने वाला दोष नाश होता है । 'तव' यह युष्मत् का प्रयोग आपकी सम्मति के लिए है, मर्यादा भक्तों के मत में प्रमेय बल नहीं है, इसलिए वे मानते हैं कि प्राकृत वुद्धि से श्रवण आदि करने का कोई फल नहीं है, यदि तो भी फल माना जायगा तो सब नाम भगवद्वाचक है, अतः हरएक कोई न कोई नाम सर्वदा लेता रहना है, अतः सबका मोक्ष हो जायगा, किसी का भी वन्ध न होगा, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'ब्रह्ममयस्य' ब्रह्म प्रचुर परमानन्द स्वरूप सच्चिदानन्द रूप और सर्व वेदमय आपके नाम लेने से वन्ध का नाश, आनन्द की प्राप्ति होती है, आपके दर्शन को, शुद्धि करने की सामर्थ्य है, दर्शन और विचार यह प्रमेय बल है, साक्षात्कार और सम्बन्ध ये दोनों फल रूप हैं, उनके सिद्ध हो जाने से साधन सिद्धि अन्तरीय की नहीं होती है, यह कैमुतिक न्याय से है, अतः कहते हैं 'किमुत' चाण्डाल आदि की व्यावृत्ति के लिए ईक्षा और अभिमर्श का साथ में प्रयोग किया है ॥४३॥

आभास—भगवद्दर्शनादेः शोधकत्वं कैमुतिकन्यायेन वक्तुं चरणोदकस्य माहात्म्यमाह **यस्यामलमिति** ।

आभासार्थ—भगवद्दर्शन स्पर्श पवित्र करने वाले हैं, जिसको कैमुतिक न्याय से सिद्ध करने के लिए, चरणोदक का माहात्म्य 'यस्यामलं' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक--यस्यामलं दिवि यशः प्रथितं रसायां
भूमौ च ते भुवनमङ्गल दिग्वितानम् ।
मन्दाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो
गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम् ।।४४।।

श्लोकार्थ--हे भुवन मङ्गल ! आपका निर्मल यश स्वर्ग और सर्व दिशाओं को पवित्र करता है तथा आपका चरण जल आकाश में मन्दाकिनी रूप से, रसातल में भोगवती रूप से एवं पृथ्वी में गङ्गा रूप से तीन लोक को पवित्र करता है ।।४४।।

सुबोधिनी—भगवत. कीर्तिद्वय तीर्थरूप चरणद्वयान्निर्गत भक्तानां हितार्थम् । तत्रैकममल यशः दिवि । रसायां भूमौ च प्रथितम् । सर्वाणि कर्माणि दोषसहितानीति 'सर्वारम्भा हि दोषेणे'ति वाक्यादवगत्याह अमलमिति । सन्नियोगशिष्टदोषरहितगुणत्वाद्भगवतः । अतो भगवान् सर्वभुवनेषु मङ्गलरूपः, भुवनमङ्गलत्वाद्वा । तत्रत्यानां यशोगानं लोकत्रयेऽपि । प्रान्तभावेषु तदभावमाशङ्क्याह दिग्वितानमिति । दिशामाच्छादकम् । द्वितोयमाह मन्दाकिनीति । दिवि मन्दाकिनी, अधो भोगवती, पृथिव्यां गङ्गेति चरणाम्बु कमण्डलुसम्भूतं विश्वं पुनाति ।।४४।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के दो चरणों से निकले हुए दो तीर्थ है, एक यश रूप और दूसरा जल रूप, वे दोनों ही भक्तों के हित करने के लिए निकले हैं । उनमें से एक पवित्र निर्मल यश आकाश अर्थात् 'स्वर्ग' में है और दूसरा पृथ्वी पर है । 'सर्वारम्भा हि दोषेण' इस वाक्यानुसार सर्व कर्म दोष वाले हैं, यों माना जाता है, किन्तु भगवान का यह 'तीर्थ द्वय' वैसा नहीं है, किन्तु निर्दोष स्वच्छ है; क्योंकि भगवान् निर्दोष हैं । इसलिए उनके वे गुण रूप भी निर्दोष हैं, अतः भगवान् समस्त भुवनों में मङ्गल रूप हैं अथवा भुवनों के मङ्गल रूप होने से वहाँ वालों का तीनों लोकों में यशोगान हो रहा है, वह यश किन हिस्सों में होगा ? जिसके अभाव को दिखाते हैं कि 'न हि सर्वत्र' है । यह बताने के लिए 'दिशामाच्छादकम्' कहा है अर्थात् यश से सब दिशाएँ आच्छादित हो गई है, अब दूसरे जल रूप को कहते हैं, स्वर्ग में मन्दाकिनी रूप से, नीचे भोगवती रूप से और भूमि पर गङ्गा रूप से व्याप्त है, चरणाम्बु रूप कमण्डलु से उत्पन्न यह तीर्थ रूप जल समग्र विश्व को पवित्र कर रहा है ।।४४।।

आभास—एवमुभयोर्दूतनारदयोः स्वस्वार्थ प्रार्थनायां यज्जातं तदाह तत्र तेष्विति ।

आभासार्थ--अब श्री शुकदेवजी, दूत और नारद दोनों ने जो-जो अपना-२ आशय प्रार्थना में कहा उसका वर्णन 'तत्र तेष्वात्म' श्लोक में करते है ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—तत्र तेष्वात्मपक्षेष्ववगृह्णत्सु विजिगीषया ।
वाचःपेशैः स्मयन्भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः ॥४५॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि दूत और नारद के वचनों को सुन लेने के बाद अब क्या करना चाहिए ? भगवान् की इच्छा तो युधिष्ठिर के यहाँ जाने की थी, किन्तु उद्धवजी यों न कहे, इसलिए चतुर वाणी से अपनी माया रूप स्मय प्रकट करते हुए उद्धवजी से पूछने लगे ॥४५।

सुबोधिनी—तत्र प्रसङ्गे अन्यतरदेशगमने । तेषु तत्रत्येषु सहायभूतेषु । विजिगीषया गृणत्सु सत्सु जरासन्धवधार्थमेव गन्तव्यमिति लौकिकबुद्धेः प्राथम्यात् नारदेष्टाकरणे सति । उभयसमाधानार्थं स्वस्य मध्यस्थत्वात् उभयमताभिज्ञं उद्धवं ब्रह्मशिवयोरपि नियन्ता सुखदाता च वचनोत्तमैः प्राह । स्मयेन तमपि मोहयन् वाङ्माधुर्यात्सादरं शृणुयात् । अन्यथा सर्वेश्वरत्वं जानातीति न शृणुयादपि । नारदहिताकरणे ब्रह्मपक्षहानिः, जरासन्धवधे महादेवपक्षनाश इति यज्ञार्थमेव गमनमायाति । अतोऽङ्गप्रधानयोर्विरोधे क्रीडा सुखदा न भवतीति तदभिज्ञमुद्धवं सर्वसम्मतं बोधयामास । ४५॥

व्याख्यार्थ—अब इस प्रसङ्ग में किस स्थान पर जावे तो प्रथम लौकिक बुद्धि से जरासन्ध के वध के लिए ही जाना चाहिए; क्योंकि अपने पक्ष वाले यादव उसको जीतना चाहते हैं । यों करने से नारदजी का इच्छित न होगा तो उनके पक्ष की हानि होगी एव जरासन्ध के मारने से महादेव के पक्ष की हानि होगी; क्योंकि जरासन्ध महादेव का भक्त है, इसलिए तो नारद का ही कहना करना चाहिए । दोनों पक्षों के समाधानार्थ उभय मतों के जानने वाले, उद्धवजी को अपना मध्यस्थ बनाकर ब्रह्मा और शिव का भी नियन्ता और सुखदाता प्रभु, मुसक्यान से उनको भी मोहित करते हुए मीठी और उत्तम वाणी से कहने लगे, जिससे वह आदर से सुने अन्यथा मेरे सर्वेश्वरत्व को जानता ही है, इसलिए न सुने, इसलिए मोहिनी स्मित एवं मधुर वाक्यों से कहने लगे, नारदजी का पक्ष न लेंगे तो ब्रह्म पक्ष की हानि होगी, जरासन्ध वध के लिए जावें तो इससे महादेव का पक्ष नाश होगा, इसलिए यज्ञ के लिए युधिष्ठर के यहाँ जाना ही योग्य जचता है, अतः अङ्ग और प्रधान के विरोध हो जाने पर क्रीड़ा सुख देने वाली नहीं होती है, इसलिए अभिज्ञ सर्व सम्मत उद्धवजी से सलाह लेने लगे ॥४५॥

आभास—भगवद्वाक्यमाह त्वं हि न इति ।

आभासार्थ—भगवान् के वचन 'त्वं हि नः' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—त्वं हि नः परमं चक्षुः सुहृन्मन्त्रार्थतत्त्ववित् ।
अथात्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दध्मः करवाम तत् ॥४६॥

श्लोकार्थ--भगवान् कहने लगे कि आप हमारे सुहृद और गुप्त विचारों को जानने वाले एवं नेत्र रूप हैं अर्थात् मार्ग दिखाने वाले हो, अब ये दो कार्य साथ-२ आ पड़े हैं, इनमें से हमको मुख्य कौनसा कार्य है, जो प्रथम मुझे ही करना चाहिए जैसे आप कहोगे, वैसे हम करेंगे ।।४६।।

सुबोधिनी—सर्वज्ञस्य स्वत एव ज्ञात्वा करणमुचितम्, तत्त्वसर्वज्ञस्य वाक्यात् । व्यामोहकत्वं वा स्यात् । अतस्तत्परिहारार्थमुद्धवं स्वावयवत्वेन निरूपयति त्वं नश्चक्षुरिति । आधिदैविक परमानन्दरूपम्, चक्षुषश्चक्षुर्वा । तस्यैवायमवतार इति । लोकोक्तिश्च 'मन्त्री ज्ञानचक्षु'रिति । अतो न इति बहुवचनम् । केवलं शास्त्रपरतां वारयितुमाह सुहृदिति । पर्यवसानज्ञानमाह । मन्त्रार्थस्य फलस्य तत्त्वं पर्यवसानं वेत्तीति । अथ अतः कारणादत्रार्थे अनुष्ठेयं ब्रूहि । उभये वयं श्रद्दध्मः । तदेव च करवाम । अन्यतरस्याप्यश्रद्धां करणाभावं च वारयति ॥४६॥

व्याख्यार्थ--सर्वज्ञ को तो स्वयं ही जानकर करना चाहिए न कि जो सर्वज्ञ नहीं है, उसके कहने से करना चाहिए । वह मोह में डालने वाला हो जावे, उद्धवजी इस प्रकार कहे, जिसके परिहार के लिए उद्धवजी को अपना अङ्ग बताते हैं कि आप मेरे नेत्र हैं, आधिदैविक परमानन्द रूप है । 'चक्षुषश्चक्षुर्वा' इस श्रुति से उनका ही यह अवतार है और लोकोक्ति भी है कि 'मन्त्री ज्ञानचक्षुः' मन्त्री ज्ञान रूप नेत्र हैं, आप मन्त्री हैं, इसलिए ज्ञान नेत्र हैं, अतः 'नः' यह बहुवचन दिया है, केवल शास्त्रीय विषय नहीं है, इसलिए कहते हैं कि आप हमारे सुहृद भी हैं एवं मन्त्र के अर्थ एवं फल के तत्व को जानते हो, इस कारण से इस विषय में जो उचित कर्त्तव्य है, वह कहिए, हमारी दोनों में श्रद्धा है, जो आप कहेंगे वह ही हम करेंगे, एक में भी अश्रद्धा और न करने का विचार नहीं है ॥४६॥

आभास--तत उद्धवो महामन्त्री तद्वाक्यममोहकं मत्वा उत्तरकथनार्थमुद्युक्त इत्याह इत्युपामन्त्रित इति ।

आभासार्थ—पश्चात् महामन्त्री उद्धव भगवान् के वचनों को मोहक न मानकर उत्तर देने के लिए तैयार हुए ।

श्लोक--श्रीशुक उवाच—**इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा सर्वज्ञेनापि मुग्धवत् ।**
निदेशं शिरसाधाय उद्धवः प्रत्यभाषत ॥४७॥

श्लोकार्थ--श्री शुकदेवजी ने कहा कि आप सर्वज्ञ होते हुए भी मुग्ध की

तरह उद्धवजी से पूछने लगे, स्वामी (भगवान्) की आज्ञा को शिरोधार्य कर उद्धवजी उत्तर देने लगे।।४७।।

सुबोधिनी—उद्धवो हि न युद्धादावुपदिश्यते, ज्ञानांशत्वात्। यदि ज्ञानेऽपि न विनियुज्येत, तस्य भरणं व्यर्थं स्यात्। एतत्सूचयति भर्त्रेति। दोषं निवारयति सर्वज्ञेनापीति। निदेशमाज्ञां प्रति शिरसा आधाय अभाषत अङ्गीकृतवान्, उत्तरं विचार्य वक्ष्यामीति उक्तवानित्यर्थः।।४७।।

व्याख्यार्थ—उद्धवजी ज्ञानांश होने से युद्ध आदि का उपदेश नहीं करते हैं, यदि ज्ञान में न जोड़े तो उसका भरण व्यर्थ हो जाय, इसका सूचन 'भर्त्रा' पद से करते हैं। 'सर्वज्ञेन' पद से दोष का निवारण करते हैं, इसलिए आज्ञा को शिरोधार्य कर कहने लगे कि विचार कर उत्तर दूँगा।।४७।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे एकविंशोध्यायः।।२१।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७०वें अध्याय, उत्तरार्ध २१ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय

प्रवान्तर प्रकरण का सातवाँ अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

"कैदी राजाओं के दूत का आना"

राग धनाश्री :—

नाथ और कासौं कहौं गरुड़गामी।
दीनबन्धु दयासिंधु असरन सरन,
सत्य सुख धाम सर्वज्ञ स्वामी॥

इहिं जरासंध मद अंध मम मान मथि,
बाधिं बिनु काज बल इहाँ आने।
किए अवरोध अति क्रोध गहि गिरिगुहा,
रहत भृंगि कीट ज्यौं त्रास माने॥

नाहिनैं नाथ जिय सोच धन धरनि कौ,
मरन तैं अधिक यह दुख सतावै।
भृत्य की रीति हम होत मागध सकल,
नाथ जिय दमत उद्वेग पावै॥

मधु कैटभ मथन मुर भौम केसी दलन,
कंस कुल काल अरु सालहारी।
जानि जग नृप भय भूप तद्रूपता,
बहुरि करि है कलुष भूमि भारी॥

बढत नृप दूत अनुभूत उर भीरुता,
सुनत हरि सूर सारथि बुलायौ।
भयै आरूढ तकि ताहि उत्तर दियौ,
जाहि सुधि देहु हौं यहै आयौ॥

※※